सन्धेया

मेरी धारणा थी कि भारतीय शिक्षाके क्रमिक इतिहासपर सुयोग्य अधिकारी विद्वानोंने अच्छे ग्रन्थोंका निर्माण कर ही डाला होगा, इसीलिये जिस ग्रन्थको सूत्र रूपसे निबद्ध करके मैं काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके शिक्षक-शिक्षण-महाविद्यालय (टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज)के शिष्याध्यापकोंको पढ़ानेमें प्रयोग करता रहा वह ग्रन्थ लिखित पुस्तकका वेष बदलकर 'एकोऽहं बहु स्याम' का सत्संकल्प करनेकी कामना ही न कर सका। अँगरेज़ीमें कई पुस्तकें ऐसी अवश्य थीं जिनके समन्वयसे भारतीय इतिहासका ज्ञान पूर्ण कर लिया जा सकता था किन्तु एक ही ग्रन्थ कोई ऐसा नहीं था जो आदिकालसे आजतककी समस्त शिक्षा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा योजनाओंका एक स्थानपर विवरण दे सके। अतः ऐसे ग्रन्थका अभाव अवश्य खटकता था जिसमें भारतीय शिक्षाकी गति-विधि जाननेके इच्छुक व्यक्तिको संपूर्ण आवश्यक सामग्री क्रमिक रूपसे संक्षेपमें प्राप्त हो जाय।

इस वर्ष उत्तर प्रदेशके टीचर्स-ट्रेनिंग कॉलेजमें शिक्षा देनेवाले कुछ प्राध्यापकों तथा शिष्याध्यापकोंने मुझसे आग्रह किया कि मैं इस ग्रंथको पुस्तक रूपमें प्रकाशित करा दूँ। अत. मैंने अपने शिष्य श्री अभय-नारायण मिश्रको प्रेरित किया कि वे गणेशका काम करें और मैं व्यासका। वे स्वयं इस वर्ष काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेजमें अध्ययन कर रहे हैं अतः उनके लिये भी यह योजना अधिक लाभकर प्रतीत हुई। निदान, यह ग्रन्थ लिखा जाने लगा और पूर्ण भी हो गया।

कई वर्षोंसे काशीके प्रसिद्ध प्रकाशक श्रीनन्दकिशोर बन्धुने भी आग्रह किया था कि मैं यह ग्रन्थ पूर्ण कर डालूँ और मैंने यह विचार भी किया कि अपने मित्र व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य पण्डित

कृष्णापति त्रिपाठी एम्० ए० (हिन्दी संस्कृत), बी० टी०के सहयोगसे इसे पूर्ण करूँ। इस सम्बन्धमें कुछ कार्य कृष्णापतिजीने किया भी और उसका कुछ अंश छपा भी किन्तु वह अधूरा ही रह गया। मैंने भी जितना अंश लिखा था उसकी पुस्ती (पाण्डु लिपि) ही लुप्त हो गई। अतः यह प्रयास मुझे पुनः नये सिरेसे आरंभ करके पूर्ण करना पड़ा।

इस ग्रन्थमें वैदिक शिक्षा और वर्णाश्रम धर्माचारका कुछ विशेष विवरण दिया गया है जिससे उस समाज व्यवस्थाका ज्ञान हो जाय जिसके संरक्षण और संवर्धनके लिये हमारी शिक्षा पद्धति व्यवस्थित की गई थी। वैदिक कालसे लेकर आजतक भारतकी सार्वजनिक शिक्षाके विकास और संवर्धनके लिये जितने सार्वजनिक या राज्यप्रेरित उपाय किए गए उन सबका विवरण उचित अनुपातसे इस ग्रंथमें दे दिया गया है। इस ग्रंथको पूर्ण बनानेमें यद्यपि पूरी सावधानी रक्खी गई है तथापि यह संभव है कि इसमें भूलसे या अज्ञानसे कहीं कोई त्रुटि या दोष प्रविष्ट हो गए हों या कुछ विषय छूट गए हों। जो सज्जन इस प्रकारके दोष सुझानेकी कृपा करेंगे उनका मैं अत्यन्त आभारी होऊँगा। मुझे विश्वास है कि भारतीय शिक्षाके इतिहासकी प्रत्येक जिज्ञासाका समाधान इस ग्रंथके द्वारा हो सकेगा।

वसन्त पञ्चमी,
संवत् २००९ वि०,
काशी

सीताराम चतुर्वेदी
२०-१-'५३

विषय-सूचिका

अध्याय पृष्ठ

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

भारतमें सार्वजनिक शिक्षाका इतिहास

१

वैदिक आर्य-जीवनके उद्देश्य

मानव धर्मशास्त्रके उपदेष्टा भगवान् मनुने जब यह कहा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने इस भूतलके समस्त मानवोंको अपने चरित्रकी शिक्षा दी।] तब उनका ध्वन्यर्थ यही था कि संसारकी समस्त ज्ञान-विद्याओंने सर्वप्रथम इसी भूमिपर अवतार लेकर हमारे देशको विद्या-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न तथा शील-सम्पन्न करके इतनी नैतिक समर्थता प्रदान कर दी कि उन विद्याओंका साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियोंने उनके आश्रयसे केवल अपना या अपने देशका ही कल्याण नहीं किया वरन् उस ज्ञानज्योतिके महादीपका प्रकाश देकर उन्होंने संपू’ तमसावृत मानव-समाजको असत्से सत्में, अन्धकारसे प्रकाशमें, मृत्युसे अमरतामें ला बैठाया। उन्हें कभी यह लोभ नहीं हुआ कि अखण्ड तपस्याके बलपर उन्होंने जो ज्ञानराशि एकत्र की है उसका उपभोग वे अकेले करें और शेष संसारके प्राणियोंको अन्धकारमें डाल-कर, उनकी मूर्खताका अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें बौद्धिक दासताके लौह-बन्धनमें बाँधकर, सदाके लिये निस्तेज, निर्वीर्य तथा निःशक्त बनाए रखकर उनसे अपनी सेवा कराते रहें। आर्योंने तामसी अथवा भौतिक

तत्वोंकी प्राप्ति या उनके संग्रहके लिये इन विद्याओंका प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपनी विद्या-शक्तिसे जहाँ एक ओर समाज और लोकके कल्याणके साधन एकत्र किए, वहीं उन्होंने अध्यात्म शक्तिके सचयमें भी पूर्ण शक्ति लगाकर परम तत्त्वके गूढ़तम, सूक्ष्मतम रहस्योंकी खोज करके अपना आध्यात्मिक वैभव इतना समृद्ध कर लिया कि संसारकी समस्त शक्तियाँ उसके सम्मुख नतमस्तक हो गईं।

कर्मवाद

वैदिक युगमें ही आर्योंने इहलौकिक और पारलौकिक तत्वोंका ज्ञान समन्वित करके यह सिद्धान्त निकाल लिया था कि संसारका प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। वह जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और वह फल उसे या तो इसी जन्ममें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस दूसरे जन्ममें यह आवश्यक नहीं है कि उसे मानव-शरीर प्राप्त हो ही। अण्डज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज—इन चार आकारोंमेंसे किसीके द्वारा वह चौरासी लाख योनियोंमेंसे किसीमें भी पड़ सकता है।

कर्म-चक्रसे मुक्ति

इस आवागमनके फेरसे मुक्त होनेके लिये ही आर्योंने तीन विधान किए—

१. सत्कर्म किए जायँ, अर्थात् धर्माचरण किया जाय।

२. ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म ही जलाकर भस्म कर दिए जायँ।

३ जो भी कर्म किया जाय, सब ईश्वरको अर्पण कर दिया जाय जिससे सुकर्म और कुकर्म, सबसे अपना पल्ला बचा रहे क्योंकि धर्माचरण - करनेमें भी यह बन्धन तो लगा ही हुआ था कि सत्कर्मोंका फल भोगनेके लिये मनुष्यको जन्म लेना ही पड़ेगा। इतना सिद्धान्त प्रतिपादित कर देनेपर भी वे यह भली भाँति जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करनेके फेरमें पड़ गया तो लोक-स्थिति या सामाजिक

जीवनमें संकट उपस्थित हो जायगा। इसलिये उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कर्म तो सभीको करना चाहिए, किन्तु कर्ममें लिप्त नहीं होना चाहिए। कर्मके परिणाममें अपनी बुद्धि और अपने मनको अलग या अमग रखना चाहिए। इतनी सब बातें विचारकर उन्होंने धर्मकी परिभाषा ही ऐसी बना दी जिसमें इहलोक और परलोक दोनोंके परम मोक्षका सुन्दर समन्वय हो सके। वैशेषिक दर्शनमें धर्मकी परिभाषा बताई गई—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

[जिससे इस लोकमें पूर्ण अभ्युदय या सौख्य मिले और परलोकमें मुक्ति प्राप्त हो वही धर्म है।]

तीन ऋण

आर्योंका यह भी अखण्ड तथा निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है—देव ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण।

देव ऋण

ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है। मनुष्य तथा प्राणियोंको सुख, जीवन और सुविधा देनेके लिये ईश्वरने जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है। इन सबके सहारे हमारा जीवन चलता और पलता है। यही देव ऋण हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। इससे उऋण होना ही चाहिए। किन्तु ईश्वरके साक्षात् दर्शन तो हो नहीं पाते इसलिये हम देव-शक्तियोंके निमित्त अन्न, आदिका दान तथा यज्ञ करके इस देव ऋणसे उऋण हो सकते हैं। किन्तु यज्ञ करनेके लिये, उसकी विधि, कर्मकाण्ड, वेद, वेदांग, शास्त्र और स्मृतिका ज्ञान भी होना चाहिए, क्योंकि मन्त्र पढ़नेमें यदि तनिक सी भी गड़बड़ी हुई कि वह मन्त्र ही उसे ले बीत सकता है। इसलिये इस सम्बन्धमें बड़ी सावधानीसे ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और ब्रह्मचर्याश्रमको अवश्य ही सिद्ध करना चाहिए।

पितृ ऋण

हमारे माता-पिताने हमें यह शरीर दिया है। हम केवल उनकी सेवा करके इस पितृ ऋणसे उऋण नहीं हो सकते। इस ऋणसे उऋण होनेके लिये हमारा यह धर्म है कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील, सदाचारकी कन्यासे शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें। इसका तात्पर्य यह है कि हमें गृहस्थ आश्रमका पालन करना चाहिए। इसके लिये हमें स्वस्थ शरीर चाहिए, गृहस्थी चलानेकी योग्यता चाहिए। इसके लिये भी तदनुकूल कामशास्त्रकी आवश्यक शिक्षा मिलनी चाहिए। बहुतसे लोग कामशास्त्रके सम्बन्धमें यह धारणा बनाए हुए हैं कि इसमें केवल विभिन्न मुद्राओं से विलासके अनेक आसन मात्र हैं। किन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं। उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे सब विधान और उपाय सुझाए गए हैं कि मनुष्य यथेष्ट शारीरिक भोग करते हुए भी अत्यन्त दीर्घायु और स्वस्थ बना रह सकता है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें कहा भी है कि मेरे कथनके अनुसार यदि कोई अपनी जीवन चर्या बना ले तो—

'आषोडशात्सप्ततिपर्यन्त कैशोरकम्।'

[सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक किशोरावस्था बनी रह सकती है।] अत पितृ ऋण चुकानेके लिये भी स्वस्थ शरीर, सत्स्वरूप और शुद्धाचरणकी आवश्यकता है ही। उसके लिये भी शिक्षा आवश्यक है।

ऋषि ऋण

हमारे जिन पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या, अपने अनुभव, प्रयोग तथा अध्ययनसे हमारे लिये ज्ञान संचित कर छोड़ा है उसका भी हमपर बड़ा भारी ऋण है। उस ऋणसे उऋण होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उनके छोड़े हुए ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ज्ञानदान करें। यह ज्ञानदान ब्रह्मचर्यकी अवस्थासे लेकर सन्यास आश्रमकी अवस्थातक निरन्तर चल सकता है। इसके लिये ज्ञान-संवर्धन करना तथा अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है और यों भी

अपना जीवन सफल, सरस, सुन्दर और मधुर बनानेके लिये शिक्षा तो अत्यन्त आवश्यक है ही।

अभ्युदय और तीन एषणाएँ

अभ्युदय या इहलौकिक सौख्यके रूपोंके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करके आर्योंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी सम्पूर्ण लौकिक चेष्टाएँ या तो धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये, या पुत्र प्राप्त करनेके लिये, या यश प्राप्त करनेके लिये होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओंको उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। इन्हींको हम दूसरे शब्दोंमें अर्थप्रवृत्ति, काम प्रवृत्ति और धर्म-प्रवृत्ति (या यश प्रवृत्ति) कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म-तत्त्वमें लीन हो जाना चाहते हैं या उसकी किसी व्यक्त विभूतिसे परम सान्निध्य या तन्मयत्व सिद्ध करना चाहते हैं। इसे हम मोक्षैषणा कह सकते हैं। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह निर्धारण किया कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है, यही उसका परम लक्ष्य है, यही उसका परम पौरुष और कर्त्तव्य है। इसलिये पुरुषार्थ-साधन ही आर्योंकी जीवन-पद्धतिका लक्ष्य बन गया।

२

वर्ण-व्यवस्था

जैसे सिर, हाथ, उदर, पैर आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं उसी प्रकार आर्योंने पूरी सृष्टिको, सब प्रकारके जड़ चेतन पदार्थोंको, उनके गुण (सत्व, रज, तम), (पिछले जन्मके) कर्म और स्वभावके अनुसार उन्हें चार भाग या वर्णोंमें विभक्त कर दिया। इसके अनुसार केवल मनुष्य ही चार वर्णके नहीं हुए वरन् पशु, पक्षी, वृक्ष, जल, भूमि, रत्न, काष्ठ, सब चार वर्णके हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि कोई मनुष्य हाथके दुर्बल रह जानेसे या कट जानेसे हाथका काम पैरसे करने लगे तो उसके पैरको केवल हाथका काम करने मात्रसे हम हाथ नहीं कहने लगते, इसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके योग्य काम करने लगे तो उससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति बन जाती है, वही वर्ण-व्यवस्थामें प्रधान समझी जाती है, केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नहीं आ जाता। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नहीं कहला सकता और यदि गधे या खच्चरको टमटममें जोत दिया जाय तो वह घोड़ा नहीं कहला सकता। घोड़ेका घोड़ापन उसके जन्म-संस्कार पर अवलम्बित है, भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यों न हो गया हो।

कार्य-विभाजन

इस प्रकारकी व्यवस्थासे गुण कर्म-स्वभावके अनुसार मानव समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ मान ली गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और सेवात्मक। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब लोग अपनी रुचि,

समर्थता और प्रवृत्तिके अनुसार, पारस्परिक संघर्षके विना, लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। आजका मनोविज्ञान गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है कि मनुष्यकी रुचि, प्रवृत्ति और समर्थताका परीक्षण करके उसके योग्य कार्य उसे दिया जाय किन्तु आर्योंने यह कार्य न जाने कितने सहस्र वर्ष पहले ही कर दिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक उन लोगोंपर व्यर्थ पढ़नेका भार नहीं डाला जो अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे, क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें भेजे जानेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यवसाय-कला) ठण्डी पड़ जाती। अतः गुरुकुलमें पढ़ने-लिखनेकी अनिवार्यता केवल उन तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम विना गुरुकुलमें अध्ययन किए चल ही नहीं सकता था। शेष लोगों, अर्थात् शूद्रोंके लिये यह विधान किया गया कि वे अपने पिता या शिल्प-गुरुसे आवश्यक अध्ययन कर लें जहाँ उन्हें शस्त्र, यान, सेतु तथा भवन-निर्माण आदि उच्चतम शिल्पोंकी भी शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। सच कहिए तो वैज्ञानिक शिक्षा पूर्णत: केवल शूद्र वर्गके हाथमें ही थी।

चारों वर्णोंके कर्तव्य

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा, आश्रित या आर्तजनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोग विलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था ढोर पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छल भावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके यज्ञके लिये कुण्ड, पात्र, खड़ाऊँ, दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र करना, क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र, पुल, भवन, दुर्ग और अस्त्र शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रथ, रस्सी आदि बनाना। सेवाका तात्पर्य

सात्विक सहयोग था, नौकरी करना या दूसरोंके घरके सब छोटे मोटे काम धन्धे करना नहीं। नौकरके लिये भृत्य या दास शब्द था। शूद्रके लिये यहाँ भी 'दास' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है, केवल 'सेवक' शब्दका प्रयोग हुआ है जो अत्यन्त आदरणीय पदका बोधक था—

सेवाधर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्यः॥

[सेवाका धर्म इतना बड़ा है कि योगी लोग भी उसे नहीं निबाह पा सकते।]

ब्राह्मणका कठोर जीवन

जहाँ ब्राह्मणको इतना ऊँचा पद दिया गया था वहाँ उसके लिये नियम भी बड़े कठोर बना दिए गए थे। अपनी जीविका चलानेके लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ कराने और अध्यापनका कर्म करते थे और केवल उसीसे दान लेते थे जिसने सचाई और अच्छे कर्मसे धन कमाया हो। ब्राह्मणका काम यह था कि वह सदा प्राणिमात्रके उपकारमें लगा रहे, किसी प्रकार भी किसीका अहित न करे। उसका यह भी धर्म था कि वह सब प्राणियोंसे दया और मित्रताका व्यवहार करे, कभी भूलकर भी धनका लोभ न करे तथा सन्तोषका जीवन बितावे। उसका यह भी काम था कि वह वेद पढ़ने, तीर्थ करने और पृथ्वी-दर्शनके लिये सारे भूमण्डलपर भ्रमण करे और ज्ञानका प्रसार करे। अच्छा ब्राह्मण वही समझा जाता था जो जीवन भर अध्ययन करता रहे—

यावज्जीवमधीते विप्र।

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाजको पूर्णाङ्ग व्यवस्थित करनेके लिये वर्णव्यवस्थाका विधान किया गया, वैसे ही मनुष्यके जीवनको पूर्ण सफल करनेके लिये आश्रम व्यवस्था स्थापित की गई। हम भली प्रकार जानते हैं कि सब देशोंमें जितनी शिक्षा-व्यवस्थाएँ चलीं उन सभीमें या तो व्यक्ति प्रधान रहा या समाज। किन्तु भारतीय वैदिक जीवनकी यह विशेषता

रही है कि उसमें व्यक्ति और समाज दोनों समान रूपसे प्रधान बने रहें। यही कारण है कि हमारा समाज आजतक सुस्थिर बना चला आया और संसारके अन्य सभी देश अपनी एकांगी संस्कृतिको लिए-दिए संसारसे विदा हो गए।

आश्रम धर्म

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धि के लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी। इसी कारण यह निर्देश किया गया कि सौ वर्षकी मानवीय पूर्णायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् पचीस वर्षकी अवस्था-तक छात्र पढ़ते रहें। पचीस वर्षकी अवस्थातक केवल ब्राह्मणके पुत्र-को ही नहीं, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्रोंको भी विद्यालयमें अध्ययन करना पड़ता था। प्रत्येक वर्णके लिये जितनी विद्या अपेक्षित होती थी उतना ज्ञान देकर ही उसे छुट्टी दी जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्य क्रमके निर्णयमें वर्णका भी विचार किया जाता था। इस अध्ययन की अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे।

इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम आता है। ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये विवाह करके, गृहस्थ होकर, गृहस्थ जीवनमें धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना आवश्यक था।

पचीस वर्षतक गृहस्थ धर्मका निर्वाह करके, पचास वर्षकी अवस्थामें अपने पुत्रादिको घरका भार सौंपकर लोग तपस्याके लिये वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकार साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय।

फिर पचहत्तर वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सांसारिक सम्बन्धोंसे पूर्णतः विरक्त होकर संन्यास ले लेता था एवं जीवित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता था।

आश्रम धर्मकी सार्थकता

यह आश्रमधर्म पूर्णतः मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है।

प्रारम्भमें अध्ययन करना, फिर गृहस्थाश्रममें सचाईसे धन कमाकर लोक-सेवा करना, धर्म करके यश कमाना, गृहस्थीका सुख भोगना और पुत्रैषणा तृप्त करना, वानप्रस्थमें धीरे-धीरे संसारसे विरक्त होनेका अभ्यास करना और अन्तमें पूर्णतः मुक्त हो जाना। इस क्रमसे मनुष्य इस लोक और परलोकका सुख एक साथ साध सकता है। इसमें कहीं संघर्ष नहीं, केवल कर्तव्य-बुद्धि प्रधान है। आजकलकी भाँति यह नहीं है कि अन्त समयतक अपनी सम्पत्तिसे लिपटे रहें और अपने पुत्र पौत्र तथा बन्धुजनोंके ईर्ष्या-भाजन बनें।

चारों आश्रमोंकी योग्यता और कर्तव्य

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमोंका पालन करना पड़ता था। क्षत्रियों और वैश्योंको संन्यास नहीं लेना पड़ता था, केवल तीन ही आश्रमोंमें रहना पड़ता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था।

ब्रह्मचर्याश्रम

उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरु-गृहमें रहते हुए अंगों-सहित वेद पढ़ना, ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। इस अवस्थामें उपनयन हो जानेपर ब्रह्मचारीका यह कर्तव्य था कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वहाँ वेद पढ़े, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनों समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजीका अभिवादन करे, गुरु खड़े हों तो खड़ा रहे, बैठें तो गुरुसे नीचे आसनपर बैठ जाय, सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर लेनेपर स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने (कंडे), कुशा, पलाश आदि सामग्री प्रातः लाया करे और पढ़ाई पूरी हो चुकनेपर गुरुकी आज्ञा लेकर गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

गृहस्थाश्रम

पचीस वर्षकी अवस्थामें विवाह कर चुकनेपर गृहस्थका धर्म यह था कि वह श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञादिके द्वारा देवताओंको, धन-भोजनादि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, सन्तान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फलादिकी बलि देकर प्राणियोंको तथा दया और स्नेह-भावके द्वारा सारे संसारको तृप्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट और सुखी करता रहे ; भिक्षा-भोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक, सार्थगृह तथा साधुजनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल शैय्या और भोजन दे, कभी द्वेष, क्रोध, अहकार तथा पाखण्ड न करे, किसी प्रकार भी किसीका अपमान या अहित न करे, धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविका कमावे, सन्तान उत्पन्न करे और परिवारका पालन करे।

वानप्रस्थाश्रम

पचासकी अवस्था पार कर चुकनेपर अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने और पुत्र-पुत्रियोंको शिक्षा देकर, उनका विवाह करके, उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठित करके अपनी भार्याको पुत्रोंके सहारे छोड़कर या साथ लेकर वनमें कुटिया बनाकर रहे। यही वानप्रस्थ आश्रम है। इस आश्रमका कर्त्तव्य था कि मूँछ, दाढ़ी और जटा बढ़ाए रहे, धरतीपर शयन करे, गिरे हुए ही फल खाकर रहे, आए हुए अतिथिका सत्कार करे, मृगचर्म या कुशासनसे शरीर ढँके, तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) संध्या तथा देवताओंकी अर्चना करे, हवन और अतिथि-पूजन करे, भिक्षाटन करे, बलि दे, निरन्तर ईश्वरकी आराधना करते हुए तपस्या और तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख सहन करनेकी शक्ति) साधे।

संन्यास

पचहत्तर वर्षकी अवस्था हो जानेपर या इससे पूर्व ही वानप्रस्थाश्रम-में मन सध जानेपर सिर मुड़ाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर, दण्ड-कमण्डलु

लेकर विरक्त हो जाना संन्यास कहलाता है। संन्यासीका कर्तव्य था कि सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर छोड़कर, अपने पुत्र-पौत्र, धन सम्पत्तिकी ममता छोड़कर वैराग्य ले ले एवं प्राणिमात्रसे मित्रता करे। मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे, पाँच रात्रिसे अधिक एक बस्तीमें न ठहरे, जब गृहस्थके चूल्हे ठंढे हो चुकें, सब खा-पी चुकें, उसी समय उच्च वर्णके गृहस्थोंके घर जाकर केवल शरीर चलाने भर के योग्य भिक्षा ले, सबका कल्याण करता हुआ निर्भय और निःस्पृह भावसे विचरण करे और ईश्वराराधन तथा योगके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे।

वर्ण तथा आश्रमचर्या

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कंधमें वर्णाश्रमचर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

यज्ञ करना, दान देना और पढ़ना ये तीनों, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके लिये आवश्यक और साधारण धर्म हैं पर दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना ये तीन धर्म (वृत्तियाँ) केवल ब्राह्मणके ही लिये विहित हैं। किन्तु दान लेनेसे तप, तेज और यश क्षीण होता है तथा पढ़ाने और यज्ञ करानेमें भी दीनता दिखानी पड़ती है इसलिये ब्राह्मणको उचित है कि जहाँतक हो सके, दान लेनेकी वृत्ति न करे, केवल पढ़ाने और यज्ञ करानेकी वृत्तिसे ही जीविकाका निर्वाह करे और यदि हो सके तो इन दोनों वृत्तियोंको भी छोड़कर शिलोञ्छ वृत्तिसे (खेत काट लेनेपर जो अन्नके कण पड़े रह जाते हैं उन्हें बीन लाकर या हाट उठ जानेपर जो अन्न बिखरा हुआ पड़ा रह जाता है उसे लाकर उससे) जीविका निर्वाह करे। यह अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण शरीर क्षुद्र सांसारिक सुखके लिये नहीं है। इससे लोकमें कष्ट उठाकर तप करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेमें परलोकमें अनन्त सुख मिलता है। जो ब्राह्मण शरीर पाकर ऐसा नहीं करता वह अपने ब्राह्मण जन्मको वृथा नष्ट कर देता है। इस प्रकार जो ब्राह्मण शिलोञ्छ वृत्तिमें सन्तुष्टचित्त होकर निष्काम महत् धर्म (अतिथि-सेवा आदि सनातन सदाचार)

का सेवन करता हुआ सर्वतोभावसे ईश्वरको आत्म-समर्पण कर देता है वह अनासक्त भावसे गृहस्थाश्रममें ही रहकर ईश्वर भजनसे परम-शान्ति अर्थात् मोक्षका अधिकार अथवा योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरके जो भक्त, किसी ब्राह्मण अथवा अन्य जनको धन, भोजन, वस्त्र आदिकी सहायता देकर दारिद्र य आदि कष्टोंसे उबारते हैं, उनको, ईश्वर वैसे ही आनेवाली आपत्तियोंसे शीघ्र उबार लेता है जैसे समुद्रमें डूबते हुए व्यक्तिको नौका उबार लेती है। धीर* अर्थात् विवेकी क्षत्रिय तथा राजाको चाहिए कि जैसे गजपति, अन्य गजाको (दलदलमें फँस जाने आदि अनेक) आपत्तियों या कष्टोंसे उबारता है और अपना उद्धार आप ही अपनी शक्तिसे करता है वैसे ही दारिद्रय, अन्नकष्ट आदि सङ्कटोंमें पिताकी भाँति सहानुभूति सहित सब प्रजाकी सहायता करे, (यह राजाका मुख्य धर्म है, क्योंकि प्रजा रञ्जनसे ही राजा कह-लाता है) और सब समय अपनी बुद्धि और शक्तिसे अपनी रक्षा करता रहे, अर्थात् विपत्तिसे, अधर्मसे एवं असावधानतासे बचाता रहे। ऐसा नरपति इस लोकमें सब अशुभोंसे रहित होकर अन्त समयमें सूर्यसदृश प्रकाशमान् विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ उन्हींके समान ऐश्वर्य-सुख भोगता है।

आपद्धर्म

हे उद्धव! ब्राह्मण यदि दरिद्रतासे पीड़ित हो तो वह वैश्य वृत्तिसे अर्थात् बेचने-योग्य वस्तुओंके व्यापारसे आपत्काल बितावे (उस समय भी मदिरा और लवणादिका बेचना निषिद्ध है), अथवा खड्ग धारण-पूर्वक क्षत्रिय वृत्तिसे निर्वाह करे, परन्तु श्ववृत्ति अर्थात् नीच सेवा न करे क्योंकि श्ववृत्ति सर्वथा निषिद्ध है। इसी प्रकार क्षत्रिय यदि दरिद्रतासे पीड़ित हो तो वह वैश्य वृत्तिसे या मृगया (शिकार) के द्वारा, अथवा ब्राह्मणके समान विद्या पढ़ाकर आपत्काल बितावे, परन्तु अपनेसे नीच वर्णकी सेवा कभी न करे। ऐसे ही दरिद्रतासे पीड़ित वैश्यको चाहिए कि शूद्रोंकी (सेवा) वृत्तिसे, और दरिद्रतासे पीड़ित

शूद्रको चाहिए कि प्रतिग्राम, अर्थात् उच्चवर्णकी सीमा नीच वर्ण गुणमें उत्पन्न कारु (धुनिये) आदिकी चटाई बटाई धुननेकी वृत्तिसे निर्वाह करे। चारों वर्णोंके लिये केवल आपत्कालमें इन समस्त नीच वृत्तियोंकी व्यवस्था की गई है। आपत्काल निकल जानेपर किसी वर्णको अधम वृत्तिसे जीविका निर्वाहकी इच्छा नहीं करनी चाहिए।

गृहस्थाचरण

गृहस्थ मनुष्यको चाहिए कि यथाशक्ति वेदाध्ययन, स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव और अन्नदान करता हुआ देवता, पितर, ऋषि और सब प्राणियोंको परमात्मा-स्वरूप समझकर नित्य पूजे। स्वयं प्राप्त और अपनी विहित वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे न्यायपूर्वक, अपने द्वारा जिनका भरण पोषण होता हो उन लोगोंको पीड़ा न पहुँचाकर, यज्ञ आदि धर्म-कर्म करे। अपने कुटुम्बकी ही चिन्तामें आसक्त न रहे और कुटुम्बी होकर भी ईश्वरका भजन करना न भूले, ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा और विश्राम करे। विद्वान्को चाहिए कि प्रत्यक्ष संसारके प्रपंचकी भाँति अप्रत्यक्ष स्वर्गादिको भी अनित्य समझे। जैसे पथिक लोग जलशालामें जल पीनेके लिये जाकर घड़ी भरके लिये मिल जाते हैं और पानी पीकर अपनी-अपनी राह लेते हैं, वैसे ही इस संसारमें पुत्र, स्त्री, स्वजन और बधुबान्धवोंका समागम समझना चाहिए। निद्राके साथ जैसे स्वप्न दीख पड़ता है और नींद उचटनेपर नहीं दीख पड़ता, वैसे ही प्रत्यक्ष शरीर मिलने और छूटनेपर स्त्री पुत्रादिका समागम और वियोग होता ही है। ऐसा समझकर साधक योगीको चाहिए कि गृहस्थाश्रममें अतिथिकी भाँति ममता और अहङ्कारसे हीन होकर रहे और लिप्त न हो। ईश्वरकी भक्ति करता हुआ, अपने धर्म और कर्तव्यके पालनसे ईश्वरकी आराधनामें तत्पर रहकर चाहे वह गृहस्थाश्रममें ही रहे, चाहे बुढ़ापेके पहले ही वानप्रस्थ होकर वनको चला जाय अथवा पुत्र हो तो सन्यास ग्रहण करे। किन्तु जिसकी बुद्धि घरम, परिवारमें आसक्त है, जो पुत्रोंके लिये या धनके लिये व्याकुल है, जो स्त्री-सगमें लिप्त और मन्दमति है, वह

मूढ़ मनुष्य, मैं मेराके भ्रम जालमें पड़कर अनेक जन्मोंतक जन्म-मरणके कठिन कष्ट भोगता रहता है। जो लोग गृहस्थी और परिवारकी चिंतामें इस प्रकार चूर रहता है कि "अहो! मेरे माँ बाप बूढ़े हैं! स्त्रीके छोटे छोटे बालक हैं! ये दीन लड़की लड़के मेरे बिना अनाथ होकर कैसे जियेंगे? मेरे वियोगमें इनको महादुःख होगा", वह मंदमति मूढ़ गृहस्थ कभी तृप्त नहीं होता और ऐसे ही सोचता सोचता एक दिन मर जाता है और फिर तामस नीच योनिमें जन्म लेता है।

वानप्रस्थ

"हे उद्धव! जो गृहस्थ वानप्रस्थ होना चाहे वह पत्नीको समर्थ पुत्रोंके हाथमें सौंपकर, अथवा अपने साथ ही रखकर, शान्त चित्तसे आयुका तीसरा भाग वनवासमें बितावे। वहाँ विशुद्ध कंदमूल और वनके फल खाकर रहे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे या तृण, पत्ते अथवा मृगचर्मसे कपड़ेका काम निकाले, शिरके बाल, डाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोम और नख बढ़ाता रहे, मैल न छुड़ावे, दन्तधावन न करे, तीनों काल जलमें घुसकर शिरसे स्नान करे, पृथ्वीपर सोवे, ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि तापे, वर्षा ऋतुमें खुले मैदानमें रहे और जाड़े भर गलेतक पानीमें बैठे। इस प्रकार उसे घोर तप करना चाहिए। अग्निमें पके हुए अथवा समय पाकर पके हुए फल आदि ही उसे खाने चाहिएँ। यदि कन्द मूलादि मिलें तो उन्हें ओखलीमें या पत्थरसे कूटकर खाना चाहिए अथवा दाँत पुष्ट हों तो उन्हींसे चबा लेना चाहिए। अपने खाने-पीनेकी सब सामग्री अपने ही हाथों खोजकर लानी चाहिए। देश, काल और शक्तिका विशेष रूपसे ज्ञान रखनेवाले मुनिको चाहिए कि कालान्तरमें लाए हुए पदार्थोंको दूसरेमें वर्ता न ले। तात्पर्य यह है कि नित्य प्रति खाने भरको ताजे कन्द, मूल, फल लाने चाहिएँ, बासी नहीं खाना चाहिए और समयानुसार मिले हुए वनके फलोंसे ही देवता और पितरोंके लिये चरु, पुरोडाश आदि निकालना चाहिए। किन्तु वेद विहित पशु बलिसे यजन करना वानप्रस्थके लिये निषिद्ध है। हाँ, वेदवादी ऋषियोंने

आश्रमके अनुसार पहलेकी ही भाँति ब्रह्मचर्य, तथा वानप्रस्थ और भैक्ष दीक्षा करना इसके लिये आवश्यक है। इस प्रकार सौ वर्षोंके कारण मात्र गृह त्याग देनेसे जिसके शरीरमें केवल निराधार (अर्थात् प्राण) रह गया है वह मुनि यदि स्वयं अन्न त्यागता, अर्थात् निराहार होकर भक्तिपूर्वक ईश्वरको भजता है तो वही मुक्त हो जाता है और यदि बहुत सी विघ्न बाधाएँ होती हों अथवा विषय-वासनाएँ निर्मूल न हो पायें, तो वह तपोमय ईश्वरकी आराधनासे मरनेपर महर्लोक आदि ऊपरी के लोकोंको जाता है, फिर समयानुसार वहाँसे ब्रह्ममें मिल जाता है। भला कोई इतने कष्टसे किए हुए इस मोक्षफल-दायक तपको अत्यन्त तुच्छ (महर्लोकसे लेकर स्वर्गलोक-तक सब अनित्य होनेके कारण तुच्छ हैं) उद्देश्यमें लगाता है उससे बढ़कर और कौन मूर्ख होगा! जिसे वैराग्य न हो, उसका शरीर यदि जरा-जर्जर होनेके कारण काँपने लगे और उसमें नियम-पालनकी शक्ति न रह जाय तब अग्नियोंको अपनेमें आरोपित करके ईश्वरमें मन लगाए हुए अग्निमें प्रवेश कर जाय, अथवा उसी आरोपित अग्निको (शरीरसे) प्रकट कर शरीरको जला दे।

संन्यास

जो कोई धर्मके फलस्वरूप इन नरकतुल्य असत् लोकोंका दुःखदायक परिणाम देखकर भली भाँति विरक्त हो उठे, उस वानप्रस्थको चाहिए कि (७५ वर्षकी अवस्था हो चुकनेपर) आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें लीनकर संन्यास ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिए कि पहले वेदके उपदेशानुसार अष्टश्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञ पूर्ण यजन करे, फिर सर्वस्व ऋत्विक्को देकर अग्नियोंको अपनेमें स्थापित कर संन्यास आश्रममें गमन करे। 'यह हमको लाँघकर ब्रह्मको प्राप्त होगा'—ऐसा सोचकर देवता लोग, ब्राह्मणके संन्यास लेते समय स्त्री आदिके रूपसे विघ्न डालनेकी चेष्टा करते हैं, इसलिये सब विघ्नोंको हटानेमें सतर्क रहकर अवश्य संन्यास लेना उचित है। संन्यासीको केवल एक लँगोटी पहननी चाहिए और

यदि ऊपरसे कुछ ओढ़ना चाहे तो केवल उतना ही वस्त्र ओढ़े जिससे लाँघेका शरीर ढँका रहे। संन्यासीको आपत्कालके अतिरिक्त सर्वदा केवल दण्ड-कमण्डलु ही पास रखना चाहिए और कुछ भी नहीं, क्योंकि वह संन्यास लेते समय सर्वत्याग कर चुकता है। संन्यासीको चाहिए कि भली भाँति जीव-जन्तुओंको देखकर पृथ्वीपर पैर रक्खे, वस्त्रमें छानकर जल पीवे, सत्य वाक्य ही बोले और भली भाँति विचार कर काम करे।

मौनरूप वाणीका दण्ड अर्थात् दमन और अनीहा (काम्य-कर्म-त्याग) रूप शरीरका दण्ड एवं प्राणायामरूप मनका दंड, ये तीनों दण्ड धारण करनेसे ही वह त्रिदण्डी कहलाता है। हे उद्धव! दिखानेके लिये केवल बाँसके तीन दण्ड लिए रहनेवालेको मैं यति नहीं मानता। संन्यासीको चारों वर्णोंमें भिक्षा करनेका अधिकार है, किन्तु पतित, हत्यारे और जातिच्युत लोगोंके यहाँ भिक्षा करना निषिद्ध है। संन्यासीको सबेरे बस्तीके पास जाकर अनिश्चित सात घरोंमें भिक्षा माँगना और उनमें जो कुछ मिले उतनेमें ही संतुष्ट रहना चाहिए। भिक्षा कर चुकनेपर गाँवके बाहर एकान्तमें किसी जलाशयके किनारे जाकर, पहले उस स्थानपर जल छिड़क कर उसे पवित्र करना चाहिए और फिर अपने हाथ-पैर धोकर, कुल्ला करके चुपचाप सब अन्न खा लेना चाहिए, आगेके लिये बचाकर नहीं रखना चाहिए। भोजन करनेके अवसरपर यदि कोई आकर भोजन माँगे तो उसे बाँटकर भोजन करना चाहिए। संन्यासीको एक स्थानपर नहीं रहना चाहिए। संगहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन, धीर और समदर्शी होकर उसे अकेले इच्छानुसार पृथ्वी-पर्यटन करते रहना चाहिए। संन्यासी मुनिको चाहिए कि निर्जन और निर्भय स्थानमें बैठकर विशुद्ध भक्तिसे निर्मल होकर रहे। हृदयमें ईश्वरको अपने (आत्मा) से अभिन्न देखे और विचारे। संन्यासीको सर्वदा ज्ञान-निष्ठ रहकर इस प्रकार आत्माके बंधन और मोक्षका विचार रखना चाहिए कि इन्द्रियोंका चंचल होना ही अपना बन्धन है और इन्द्रियोंको वशमें

रखना ही मोक्ष है । इसलिये मुनियों, ईश्वरकी भक्तिके द्वारा मन-सहित छ ज्ञानेन्द्रियरूप शत्रुओंको जीतकर, इच्छानुसार विचरना चाहिए, सब क्षुद्र कामनाओंसे विरक्त होकर आत्मचिन्तनमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिए, भिक्षाके लिये केवल नगर, ग्राम, व्रज और यात्रियोंके बीच जाना चाहिए, और फिर पृथ्वी मण्डलके पवित्र देश, पर्वत, नदी, वन और आश्रमोंमें घूमना चाहिए । संन्यासीको प्राय वानप्रस्थ लोगों के ही आश्रमोंमें भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि उनके शिलोञ्छ-वृत्तिसे प्राप्त अन्नके खानेसे अन्त करण शुद्ध रहता है और फिर शीघ्र ही माया मोह मिटनेके कारण वह जीवन्मुक्त सिद्ध हो जाता है ।

अध्यात्म तत्व

ये जो संसारके विषय सुख दीख पड़ते हैं, सब अनित्य हैं । इस कारण इन्हें तुच्छ समझना चाहिए और परलोकके लिये जो विहित काम्य कर्म हैं उनसे निवृत्त होना एव अनन्य भावसे ईश्वरको भजना चाहिए । अन्त करण, वाणी और प्राण सहित इस ममताके घर जगत्‌को, अहकारके घर शरीरको और शरीर सम्बन्धी परिवार तथा सुखको, स्वप्नके समान मिथ्या समझकर छोड़ दे । फिर स्वस्थ चित्तसे आत्मरूप ईश्वरके ध्यानमें मग्न होकर उक्त ससार प्रपचकी चिन्ता छोड़ दे । जिसकी निष्ठा मोक्षकी इच्छासे ज्ञान सचयमें हो अथवा जो मोक्षके लिये निरपेक्ष रहकर भी ईश्वरकी भक्ति करता हो, दोनों प्रकारके साधकोंको चाहिए कि चिह्नसहित आश्रमोंको त्याग दें और वेद विहित विधि निषेधके बधनसे छूटकर निरपेक्ष भावसे शारीरिक कर्म करते रहे अर्थात् विवेकी होकर भी बालकोंकी भाँति खेलें, निपुण होकर भी जड़की भाँति घूमें, विद्वान् होकर भी उन्मत्तोंकी सी बातें करें, वेदके भावार्थको भली भाँति जानने और माननेपर भी गऊ आदि पशुओंकी भाँति आचारका विचार न करें, कर्मकाण्ड आदि वेदवादमें निरत न हों, पाखण्ड अर्थात् श्रुति स्मृतिके विरुद्ध कार्य न करें केवल तर्कमें ही न लगे रहें, निष्प्रयोजन वाद-विवाद न करें एव

वाद विवादमें किसीका पक्ष भी न लें। धीर पुरुषको लोगोंसे उद्विग्न नहीं होना चाहिए और अन्य लोगोंको उद्विग्न भी नहीं करना चाहिए। कोई कटु वचन कहे तो सुन लेना चाहिए और किसीका अनादर या अपमान नहीं करना चाहिए। पशुओंकी भाँति इस शरीरके लिये किसीसे वैर नहीं करना चाहिए। समझना चाहिए कि वही एक परमात्मा सब प्राणियोंमें और अपनेमें भी अवस्थित है। जैसे एक ही चन्द्रमाके प्रतिबिंब अनेक जलपात्रोंमें दीख पड़ते हैं, वैसे ही सब प्राणियोंका आत्मा वही एक परमात्मा है। किसी समय आहार न मिले तो विषाद नहीं करना चाहिए और आहार मिल जाय तो प्रसन्न नहीं होना चाहिए क्योंकि दोनों ही बातें दैवके अधीन हैं। और यदि आहारके बिना शरीर अशक्त होता दीख पड़े तो केवल आहार (पेट भरने)के लिये चेष्टा भी करनी चाहिए अर्थात् भिक्षासे पेट भरना चाहिए, क्योंकि प्राण रहनेपर अथवा शरीर स्वस्थ रहनेपर ही वह तत्वका विचार कर सकेगा और तत्व जाननेसे ही मुक्ति मिलेगी। परमहंस मुनिको अच्छा बुरा जैसा अन्न मिले वैसा खा लेना, जैसा कपड़ा मिले वैसा पहन लेना और जैसी शय्या (या पृथ्वी) सोनेको मिले उसीपर पड़ रहना चाहिए। ज्ञाननिष्ठ पुरुष विहित विधिके बन्धनमें न रहकर ईश्वरकी भाँति लीलापूर्वक शौच, आचमन, स्नान आदि अन्यान्य कर्म करता रहे। ऐसे लोगोंके मनमें भेदभाव नहीं रह पाता, जो होता भी है वह भी तत्त्वज्ञानसे मिट जाता है। जबतक पूर्व-संस्कारवश स्थूल शरीर रहता है तबतक कभी कभी कुछ कुछ भेद भाव भासित भी होता है, परन्तु देह छूटनेपर वह ईश्वरमें मिल जाता है।

विरक्त जिज्ञासु

जो बुद्धिमान् पुरुष दुःखदायक परिणामवाले अनित्य विषयोंसे विरक्त हो गया है, किन्तु भागवत धर्मको नहीं जानता, उसे चाहिए कि किसी ज्ञानी मुनिको गुरु मानकर उसका आश्रय ले। जबतक ब्रह्मज्ञान न हो तबतक ईश्वरकी ही भावनाके साथ आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे गुरुकी सेवा करे, कभी गुरुकी किसी बातका बुरा न माने। जिसने

काम क्रोध रूप छ शत्रुओंके दलको नहीं शान्त किया, जिसके बुद्धिरूप सारथिको प्रचण्ड इन्द्रिय रूप घोड़े इधर उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदयमें ज्ञान विज्ञानका लेश भी नहीं है, ऐसा जो मनुष्य केवल जीविकाके लिये दण्ड कमण्डलु लेकर सन्यासीके वेषमें पेट पालता फिरता है, वह धर्मघातक है। उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता। वह देवताओंको, अपनेको और अपनेमें स्थित ईश्वरको ठगता है। इसीसे वह अशुद्ध हृदय दम्भी दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो जाता है, कहींका नहीं रहता।

उपसंहार

सन्यासीका मुख्य धर्म शान्ति और अहिंसा है। ईश्वर चिन्तन और तप वानप्रस्थका मुख्य धर्म है। प्राणियोंका पालन और पूजन गृहस्थका मुख्य धर्म है। गुरुकी सेवा करना ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ब्रह्मचर्य (वीर्यको रोकना, इन्द्रियोंके वेगको सँभालना), तप, शौच, सन्तोष, प्राणियोंसे प्रेम और ऋतु-समयमें वंश बढ़ानेके विचारसे स्त्री सग करना, ये गृहस्थके लिये भी आवश्यक धर्म हैं। ईश्वरकी उपासना करना या ईश्वरको भजना प्राणिमात्रका धर्म है। अनन्य भावसे इस प्रकार अपने धर्मके द्वारा जो कोई ईश्वरको भजता है और सर्वत्र सबमें ईश्वरको देखता है, वह शीघ्र ही ईश्वरकी विशुद्ध भक्तिरूपी मुक्तिको प्राप्त होकर कृतार्थ हो जाता है। हे उद्धव! सुदृढ़ भक्तिके द्वारा वह सब लोकोंके ईश्वर और सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके आदिकारण परात्पर ब्रह्ममें मिल जाता है। इस प्रकार स्वधर्म-पालनसे जिसका सत्व अर्थात् आत्मा शुद्ध हो जाता है और जो ईश्वरकी गतिको जान जाता है, वह ज्ञान विज्ञान सम्पन्न विरक्त पुरुष ईश्वरको प्राप्त होता है। वर्णाश्रमाचारी लोगोंका यही धर्म है, यही आचार है, यही लक्षण है। साधारणत उसका पालन करनेसे पितृलोक प्राप्त होते हैं और अनन्य भक्तिके साथ इन्हींके करनेसे परम मुक्ति मिलती है।

२

चार पुरुषार्थ

आजकलके कुछ मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यकी सम्पूर्ण चेष्टाओंका आधार भोजन और काम है। हमारे यहाँ भी एक उक्ति प्रसिद्ध है—

> काव्येन हन्यते शास्त्रं, काव्यं गीतेन हन्यते।
> गीतञ्च स्त्रीविलासेन, स्त्रीविलासो बुभुक्षया॥

[शास्त्रको काव्य मार डालता है, काव्यको गीत, गीतको स्त्री-विलास, और स्त्री-विलासको भूख मार डालती है।] यहाँतक तो कोई दोष नहीं कि भूख और काम बड़े बली होते हैं पर मनोवैज्ञानिक लोग तो लोकैषणाको भी इसीके अन्तर्गत लेना चाहते हैं। वे यह नहीं समझते कि कभी-कभी मनुष्य जलते हुए भवनमें रोते हुए बच्चोंको निकाल लानेके लिये अपने प्राण सङ्कटमें डालता है, डूबते हुए अपरिचित व्यक्तिको बचा लानेके लिये जलमें कूद जाता है, अनुभव मात्र प्राप्त करके संसारको उसका परिचय देनेके लिये हिमालयपर चढ़ जाता है और अपने देशकी रक्षाके लिये तोपके मुँहमें कूद पड़ता है, फाँसीपर झूल जाता है, यातनाएँ सहता है यहाँतक कि अनशन करके प्राण भी दे डालता है। इसमें भोजन और कामकी भावना कहाँसे आ टपकी। निश्चय ही इन प्रवृत्तियोंका आधार लोकोत्तर कार्य करके यश पाना या धर्म निर्वाह ही है।

मानव प्रवृत्तिका आधार

यह सत्य है कि साधारण मनुष्यकी अत्यन्त साधारण प्रवृत्ति भोजन और मैथुनकी ही होती है पर अत्यन्त साधारण प्रवृत्तियोंमें

और अपनी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम प्रवृत्ति का निर्माण करती हैं। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती जाती है, उतनी ही अधिक बढ़ती भी जाती है। इसलिये इसके सम्बन्धमें इयत्ता नहीं कहा जा सकता।

अर्थ प्रवृत्ति

जैसे काम प्रवृत्तिकी कोई सीमा नहीं होती वैसे ही अर्थ प्रवृत्तिकी भी कोई सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तव में धर्म प्रवृत्ति और काम प्रवृत्तिकी पोषिका है। यदि यह प्रवृत्ति कम हो या पूर्णतः न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ प्रवृत्ति की साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्नपूर्वक इतना धन, इतनी सम्पत्ति अर्जित कर लेनी चाहिए कि हम अपनी धर्म और काम प्रवृत्तियों को तृप्त और तुष्ट कर सकें। किन्तु इसमें एक सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि यह अर्थार्जन या धनका प्राप्त करना धर्म मार्गसे, अच्छी जीविका से, सचाईसे तथा दूसरोंको बिना कष्ट दिए होना चाहिए। यदि इस अर्थार्जनमें तनिक भी पाप-मल हुआ कि धन भी नष्ट हो जाता है और काम भी समाप्त हो जाता है।

सिद्धिकी व्यवस्था

इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि मनुष्यका शरीर स्वस्थ और सशक्त हो, उसकी बुद्धि ज्ञान-विज्ञानसे इतनी विवेकयुक्त हो जाय कि वह कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित, अच्छा और बुरा सबका भली प्रकार निर्णय कर सके, उसका मन इतना सध जाय कि वह सब जीवोंमें आत्मभाव स्थापित कर सके, दूसरेके दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होना जान सके। इसी उद्देश्यको स्थिर करनेके लिये आर्योंने वर्णाश्रमकी व्यवस्था की और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ सिद्ध करना ही जीवनका लक्ष्य स्थिर किया।

शिक्षा विधान

शिक्षाके द्वारा इस इहलौकिक और पारलौकिक सौख्यको प्राप्त करनेके लिये आर्योंने जो शिक्षा-विधान बनाया उसमें उन्होंने शिक्षाके सम्बन्धमें इतनी बातें निश्चय कर दीं—

१—बालकका शिक्षा-संस्कार गर्भसे ही प्रारम्भ कर दिया जाय।

२—प्रारम्भमें माता उसे नित्य-कर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास करावे।

३—उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान कराकर अपने कुल-शील, आचरण तथा लोक व्यवहारका ज्ञान करावे। यदि पिता अक्षरज्ञान न करा सके तो कुल-पुरोहित या गाँवके उपाध्यायको बुलाकर अक्षरारम्भ करा दे और लिखना, बाँचना, बोलना और समझना सिखा देनेकी व्यवस्था करे।

४—इतने ज्ञानके पश्चात् उसे गुरुकुलमें भेज दिया जाय।

५—गुरुकुलमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्र ही भर्ती किए जायँ।

६—गुरुकुलोंमें प्रत्येक वर्णके कर्त्तव्योंके अनुकूल निःशुल्क विद्या-दान दिया जाय।

निद्रा (आलस्य या कामचोरी) और भय भी तो हैं। इसीलिये किसी नीतिज्ञने कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन, ये चारों ही प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्योंमें एक-सी होती हैं, किन्तु मनुष्यमें एक धर्म-प्रवृत्ति अधिक होती है और जिस मनुष्यमें यह धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती, वह पशुओंके ही समान है।] पर यह सूची पूरी नहीं है क्योंकि जब गौ अपने बछड़ेको बचानेके लिये, हिरनी अपने छौनेकी रक्षाके लिये और बाघिन अपने बघौटोंकी आड़के लिये जूझ पड़ती है तो निश्चय ही मनुष्यकी एक और भी विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे हम भोजन और मैथुनके अन्तर्गत नहीं वरन् धर्मके भीतर रख सकते हैं या अधिकसे अधिक एक नई प्रवृत्ति मान सकते हैं—मोह या स्नेह-प्रवृत्ति। किन्तु भारतीय सिद्धान्तकी काम-प्रवृत्तिके अन्तर्गत यह सब आ जाता है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि आजकल बहुत लोगोंकी काम-प्रवृत्तिका लक्ष्य सुन्दर मनचाही स्त्री या मनचाहा पति पाना ही है, पुत्र हों या न हों। इसलिये हम अपनी एषणाओंमेंसे पुत्रैषणाको बदलकर कलत्रैषणा कह सकते हैं।

यही बात भोजनके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए। भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास, शय्या, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए। इन सबको भी वह जितना सुन्दर बनाना चाहता है, उतना बनानेका प्रयत्न करता है और इन सबको मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है। इसलिये केवल भोजन और मैथुन मात्रको मूल प्रवृत्ति कहना या मानना नहीं चाहिए।

धर्म-प्रवृत्ति

'धारणाद्धर्ममित्याहुः' के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है।

भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े सुन्दर ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये ही धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो उसीको धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंसे हिंसा न होती हो (दूसरे-को मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो) वही धर्म है।] गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो, शान्ति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको किसी प्रकारका कष्ट न होता हो। इस प्रकारके कर्मोंसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही ऐसे कर्म करने-वालोंकी प्रशंसा करेंगे, गुण गावेंगे, बड़ाई करेंगे और यही वास्तवमें लोकैषणाकी तृप्ति है, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

हम ऊपर समझा आए हैं कि कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नहीं है। यह भी भूख-प्यासके समान ही एक साधारण-सी शारीरिक उत्प्रेरणा है जो पशुमें भी होती है। पर मनुष्यका 'काम' पशुओंके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नहीं हो जाता। वह परिवार जोड़ता है। उसे प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ जोड़ता और सब प्रकारके अनिष्टों, उपद्रवों और आघातोंसे अपने परिवारकी

७—गुरुकुलोंकी व्यवस्थामें कोई राज्य शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे।
८—केवल बालकोंको गुरुकुलोंमें शिक्षा दी जाय।
९—बालिकाओंको घरपर माता और ससुरालमें सास ही शिक्षा दें।
१०—शूद्र अपने व्यवसायकी शिक्षा अपने पिता या सहधर्मी शिल्पीसे सीखें।

४

संस्कार

वैदिक शिक्षा-शास्त्रियोंने आजके शिक्षा-शास्त्रियोंके समान लम्बा-चौड़ा शिक्षाका आयोजन बनाकर ही इत्यलम् नहीं कर दिया। उनका स्पष्ट सिद्धान्त था कि बाहरी सिखाने-पढ़ाने और अनेक विषयोंका ज्ञान करा देने मात्रसे ही शिक्षा पूरी नहीं हो जाती। वे मानते हैं कि शिक्षाकी पूर्णता आन्तरिक संस्कारसे होती है और वह आन्तरिक संस्कार गर्भमें जीवके आनेके साथ-साथ प्रारम्भ हो जाता है। हमारे यहाँ इसीलिये कहा गया है कि प्रारम्भसे ही अर्थात् जीवको गर्भमें निमन्त्रण देनेसे पूर्व ही माता-पिताको एक विशेष प्रकारके आचार-विचार और व्यवहारसे अपना जीवन संयत करना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा नहीं किया तो सुसंस्कारी जीवके बदले गर्भमें कुसंस्कारी जीव भी आ सकता है जो परिवार और राष्ट्र दोनोंके लिये भयंकर सिद्ध हो सकता है। इसीलिये हमारे यहाँ इन दस संस्कारोंका विधान किया गया—

१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्तोन्नयन ४. जातकर्म ५. निष्क्रमण ६. नामकरण ७. अन्नप्राशन ८. चूडाकरण ९. उपनयन और १०. विवाह। इन्हींके साथ-साथ कुछ लोग समावर्त्तनको भी संस्कार मानते हैं किन्तु वह तो उपनयनका ही एक अङ्ग है।

गर्भाधान और गर्भाचार

सभी शास्त्रकारोंने गर्भाधान-संस्कारका अत्यन्त महत्त्व बताया है और उसीके साथ यह कहा है कि विवाह-कर्म विलासके लिये नहीं होता, वह केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये होता है। अतः गर्भाधानके समय पति-पत्नी दोनोंको अत्यन्त पवित्रताके साथ, मंगल संकल्पोंके साथ गर्भाधान करना चाहिए।

आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें गर्भिणीके लिये बड़े नियम बना दिए हैं और यह भी बता दिया गया है कि किस प्रकारके आहार और विहारसे गर्भ-स्थित बालकमें क्या दोष उत्पन्न हो जाते हैं। उन्होंने कहा है कि गर्भिणीको हाथी-घोड़े, अटारी और गाड़ीपर नहीं चढ़ना चाहिए, व्यायाम नहीं करना चाहिए, रोना-पीटना नहीं चाहिए, जिन दृश्यों या कार्योंसे भयकी आशंका हो उनसे दूर रहना चाहिए, दिनमें सोना नहीं चाहिए, रातमें जागना नहीं चाहिए और पति संग नहीं करना चाहिए। उसे सदा हल्दी, कुङ्कुम, सिन्दूर, काजल, सुन्दर रंगीन वस्त्र और आभूषणका प्रयोग करना चाहिए, चोटियाँ गूँथकर केशोंका संस्कार करना चाहिए, ताम्बूल खाना चाहिए और सदा प्रसन्न, हँसमुख मृदुभाषी, दयालु, उदार, परोपकारी और पर हितकारी बनना चाहिए। गर्भिणीको जो कुछ खानेकी इच्छा हो वह तत्काल खा लेना चाहिए। यह प्राप्त होनेसे गुणवान् पुत्र उत्पन्न होता है।

गर्भका संस्कार

वैदिक शास्त्रकारोंका यह विश्वास है कि बालककी शिक्षा गर्भ-स्थित अवस्थासे ही प्रारम्भ हो जाती है। जीवको गर्भमें पिछले जन्मकी पूरी स्मृति बनी रहती है और उस अवस्थामें उसमें जितनी बौद्धिक चेतनता रहती है उतनी जन्मके बाद नहीं रह जाती। इसलिये यदि उस गर्भकालमें ध्यान देकर माता कोई ज्ञान प्राप्त करे तो वह ज्ञान बालकको भी प्राप्त हो जाता है। महाभारतमें अभिमन्यु इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है जिसने चक्रव्यूह-भेदनकी समग्र क्रिया उस समय गर्भमें ही सीख ली थी जब अभिमन्युकी माता सुभद्राको अर्जुन वह विद्या सुना रहे थे।

जीव-संस्कार

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन-संस्कार भी गर्भस्थित बालकके कल्याण-के लिये ही किए जाते हैं। बालकका जन्म होनेके पश्चात् जातकर्म-संस्कारसे लेकर मुण्डन-संस्कार या चूडाकर्मतक साधारण रूपसे बालकके प्रारम्भिक जीवनका संस्कार होता है जिनका सूक्ष्म परिचय यह है—

पुंसवन-संस्कार

पुंसवन संस्कार इसलिये किया जाता है कि गर्भसे पुत्र ही उत्पन्न हो और यह गर्भाधान होनेके तीसरे महीनेके पहले दस दिनके भीतर ही कर लिया जाता है क्योंकि चौथे महीनेमें गर्भस्पन्दन होने लगता है। इस संस्कारमें अग्नि-स्थापन और हवन करके बरगदकी कोंपल तोड़कर उसे ओसके जलमें पीसकर पत्नीके दाहिने नथुनेमें अपनी अनामिका उँगली और अँगूठेसे पति डालता है।

सीमन्तोन्नयन

गर्भाधानके चौथे, छठे या आठवें महीनेमें सीमन्तोन्नयन किया जाता है। सीमन्तोन्नयनका अर्थ है वधूकी चोटी या उसका जूड़ा उठाना इस संस्कारसे गर्भके बालकका गर्भमें कोई अनिष्ट नहीं होता और गर्भावस्थामें जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। इस संस्कारमें हवन इत्यादि कार्य ही किए जाते हैं।

जातकर्म

जातकर्म संस्कार बालकके उत्पन्न होते ही किया जाता है। जैसे ही पुत्र उत्पन्न हो वैसे ही उस पुत्रका पिता आदेश देता है—'नाभिं मा कृन्तत। स्तनं च मा दत्त' (अभी नाल न काटना और छातीका दूध न पिलाना)। तब पिता स्नान करके षष्ठी देवी, मार्कण्डेय और षोडश मातृकाका पूजन करके किसी ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या विद्वान् ब्राह्मणसे शिला धुलवाकर उसपर बैठता है और अपने दाहिने हाथ की अनामिका और अँगूठेके द्वारा व्रीहि (धान) और जौ लेकर बालक की जीभपर छुआता है। फिर सोनेकी सलाईसे घी लेकर बालककी जीभपर छुआकर यह आज्ञा देता है कि अब इसका नाल काटो और दूध पिलाओ।

निष्क्रमण

निष्क्रमणमें कोई विशेष क्रिया नहीं होती किन्तु माता और बालकको स्नान करा दिया जाता है। यह संस्कार बालकके जन्मसे तीसरे या

चौथे मासमें किया जाता है। यह कहा गया है कि यदि निष्क्रमण अर्थात् घरमें बालकको प्रथम बार बाहर निकालना विधिपूर्वक नहीं किया गया तो बालक की आयु और भी नष्ट होती है। इस संस्कारमें केवल इतना ही होता है कि निश्चित दिन सायंकालके समय बालकका पिता चन्द्रमाकी ओर अंजलि बाँधकर खड़ा हो जाता है और तत्पश्चात् बालककी माता विशुद्ध वस्त्रसे कुमारको ढँककर अपने स्वामीके बाएँ होकर पश्चिमकी ओर मुख करके खड़ी होकर बालकका शिर उत्तरकी ओर करके अपने पतिको समर्पित कर देती है। इसके पश्चात् कुछ मंत्र पढ़कर बालकका पिता भी बालककी माताको शिशु अर्पित कर देता है।

नामकरण

नामकरण संस्कार ब्राह्मणको जन्मसे ग्यारहवें दिन, क्षत्रियको तेरहवें दिन, वैश्यको सोलहवें दिन और शूद्रको बीसवें दिन करना चाहिए। नामकरण करनेका अधिकार केवल पिताको ही है। नामकरणकी विधि यह है—बालकको सुन्दर वस्त्र पहनाकर उसकी माता अपने पतिके बाईं ओर बैठकर उस बालकको पतिके हाथमें दे दे और फिर पतिके पीछेसे घूमकर उसके सामने आ खड़ी हो। तब पति यथानिर्दिष्ट मन्त्र पढ़कर बालकको पत्नीके हाथमें सौंप दे और तब हवन करके नामकरण करे। इसके लिये विधान यह है कि बालकका पिता अपनी पत्नीको अपने बाएँ बैठाकर पत्थरकी पाटीपर दो रेखाएँ खींचकर उसमें उज्वल दीप जलावे और फिर उस बालकके कानमें कहे 'आप श्री अमुकदेव शर्मा' (ब्राह्मणके लिये), 'अमुकत्राता वर्मा' (क्षत्रियके लिये), 'अमुकभूति गुप्त' (वैश्यके लिये), और 'अमुकदास' (शूद्रके लिये) हो। और कन्याके कानमें आप 'श्री अमुकीदेवी' हैं—कहे।

अन्नप्राशन

पुत्रका अन्नप्राशन जन्मसे छठे या आठवें मासमें करना चाहिए और कन्याका पाँचवें या सातवें मासमें। इस संस्कारमें शिशुको स्नान

कराकर, उत्तम वस्त्राभूषण पहनाकर और मन्त्र-पाठके साथ बालकके मुँहमें सोने या चाँदीके पात्रसे अन्न खिलाते हैं और फिर बालकके सामने लेखनी, पुस्तक और शस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ रख देते हैं। बालक उनमेंसे जिस वस्तुको पहले स्पर्श करे, उससे समझना चाहिए कि यही इसकी जीविकाका आधार होगा।

चूड़ाकरण

चूड़ाकर्म या मुण्डन-संस्कारमें बालकके गर्भके बाल मुँड़वाकर चोटी रखवाई जाती है। यह गर्भाधानसे या जन्म-दिनसे तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्षमें करना चाहिए। किन्तु मनुने पहले वर्षमें भी चूड़ाकर्मका विधान बताया है। इसमें अनेक प्रकारके मन्त्रोंके साथ नाईको छुरा दिया जाता है और वह शिखा रखकर शेष बाल मूँडकर गोबरके पिण्ड॰ में रखकर किसी नदी या सरोवरमें डाल देता है।

उपनयन

शिक्षाकी दृष्टिसे उपनयन संस्कारका सबसे अधिक महत्त्व है क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका दूसरा जन्म ही उपनयनसे होता है। आगे यथास्थान हम इसका विस्तृत विवरण दे रहे हैं।

विवाह-संस्कार

यह संस्कार सर्व-विदित है अतएव इसके सम्बन्धमें इतना ही कहना आवश्यक है कि जब पुरुष पचीस वर्षका हो जाय और कन्या सोलह वर्षकी हो जाय तब ब्राह्म या प्राजापत्य विधिसे विवाह करना चाहिए।

संस्कारोंका महत्त्व

आज-कल इन संस्कारोंमेंसे केवल नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन और विवाह पाँच संस्कार ही होते हैं। इनमें भी लौकिक आचार इतना प्रविष्ट हो गया है कि मूल आचार और उसका विधान लुप्त हो गया है। किन्तु इस विवरणसे यह समझनेमें सुविधा होगी कि

आर्य लोग गर्भस्थ बालकको पूर्ण तेजस्वी युवक बनानेमें कितने सावधान, सचेष्ट और क्रियाशील होते थे। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि वे समाजमें जन्म लेनेवाले प्रत्येक बालकको तेजस्वी, शुद्धान्तःकरण और दिव्य बनानेके लिये और गर्भके समयसे ही उसके आन्तरिक संस्कारके लिये कितने प्रयत्नशील थे।

५

शिक्षाका प्रारम्भ

माताकी पाठशाला

हमारे यहाँ बालकका पहला विद्यापीठ माताका गर्भ माना जाता था। इसीलिये गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारोंमें गर्भस्थ बालकके कल्याणके साथ-साथ उसके तेज, पराक्रम, मेधा आदिके संवर्द्धनकी कामना की जाती थी। चरकने स्पष्ट रूपसे गर्भिणी माताके आहार-विहारका विवरण देकर यह समझाया है कि अमुक प्रकारके आहार-विहारसे अमुक प्रकारका बालक उत्पन्न होता है। वे मानते हैं कि गर्भकालमें बालक सीखता भी है जैसे अभिमन्युने व्यूह-भेदनकी कला गर्भमें ही सीख ली थी। उत्पन्न होनेके पश्चात् भी माता ही बालकका प्रथम गुरु होती है। वह नित्य समयसे उठने, सबको अभिवादन करने, बड़ोंके प्रति आदर दिखाने, उचित संस्कारके साथ उठने-बैठने, बोलनेका अभ्यास करा देती है और यह शिक्षा दो या तीन वर्षतक चलती रहती है।

पिता-गुरु

माताके पश्चात् बालकका दूसरा गुरु पिता होता है जो पाँच वर्षकी अवस्थातक बालकमें सामाजिक तथा धार्मिक आचार-व्यवहार, पास-पड़ोसियोंके प्रति सद्भाव और आदर तथा अपने पैतृक व्यवसाय और कर्मका प्रारम्भिक संस्कार डाल देता है जिससे बालकको सामाजिक जीवनमें सज्जनोचित व्यवहार करनेका तथा अपने पिताके व्यवसायका ऊपरी परिचय प्राप्त हो जाता है। इसी अवस्थामें या तो पिता ही अक्षर-ज्ञान और अंक-ज्ञान करा दे अथवा बालकको चटशालामें भेजकर अक्षर-ज्ञान करा दे जहाँ वह अपने गुरुके प्रति आदर

और साथियोंके प्रति स्नेह, सहयोग, सेवा तथा सद्भावनाका अभ्यास करता चले।

विद्यारम्भ संस्कार

विद्यारम्भ संस्कारसे पहले ही यद्यपि माता पिता बहुत सी शिक्षाका श्रीगणेश कर चुके रहते हैं किन्तु बाह्य दृष्टिसे विद्यारम्भ ही शिक्षाका प्रथम संस्कार है। [विद्यारम्भ, अक्षर स्वीकरण या अक्षरारम्भ संस्कार प्राय पाँचवें वर्षमें किया जाता है अन्यथा उपनयनसे पूर्व भी कभी कभी कर दिया जाता है। बृहस्पति आदि स्मृतियोंमें लिखा भी है।

"द्वितीय-जन्मनः पूर्वमारभेदक्षराणि सुधीः।"

[बुद्धिमानको चाहिए कि बच्चेके दूसरे जन्म (उपनयन) से पूर्व उसे अक्षर शिक्षा दे।] इस संस्कारके लिये उत्तरायणमें किसी शुभ दिन बालकसे उसके कुल देवता, इष्ट देवता, सूत्रकार, सरस्वती और गणराजकी पूजा कराई जाती थी। देवताओंकी पूजाके पश्चात् गुरु अर्थात् खण्डिकोपाध्याय या पाधाजीकी पूजा की जाती थी। प्राय इतना काम कुल पुरोहित ही निपटा देते थे। ये गुरुजी, चावल बिछाकर, बालकका हाथ पकड़कर, चावलके ऊपर सोने या चाँदीकी लेखनीसे 'श्रीगणेशाय नमः' से प्रारम्भ करके पूरी वर्णमाला लिखवा जाते थे और फिर शिक्षक तथा निमन्त्रित ब्राह्मणोंको यथाशक्ति दक्षिणा देकर संस्कार पूर्ण किया जाता था।] विद्यारम्भकी यह प्रथा बहुत पीछेकी प्रतीत होती है। जैनोंमें भी ऐसी प्रथा थी और वहाँ 'श्रीगणेशाय नमः' के बदले 'ॐ नमः सिद्धम्' चल पड़ा था। वैदिक कालमें तो इस संस्कारकी पूर्ति उपनयनमें ही हो जाती थी। पीछे बौद्धकालमें और उसके अनन्तर जब व्यापक रूपसे गुरुकुल उजड़ गए तभी यह प्रथा प्रारम्भ हुई और जब क्रूर मुसल्मान शासकोंने सम्पूर्ण हिन्दू पाठशालाएँ ही नष्ट कर दीं तब इस संस्कारका वास्तविक महत्त्व बढ़ गया।

लिखनेकी शिक्षा कब प्रारम्भ हो?

अर्थशास्त्रके अनुसार राजपुत्रोंकी शिक्षा चौल-संस्कार (मुण्डन)से होनी चाहिए—

"वृत्तचोलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत ।"

[मुण्डन कराकर लिखना और गिनती सिखानी चाहिए ।]

रघुवंशमें भी यह वर्णन मिलता है कि रघुने मुण्डनके पश्चात् वर्णमाला लिखना सीखा था और उसके साथ-साथ अमात्योंके पुत्रोंने भी अक्षर-ज्ञान प्रारम्भ किया था—

स वृत्तचौलः चलकाकपक्षकै रमात्यपुत्रै: सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदी मुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥३-२८॥

[रघुने मुण्डन कराकर घुँघराले चंचल बालोंवाले समवयस्क मंत्रिपुत्रोंके साथ लिखना सीखकर साहित्य और शास्त्रमें उसी प्रकार प्रवेश पा लिया जैसे कोई नदीके मुहानेसे समुद्रमें प्रवेश कर जाय ।]

उत्तररामचरितमें भवभूतिने लिखा है कि वाल्मीकिने लव-कुशकी शिक्षा उनके मुण्डनके पश्चात् प्रारम्भ कर दी थी और दोनों भाइयोंने उपनयनके पश्चात् वेदका अध्ययन प्रारम्भ करनेसे पूर्व ही बहुतसे शास्त्र सीख लिए थे ।

निवृत्तचौलकर्मणोश्च तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन मनसा परिनिष्ठापिताः । अङ्क २ ।

[मुण्डन कराकर उन दोनोंको वेद छोड़कर शेष तीनों विद्याएँ सावधानीसे सिखा दीं ।]

चटशाला (प्रारम्भिक पाठशाला)

जिस प्रकार राज्यकी ओरसे व्यवस्थित प्रारम्भिक पाठशालाएँ (प्राइमरी स्कूल) आजकल हैं उस प्रकारकी देशव्यापी प्रारम्भिक पाठशालाएँ भारतमें नहीं थीं किन्तु सभी नगरोंमें तथा जिन गाँवोंमें उच्च वर्णके (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) लोग रहते थे उनमें पाधाजी, (ब्राह्मण अध्यापक, जिसे पतञ्जलिने दंडिकोपाध्याय कहा है) चटशाला

खोलकर तीनों वर्णोंके बालकोंको अक्षर ज्ञान और संस्कार-ज्ञान कराते थे। ललितविस्तरमें विस्तारसे लिखा है कि विक्रमसे छठी शताब्दी पूर्व गौतम बुद्धने प्रारम्भिक शिक्षाके लिये चटशालामें जाकर नीतिशिक्षाके साथ लिखना, गिनती और गणित सीखा था। भागवतपुराणमें भी लिखा है कि हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादको गुरु षण्डामर्ककी चटशालामें पढ़ने भेजा था जहाँ अन्य बालक भी पढ़ते थे। पुराणों, इतिहासों और कथाओंमें स्थान-स्थानपर ऐसी चटशालाओं (चटसारों) का बहुत विवरण मिलता है। इन्हीं पाठशालाओंमें शिक्षा पा चुकनेपर बालकोंको गुरुकुलमें और गुरुकुलके अभावमें नगर या तीर्थस्थित पाठशालामें अथवा काशी, कश्मीर, उज्जैन, तक्षशिला जैसे विद्या-नगरोंमें भेज देते थे। ये विद्यालय खुले वायुमें, वृक्षोंके तले या वर्षा-धूपमें मड़ैयोंमें लगते थे।

चटशालाओंकी पाठन-प्रणाली

इन चटशालाओंमें पढ़ानेका ढंग प्राय वही था जो आजकल है। प्रारम्भमें वर्णमालाके-वर्ण क्रमसे सब अक्षर रटा दिए जाते थे और उस अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दसे उसका सम्बन्ध जोड़ दिया जाता था जैसे—अ से अनार, आ से आम, इ से इमली आदि। शिक्षाकी आर्थिक समस्याका समाधान करते हुए उन्होंने यह विधि अपनाई थी कि धरतीपर बालू बिछाकर बालककी उँगली पकड़कर या हाथमें छोटी छोटी पतली लकड़ी देकर बालूपर लिखवाते चलते थे। आगे चलकर फिर खड़ियासे लकड़ीकी पटरीपर लिखवाते थे क्योंकि पटरीके प्रयोगका उल्लेख उपनयन संस्कारके प्रसंगमें भी मिलता है। इसके पश्चात् बालक घुली हुई खड़ियामें सरकण्डे या नरकुलका कलम डुबोकर पटरीपर लिखता था या मुलतानी मिट्टी पुती हुई पटरीपर या ताड़पत्रपर गोल नोकवाले लोहेके तकुएसे अध्यापक अक्षर बना देता था तब छात्र नरकुलके कलमसे उसपर स्याही फेरता था। अन्तमें जब उसका लिखनेका अभ्यास पक्का हो जाता था तब वह स्वयं या तो पटरीपर लिखता था या बाँसके

फरेशें और ताडके पत्तोंपर लोहेके कलमसे लिखकर उसपर काली मसी या नागफनीकी पकी फलीका लाल रस फेर देता था जिससे खुदे हुए अक्षर काले या लाल होकर चमक उठते थे। अलग अलग अक्षरोंका अभ्यास करके वह संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास करता था और तब क्रमशः शब्द और वाक्य सीख लेता था। इन सब चटसारोंमें एक ही अध्यापक होता था जो अवसर या आवश्यकता पड़नेपर बड़ी कक्षाके अग्रणी (विशेष छात्र या मॉनीटर) की सहायता भी ले लेता था। यह शिष्याध्यापक-प्रणाली छात्रोंमें विनय-स्थापनकी दृष्टिसे तथा आर्थिक दृष्टिसे अत्यन्त हितकर और उपयोगी सिद्ध हुई इसीलिये डा. एण्ड्र बेलने इसका प्रचार इंगलैंडमें सफलतापूर्वक किया।

टोल

इसीसे मिलती-जुलती बंगालकी टोलें थीं। टोलकी रचना इस प्रकार की जाती थी कि एक क्षेत्रके बीच एक खुली मड़ैया डाल दी जाती थी जिसमें पण्डितजी अपने शिष्योंको पढ़ाते थे। उस मड़ैयाके तीन ओर लम्बे लम्बे मिट्टीकी दीवारोंकी फूससे छाई हुई झोपड़ियाँ होती थीं जिनमें

अत्यन्त सरलताके साथ अत्यल्प सामग्री लेकर छात्र रहते थे। सब छात्र अलग अलग कोठरीमें रहते थे और किसीके पास भी लोटा, चटाई, कंबल, अंगोछे और लँगोटेके अतिरिक्त कोई परिवाप (फ़र्नीचर या बिस्तर-चार्पाई) नहीं होता था अर्थात ये आवास-विद्यालय (रेज़िडेंशल स्कूल) ही थे। प्रायः गृहस्थ पण्डित यहाँ रहते तो नहीं थे किन्तु पूरे दिनभर वे टोलमें ही आकर पढ़ाते-लिखाते और देखरेख

करते थे। इन टोलोंमें किसी छात्रसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। साधारणत. गाँवके लोग इन छात्रोंको अन्न वस्त्र देते रहते थे किन्तु कभी कभी पण्डितजीको ही अपने शिष्योंके लिये अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करनी पड़ती थी। तत्स्थानीय धनिक तथा भूमिपति स्वय उनके पास आकर अन्न और धन दे जाते थे और इसे अत्यन्त पुण्य समझते थे क्योंकि पण्डित लोग किसी पापी या मूर्खका अन्न-धन नहीं स्वीकार करते थे। प्राय.प्रत्येक टोलमे लगभग पचास छात्र रहते और पढ़ते थे। अँगरेजोंके आगमन पदार्पणसे पूर्व केवल बंगालमें ऐसी अस्सी सहस्र (८००००) टोलें थी जिन्हें अँगरेज थोड़े ही समयमें हड़प गए।

पाठशाला

चटशालाओं और टोलोंमें कुछ ऊँचे मानके विद्यालयोंको पाठशाला कहा जाता था जो वर्तमान हाइ स्कूलके समकक्ष होती थी। कोई लब्धप्रतिष्ठ अध्यापक स्वय अथवा किसी विद्या प्रेमी शासककी प्रार्थना पर सर्वसाधारणके बालकोंको उच्चतर शिक्षा देनेके लिये पाठशाला खोल देता था जिसमें व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, दर्शन, वेद, तथा आयुर्वेदके साथ साहित्य, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा धनुर्वेद आदि विषय भी अध्यापक की योग्यताके अनुसार पढ़ाए जाते थे। जो आचार्य जिस विषयका विद्वान् होता था उसी या उन्हीं विषयोंको वह पढ़ाता था। ऐसे ही विभिन्न विद्याओं, शास्त्रों और कलाओंके विद्वानोंने एकत्र होकर, काशी, तक्षशिला, उज्जयिनी, धार, नवद्वीप (नदिया) आदि स्थानोंको विद्या केन्द्र बना दिया था जहाँ दूर दूरसे छात्र जाकर अनेक विद्वानोंसे अनेक विद्याएँ सीखते थे। ये पाठशालाएँ गुरुओंके घर ही लगती थीं और ये गुरु अपने शिष्योंको विद्याके साथ अन्न वस्त्र भी देते थे। जैसे योरोपमें सम्राट् शार्लमाग्नेने प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री अल्कूयिनकी सहायतासे प्रासाद विद्यालय खोल दिए थे वैसे ही कुछ विद्या व्यसनी शासक किसी प्रतिष्ठित विद्वान्को बुलाकर राजपुत्रोंको शिक्षा दिलानेके लिये प्रासाद-विद्यालय खोल देते थे जैसे धृतराष्ट्रने अपने पुत्रों और

भतीजोंके लिये द्रोणाचार्यको नियुक्त किया था। किन्तु इनमें भी प्रथा यही थी कि राजपुत्र शिष्य भी गुरुके पास ही जाकर पढ़ते थे, गुरु उनके पास जाकर नहीं पढ़ाता था। कहीं-कहीं राजपुरोहित ही राजगुरु होते थे जैसे वशिष्ठजी थे। वहाँ भी राजपुत्रको ही गुरुके घर जाकर पढ़ना पड़ता था।

शिक्षागुरु और दीक्षागुरु

इन गुरुओंमें आगे चलकर दो भेद हो गए—एक शिक्षागुरु दूसरे दीक्षागुरु। जो केवल विभिन्न शास्त्र पढ़ाता था वह शिक्षा-गुरु कहलाता था और जो उपनयनके पश्चात् छात्रको अपने साथ रखकर उसे आचार-विचार सिखाता था वह दीक्षागुरु कहलाता था। प्रारम्भकी ऐसी वैदिक पाठशालाओंमें विभिन्न शास्त्र (षड्दर्शन) और आयुर्वेद आदि विज्ञान सिखाए जाने लगे और फिर धीरे धीरे पौरोहित्य, कर्मकांड (यज्ञ करानेकी विधि), व्याकरण, धर्मशास्त्र तथा स्मृति (राजनीति) और ज्यौतिष भी पढ़ाया जाने लगा। श्रावणकी पूर्णिमासे फाल्गुनकी पूर्णिमातक इनका वर्षसत्र चलता था। विनय इतना व्यापक था कि दंडका पूर्ण अभाव था।

परिषद्

प्राचीन भारतमें विचारकी सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था परिषद् थी। ये परिषदें इने-गिने विशिष्ट विद्वानोंकी गोष्ठियाँ थीं जो समय समयपर सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक समस्याओंपर विचार करके समय, नीति धर्म और औचित्यके अनुसार व्यवस्था या निर्णय देती थीं और इनकी दी हुई व्यवस्था समान रूपसे राजा और प्रजा दोनोंको मान्य होती थीं। जब भी कोई धार्मिक या सामाजिक समस्या या अड़चन उपस्थित होती थी तभी परिषद्की बैठक होती थी और विद्वान् लोग अपनी व्यवस्था दे देते थे। इन परिषदोंके सब सदस्य विशिष्ट विद्वान् अध्यापक ही होते थे और वे धर्म, समाज और राजनीतिपर उसी प्रकार शासन करते थे जैसे यूनानमें अध्यापक (पैदागौग) ही राज-

सीमित (ईसानाग) हो गए थे। धीरे-धीरे इन विशिष्ट विद्वानोंकी विद्वत्ता, निरीहता, आत्मत्याग और सुशीलताने आकृष्ट होकर अनेक विद्वान और छात्र इनके पास अध्ययन करने या शंका-समाधान करने आने लगे और धीरे धीरे इन परिषदोंने महागुरुकुलों या सामान्य विश्वविद्यालयोंका रूप धारण कर लिया।

इन परिषदोंमें प्रायः इक्कीस ब्राह्मण सदस्य होते थे जो वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र और नीतिके प्रकांड पण्डित होते थे। किन्तु यह कोई बँधी हुई संख्या नहीं थी। आदर्श संख्या तो दस थी पर यह आवश्यकताके अनुसार घटकर चार तक भी आ गई थी। परिषद्के सदस्योंमेंसे चार तो सब वेदोंके ज्ञाता होते थे। शेष विभिन्न शास्त्रों तथा धर्मशास्त्रोंके पण्डित होते थे। कभी कभी तो विभिन्न आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास)के प्रतिनिधि ही परिषद्के सदस्य होते थे और इस प्रकार विद्वानोंके साथ ब्रह्मचारी भी यह सम्मान प्राप्त करता था और अपने आश्रमकी समस्याओंपर अपना स्पष्ट मत देता था। इस श्रेणीका विद्याकेन्द्र एक काशी और दूसरा गांधारकी राजधानी तक्षशिला नगर था जो वर्त्तमान रावलपिंडी नगरके पास समवस्थित था और अपने समयमें ब्राह्मण विद्या या वैदिक विद्याका वैसा ही सर्वप्रमुख गढ़ था, जैसे ज्योतिषके लिये उज्जैन और बौद्ध शिक्षाके लिये नालन्दा।

६

उपनयन और गुरु

जाति-स्वभाव

वर्णाश्रम-धर्मकी व्याख्या करते हुए बताया जा चुका है कि प्रत्येक द्विजाति-बालकको जीवनके प्रथम पचीस वर्ष गुरुकुलमें बिताने पड़ते थे। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें यह बताया गया है कि विभिन्न वर्णोंके कुछ निश्चित स्वभाव हैं जो उचित विकासका अवसर प्राप्त करनेपर ही उचित रूपसे खिल पाते हैं। उसमें बताया गया है कि शम (इच्छाओंको समाप्त करना), दम (इन्द्रियोंको वशमें रखना), तप (शरीरको सहनशील बनाकर जीवात्माकी शुद्धि करना), शौच (शारीरिक और मानसिक शुद्धि), सन्तोष, क्षमा, सरलता (निश्छल होना), ईश्वर-भक्ति, दया और सत्य-व्यवहार ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं; अर्थात् ब्राह्मणको इस प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा दी जाय कि वह इस स्वभावको पूर्णतः अपना ले। तेज (प्रताप), बल, धैर्य, शूरता, सहनशीलता, उदारता, उद्यम, दृढ़ता, ब्राह्मणोंमें भक्ति और ऐश्वर्य, ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। क्षत्रियोंकी शिक्षा इस प्रकारकी होनी चाहिए कि उनमें उपर्युक्त विचार स्थिर हो सकें। आस्तिकता (ईश्वरमें विश्वास), दानशीलता, दम्भहीनता, तन-मन-धनसे ब्राह्मणोंकी सेवा, धन संचय करनेकी निरन्तर प्रवृत्ति; ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं। वैश्योंको ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे अपने जातिगत स्वभावमें सम्पन्न हो सकें।

निश्छल भावसे गौ, देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा करना तथा जो मिले उसमें सन्तुष्ट रहना शूद्रका स्वभाव है।

अशुद्ध रहना, झूठ बोलना, चोरी करना, नास्तिकता, अकारण कलह करना, काम, क्रोध और लोभ करना; ये चाण्डाल, पुक्कस तथा अन्त्यज वर्णसंकर जातियोंके स्वभाव हैं। अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, काम और लोभसे दूर रहना, प्राणियोंका प्रिय और हित करनेकी चेष्टा करना; ये सब वर्णोंके लिये आवश्यक हैं।

उपनयनकी महिमा

इसी प्रसंगमें यह आदेश दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके छात्रोंको चाहिए कि गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारोंके उपरान्त क्रमशः यज्ञोपवीत या उपनयन नामका दूसरा जन्म होनेपर जितेन्द्रिय और नम्र होकर गुरुकुलमें वास करें। स्मृतियोंमें भी उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रमकी बड़ी महिमा बताई गई है। उपनयनका सीधा अर्थ है पास ले जाना अर्थात् गुरुके पास ले जाना।

गृह्योक्त-कर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः।
बालो वेदाय तद्योगाद् बालस्योपनयं विदुः॥

उपनयनका काल

धर्मशास्त्रमें यह बताया गया है कि साधारणतः गर्भाधानके आठवें वर्षमें ब्राह्मणका, ग्यारहवेंमें क्षत्रियका और बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन संस्कार करना चाहिए। किन्तु यदि ब्राह्मण अपने पुत्रको ब्रह्म-तेजसे युक्त बनाना चाहे तो पाँचवें वर्षमें, यदि क्षत्रिय अपने पुत्रको बल-शाली बनाना चाहे तो छठे वर्षमें, यदि वैश्य अपने पुत्रको अत्यन्त धनी बनाना चाहे तो आठवें वर्षमें अपने पुत्रका उपनयन करे। यदि यह न हो सके तो ब्राह्मणका सोलहवें वर्षसे पहले, क्षत्रियका बीसवें वर्षसे पहले और वैश्यका चौबीसवें वर्षसे पहले उपनयन हो ही जाय नहीं तो वे पतित हो जाते हैं और प्रायश्चित्त करनेपर ही गायत्री मन्त्रके अधिकारी होते हैं। गुरुसे गायत्री-मन्त्र ग्रहण करनेपर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकका दूसरा जन्म होता है और वे सब दोषोंसे छूट जाते हैं।

उपनयनकी विधि

उपनयनके समय आए हुए बालकका नाम पूछकर गुरु उसे दीक्षित कर लेता है और वर्णके अनुसार उसे ओढ़नेको मृगछाला, धारण करनेको दण्ड, यज्ञोपवीत और मेखला देता है। इसके लिये विधान है कि ब्राह्मणको कृष्णसार मृगका, क्षत्रियको रूरु मृगका और वैश्यको बकरेके चर्मका उत्तरीय(ऊपरका ओढ़ना) ओढ़नेको देना चाहिए। इसी प्रकार ब्राह्मणको सनका, क्षत्रियको रेशमका और वैश्यको भेड़के बालका लँगोटा या अचला (अधोवस्त्र) पहननेको देना चाहिए। ब्राह्मणकी मेखला मूँजकी, क्षत्रियकी ताँतकी (कुछ लोगोंके मतमें मुरवा नामक लताकी) और वैश्यकी सनमें बनी होती थी। इसी प्रकार ब्राह्मणको कपासका, क्षत्रियको सनका और वैश्यको भेड़के बालका उपवीत पहनाया जाता था। ब्राह्मणको बेल या पलाशका दण्ड दिया जाता था। वह उसकी चोटीके बराबर ऊंचा होता था। क्षत्रियका दण्ड वट या खैरका होता था जो उसके ललाटतक ऊँचा होता था और वैश्यको पीलू या गूलरका दण्ड दिया जाता था, जो उसकी नाकके बराबर ऊँचा होता था।

गुरुकुल-जीवन

इन ब्रह्मचारियोंको विशेष प्रकारसे गुरुकुलमें जीवन यापन करना पड़ता था। उन्हें नित्य भिक्षाचरण करना पड़ता था और इसके लिये जब ब्राह्मण भिक्षा माँगने जाता था तब वह कहता था—'भवति भिक्षां मे देहि' क्षत्रिय कहता था— भिक्षां मे भवति देहि' और वैश्य कहता था—'भिक्षां मे देहि भवति'। भिक्षा लाकर सब शिष्य अपने गुरुको दे देते थे और फिर वे जो कुछ देते थे उसे वे पूर्वकी ओर मुँह करके पवित्र होकर भोजन करते थे।

ब्रह्मचारीको उपदेश

यज्ञोपवीतके समय ब्रह्मचारीको ये उपदेश दिए जाते थे—

"धरतीपर सोओ। खाँड़ और नमकीन पदार्थ न खाओ। दण्ड और मृग चर्म धारण करो। जंगलमें स्वयं गिरी हुई समिधा लाओ। साय-

प्रातः सन्ध्या-उपासना हवन करो। गुरुकी सेवा करनी चाहिए। भोजनके लिये सायं-प्रातः गाँव-नगरमें जाकर दो बार भिक्षा माँगनी चाहिए। मधु-मांस नहीं खाना चाहिए। डुबकी लगाकर नहीं नहाना चाहिए, किसी पात्रमें जल निकालकर नहाना चाहिए। कुशाके आसनपर तकिया लगाकर नहीं बैठना चाहिए। स्त्रियोंके बीच नहीं जाना चाहिए। झूठ नहीं बोलना चाहिए। बिना दिया हुआ कोई सामान नहीं लेना चाहिए। यम (अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) का पालन करना चाहिए। पहननेके वस्त्रोंको बिना धोये नहीं धारण करना चाहिए। फटे-पुराने वस्त्र नहीं पहनने चाहिएँ। किसीकी बुराई नहीं करनी चाहिए। बासी अन्न, मिठाई और पान नहीं खाना चाहिए। तेल, आँजन, जूता, छतरी और दर्पणका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

गुरु

हमारे यहाँ गुरुका अत्यन्त महत्त्व बताया गया है और यह कहा गया है कि जो निगुरे (बिना गुरुके) होते हैं उनका पानी पीना और भोजन करना निषिद्ध है यहाँतक कि उनका शव उठाना भी लोग पाप समझते हैं। यह कहा गया है कि जो व्यक्ति पुस्तकसे पढ़ता है और गुरुके पास जाकर नहीं पढ़ता है वह सभामें वैसा ही निन्दनीय समझा जाता है जैसे समाजमें कुल्टा स्त्री—

पुस्तक-प्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥

निर्गुणवादी सन्तोंने अपने उपदेशोंमें गुरुको ईश्वरसे भी बड़ा बताया है—

गुरु-गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी, गोविंद दियो बताय॥

हमारे यहाँ भी गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और साक्षात् परब्रह्म, ब्रह्मका दर्शन करानेवाला और अज्ञान नष्ट करनेवाला बताया गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देव महेश्वर ।
गुरु साक्षात परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम ॥
अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन-शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम ॥

गुरुपदका अधिकारी

उन दिनों प्रत्येक व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता था। यह अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही था यहाँतक कि शस्त्रविद्या, युद्धविद्या तथा अर्थविद्या भी वे ही पढ़ाते थे। विश्वामित्र और परशुराम जसे कुछ तपस्वियोंने ब्राह्मणत्व सिद्ध करके अध्यापन कार्य किया था अन्यथा सान्दीपनि तथा द्रोणाचार्य जस ब्राह्मण आचार्य ही धनुर्वेदकी शिक्षा देत थे। हाँ, इतनी छूट अवश्य थी कि जबतक ब्राह्मण शिक्षक न मिले तबतक क्षत्रिय गुरुसे भी विद्या प्राप्त की जा सकती थी और ब्रह्मज्ञान तो किसी भी वर्णके अधिकारीसे प्राप्त किया जा सकता था।

चार प्रकारके शिक्षक

स्मृतियोंमें चार प्रकारके शिक्षकोंका वर्णन है—

क—कुलपति।
ख—आचार्य।
ग—गुरु।
घ—उपाध्याय।

जो विद्वान् ब्रह्मर्षि एक साथ दस सहस्र मुनियों (विद्याका मनन करनेवाले ब्रह्मचारियों) को अन्न वस्त्र देकर पढ़ाता था वह कुलपति कहलाता था। जो विद्वान् अपने छात्रोंको कल्प (यज्ञकी क्रिया), रहस्य (उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता था वह आचार्य कहलाता था। जो विद्वान ब्राह्मण मन्त्र, और वेदाग पढ़ाता था था वह उपाध्याय कहलाता था और जो विद्वान् अपने छात्रोंको भोजन देकर वेद वेदाग पढ़ाता था वह गुरु कहलाता था। उस समय यह विश्वास था कि विद्या दानसे बढ़कर कोई दान नहीं है क्योंकि विद्या पढ़ानेसे एक जीवकी मुक्ति हो

जाती हैं। इसीलिये कहा गया है—

'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'।

[सब दानोंमें विद्याका ही दान सर्वश्रेष्ठ है]

—क्योंकि विद्यासे अमृतत्व प्राप्त होता है और विद्या वही है जो जीवको मुक्त कर दे—

विद्ययाऽमृतमश्नुते ।

सा विद्या या विमुक्तये ॥

इसीलिये अनेक त्यागी, निर्लोभी ब्राह्मण अत्यन्त श्रमपूर्वक, सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर, लोक कल्याणकी कामनासे छात्रोंको विद्या पढ़ाते थे और उनके पुनीत चरित्रसे प्रभावित होकर लोग अपने बालकोंको उनके पास ले जाते थे।

गुरुका सम्मान

गुरुका इतना सम्मान था कि राजाओंतकके पुत्र भी गुरुके घर, गुरुके पास रहकर पढ़ते थे। इसीलिये गुरुकुल वासका अधिक महत्व माना जाता था क्योंकि गुरुके पास पहुँचकर विद्यार्थी अपने घरका सुख और वैभव भूलकर अपने गुरुके घरका प्राणी बनकर रहता था। यही गुरुकुल वास कहलाता था।

७

गुरुकुल

स्थान

गुरुकुल आश्रम किसी नदी या विस्तृत स्वच्छ जलवाले सरोवरके पास, नगरके कोलाहलसे दूर किसी ऐसे वन या उपवनमें स्थापित किया जाता था जहाँ आश्रमकी गौओंके चरने, कुश और समिधा प्राप्त करने तथा विद्यार्थियोंके निवास, अध्ययन, व्यायाम और धनुर्विद्याके अभ्यास आदिके लिये पर्याप्त स्थान मिले तथा स्वच्छ जलवायु प्राप्त हो।

प्रवेश

ब्राह्मणके पुत्रको गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियके पुत्रको गर्भसे ग्यारहवें वर्ष और वैश्यके पुत्रको गर्भसे बारहवें वर्ष गुरुकुल पहुँचा दिया जाता था। यह संस्कार उपनयन या 'गुरुके पास पहुँचानेका संस्कार' कहलाता था। गुरुकुलमें शुल्क नहीं लिया जाता था। बालकसे गुरु पूछते थे— 'कस्य ब्रह्मचारी असि' (तुम किसके ब्रह्मचारी हो?)। वह कहता था—'भवत' (आपका)। फिर उसका नाम पूछा जाता था और वह भर्ती कर लिया जाता था।

पाठ्य क्रम

प्रत्येक बालकको कुछ सांस्कारिक, कुछ नैतिक, कुछ शारीरिक, कुछ व्यावहारिक और कुछ व्यावसायिक शिक्षा दी जाती थी। सांस्कारिक शिक्षाके अन्तर्गत तीन वेद (ऋक्, यजु और साम), वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और व्याकरण), दर्शन तथा नीतिशास्त्र पढ़ाया जाता था जो सभीको पढ़ना पड़ता था। अलग अलग वर्णके छात्रोंके लिये वेद और उन वेदोंकी अलग-अलग शाखाओंके अध्ययनका

विधान था। उसीके अनुसार सबको वेद और वेदांग पढ़ाए जाते थे।

नैतिक शिक्षा कुछ तो उपदेशसे और कुछ आश्रममें पारस्परिक सेवा, स्नेह और सहयोगके वातावरणसे ही प्राप्त हो जाती थी जिसमें छात्र यह सीखते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेलकर भी दूसरेको सुख पहुँचाना चाहिए और सहनशीलताका व्यवहार करना चाहिए।

शारीरिक शिक्षाके लिये प्राणायाम और व्यायामका विधान था। क्षत्रिय बालकोंको शारीरिक सपन्नताके लिये धनुष बाण, करवाल आदिके सचालन तथा अश्वारोहणकी शिक्षा भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त जगलसे लकड़ी लाना, नदीसे जल लाना, कुश, आरने और समिधा एकत्र करना आदि तो स्वत अनेक प्रकारकी व्यायाम क्रियाएँ थीं।

व्यावहारिक शिक्षाके निमित्त सध्याको साय हवनके पश्चात् सब अन्तवासियोंका इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, कथावार्ता, भौगोलिक वर्णन तथा नए समाचार सुना या बता दिए जाते थे जिससे छात्रोंका व्यावहारिक ज्ञान अभिनव बना रहता था। व्यावसायिक शिक्षा वर्णोंके अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मणोंको पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय पढ़ाए जाते थे। क्षत्रियको दण्ड नीति, राजनीति, सैन्य शास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि विषय पढ़ाए जाते थे और वैश्यको पशु पालन, कृषि शास्त्र, व्यवसाय शास्त्र, पढ़ाया जाता था। इन विषयोंके अतिरिक्त आयुर्वेद आदि विषयोंको सीखनेकी स्वतन्त्रता सभीको था। भागवत पुराणमे लिखा है कि श्रीकृष्णने चौसठ दिनोंमें चौसठ कलाएँ सीखी थीं। अत अनिवार्य विषयोंके अतिरिक्त सबको कोई भी विद्या सीखनेकी छूट थी। ललितविस्तरमे गौतमके सम्बन्धमें भी ऐसा ही विवरण है कि उन्होने भी अनेक विद्याएँ गुरुसे सीखी थीं। पचीस वर्षकी अवस्थातक तीनों वर्णोंकी विद्याएँ पूर्ण हो जाती थीं किन्तु ब्राह्मणोंको यह छूट था कि वे चाहे तो जीवन भर विद्यार्जन कर सकते थे—'यावज्जीवमधाते विप्र।'

विद्याओंके चार भाग

ऊपर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामके जो चार पुरुषार्थ गिनाए गए हैं उनकी सिद्धिके निमित्त सब विद्याओंको चार भागोंमें बाँट दिया गया था जिन्हें धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्षशास्त्र कहते हैं।

वेदोंका कर्मकाण्ड और तदन्तर्गत तदधीन सम्पूर्ण साहित्य 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत आता है। 'अर्थशास्त्र' या 'अर्थवेद' स्वयं एक उपवेद ही है जो अथर्ववेदके अधीन है और जिसके अन्तर्गत तथा अधीन सम्पूर्ण अर्थशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य है। 'कामशास्त्र' या 'कलाशास्त्र' का मूल सामवेद, गान्धर्व-वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य और तदन्तर्गत सम्पूर्ण कला-साहित्य है। मोक्षशास्त्रके अन्तर्गत वेदोंका ज्ञान-काण्ड और उपासना-काण्ड है और उसके अन्तर्गत समस्त दर्शन तथा सम्पूर्ण मोक्ष-साहित्य है।

यद्यपि अट्ठारह विद्याओंमें इन चारों रूपोंका समावेश हो जाता है तथापि कामशास्त्रमें कुछ विशेष विद्याएँ बताई गई हैं, वे हैं चौंसठ कलाएँ या महाविद्याएँ। यद्यपि उन चौंसठोंमेंसे अनेकका समावेश इन अठारहोंमें यत्र-तत्र हो चुका है तथापि किसी एक स्थानपर विशेष रूपसे इनकी सूची नहीं दी गई है। इनमें विनय और शिष्टाचार, अभिधान-कोश और छन्दोंका ज्ञान, काव्यकला, अनेक भाषाओंका ज्ञान इत्यादिका भी समावेश हुआ है।

दैनिक कार्य-क्रम

ब्राह्ममुहूर्त (पौ फटनेके समय)में उठना, नित्यकर्म (शौच, स्नान, संध्या)से निवृत्त होकर आश्रमके लिये कुश, जल, समिधा लाना, आश्रम बुहारना, गौएँ दुहना, हवन करना, दूध पीकर गुरुजीके पास जाकर हाथपर हाथ टेककर दाहिने हाथमें गुरुजीका दायाँ पैर और बाएँ हाथमें बायाँ पैर छूकर झुककर प्रणाम करना, चुपचाप बैठकर गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुनना, पाठ पूर्ण हो जानेपर गुरुजीकी आज्ञासे शंका-समाधान

करना, मध्याह्नमें पासके नगर या ग्राममें जाकर सिद्धान्न (पका हुआ शुद्ध अन्न) भिक्षामें लेना जिसमें कोई तामसी पदार्थ (प्याज, लहसुन, मांस, मदिरा आदि) न हो, भिक्षान्न लाकर गुरुजीको देना, उनका दिया हुआ लेकर भोजन करना, भोजनके पश्चात् प्रातःकाल पढ़े हुए पाठको आपसमें बैठकर विचारना, सन्ध्याको व्यायाम करना, गौ चराना, आश्रम शुद्ध करना, कुश, लकड़ी, समिधा और जल लाना, सायंकालकी नित्य क्रिया शौच सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर गौ दुहना, हवन करना और सायंकाल गुरुजीसे अथवा किसी अभ्यागत ऋषि मुनि या साधु विद्वान्‌से इतिहास, पुराण, कथा वार्त्ता सुनना, एक पहर रात गए सो जाना और दो ही पहर सोकर उठ जाना ।

शिक्षण विधि

प्रायः प्रश्नोत्तरी प्रणालीसे ही प्रधानतः शिक्षा दी जाती थी अर्थात् पढ़ा चुकनेके पश्चात् शिष्य प्रश्न करते थे और गुरुजी उत्तर देते थे । सब ज्ञान कण्ठस्थ कर लिया जाता था । शुद्ध उच्चारणका बड़ा महत्व था और यह महत्व साधारण ग्रामोपाध्याय या खण्डिकोपाध्याय भी समझते थे—

'उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तं करोति, खण्डिकोपाध्याय तस्मै चपेटां ददाति ।—महाभाष्य

[जो उदात्तके बदले अनुदात्त कर देता था, उसे खण्डिकोपाध्याय चाँटा जड़ देते थे]

व्याख्या प्रणाली

स्वयं अनुभवके लिये भी कभी कभी निर्देश कर दिया जाता था और गुरुके निर्देशानुसार छात्र अभ्यास करता हुआ ज्ञान प्राप्त करता चलता था । अधिकांश शिक्षा गुरुमुखसे ही व्याख्या प्रणाली द्वारा दी जाती थी अर्थात् गुरु ही स्वयं किसी शास्त्र या विषय लेकर उसकी स्वयं व्याख्या करते थे और छात्र केवल मूक और मौन श्रोता बनकर बैठे रहते थे । पाठ समाप्त हो चुकनेपर छात्र प्रश्न करते थे । जिन विषयोंकी व्यावहारिक शिक्षा अपेक्षित होती थी उनके लिये प्रायोगिक

शिक्षणकी भी व्यवस्था की जाती थी। हमारे यहाँ यह माना जाता था कि गुरुसे चौथाई ज्ञान मिलता है, दूसरा चौथाई स्वयं छात्र अपनी मेधासे पूरा करता है, तीसरा चौथाई वह साथियोंके साथ विचार करके सीखता है और शेष अपने आप समय-समयपर पूरा होता चलता है—

> आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
> पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु॥

शंका-समाधान और कंठाग्रीकरण

शिक्षण-पद्धतिमें इस बातपर विशेष ध्यान रक्खा जाता था कि अध्यापक या गुरु जो कुछ सिखावे या पढ़ावे उसे छात्र कण्ठ कर लें। इसीलिये पुस्तकोंके सहारे पढ़नेका क्रम ही बुरा समझा जाता था। शंका-समाधानकी प्रणालीसे यह अवसर ही नहीं रह पाता था कि छात्रके मनमें किसी प्रकारके ज्ञानका कोई भी भ्रम अवशेष रह जाय। इस शिक्षणके साथ साथ, पारस्परिक पाठ-विचार और मनन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता था। तैत्तिरीय उपनिषद्में कथा आई है कि वरुणने जब अपने पुत्र भृगुको अध्यात्म-सम्बन्धी विशेष ज्ञान दे दिया तब उससे कहा कि अब तुम स्वयं इसपर विचार करके, मनन करके इस विद्याको आत्मसात् करो।

छिद्रान्वेषणका निषेध

इस प्रकारके मनन, शंका-समाधान और पारस्परिक विवेचनकी पूर्ण स्वतन्त्रता होते हुए भी अनावश्यक आलोचना, छिद्रान्वेषण निरर्थक हठ-पूर्ण वाद-विवाद अथवा कुतर्कके लिये शिष्योंको कभी प्रोत्साहित नहीं किया जाता था क्योंकि शिक्षाका उद्देश्य ही था—जिज्ञासाको जागरित करना और विवेकका परिष्कार करना। यास्कने स्पष्ट रूपसे आज्ञा दी है कि जो शिष्य अपने गुरुमें दोष ढूँढ़े और अपने सहपाठियोंमें विद्वेष करे उसे शास्त्र कभी नहीं पढ़ाना चाहिए। स्मृतियोंमें ऐसे विद्यार्थियोंके लिये दण्ड और प्रायश्चित्तका विधान भी किया गया है।

पाठक्रम

उदानम् सूक्त (८१-८२) में बताया गया है कि व्यासजीने अपने शिष्य वैशम्पायन, सुमन्तु, पैल और जैमिनिको वेदकी शिक्षा देते हुए अपना पाठ्य क्रम यह रक्खा था कि पहले वे पाठके विषयका परिचय दे देते थे, फिर उसकी व्याख्या करते थे, तदनन्तर उसका उपसंहार होता था। इसीको क्रमशः पाठ, विधि और अर्थवाद कहते थे। उस समय व्याख्या और अर्थका बड़ा महत्त्व समझा जाता था। जो विद्यार्थी केवल विद्या कण्ठ कर लेते थे और उसका अर्थ नहीं जानते थे वे भारवाही पशु समझे जाते थे। दक्षस्मृतिमें भी वेदाध्ययनका क्रम पाँच प्रकारका बताया गया है—(१) वेदोंका महत्त्व स्वीकार करना, (२) ऊहापोह (तर्क-वितर्क करना), (३) अध्ययन, (४) सस्वर उच्चारण और (५) मनन। वाचस्पति मिश्रने दर्शनके अध्ययनका क्रम बताया है—(१) अध्ययन (शब्द सुनना), (२) शब्द (अर्थका बोध करना), (३) ऊह (तर्क वितर्क), (४) सुहृत्प्राप्ति (मित्र अथवा अध्यापक द्वारा समर्थन) और (५) दान (प्रयोग)। अपनी पुस्तक 'किस प्रकार सोचना चाहिए' (हाउ टु थिंक) में ड्यूई लगभग यही क्रम देता है—(१) प्रश्न और उसका स्थान, (२) व्यञ्जना और निर्वचन तथा (३) प्रयोग। कामन्दकने विस्तारसे अध्ययनका ढंग यह बतलाया है—

> शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> ऊहापोहार्थं विज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥

अर्थात् (१) शुश्रूषा (सुननेकी इच्छा), (२) श्रवण (सुनना), (३) ग्रहण (स्वीकार), (४) धारण, (५) ऊहापोह (तर्क वितर्क), (६) अर्थ विज्ञान (ठीक अर्थको समझना), और (७) तत्त्वज्ञान (यथार्थ बोध)।

शिक्षण-व्यवस्था—चार प्रकारके अध्यापक

विद्यालयमें कुलपति, आचार्य, गुरु और उपाध्याय, चार प्रकारके अध्यापक होते थे। जो दस सहस्र ऋषियों या ब्रह्मचारियोंको अन्नदान

आदि देकर पढ़ानेका प्रबन्ध करते थे वे कुलपति कहलाते थे। जो छात्रोंका यज्ञोपवीत करके उन्हें कल्प और रहस्यके साथ वेद पढ़ाते थे वे आचार्य कहलाते थे। जो जीविकाके लिये वेद या वेदांगके किसी एक अंगका अध्यापन करते थे वे गुरु कहलाते थे और जो बालकके सब संस्कार करके उसका अन्नादिसे पालन-पोषण करते थे वे उपाध्याय कहलाते थे।

शिष्य-गुरु प्रणाली (मौनिटोरियल सिस्टम)

आचार्य या गुरु तो सबसे ऊपरके वर्गके छात्रोंको ही पढ़ाते थे। ऊपरके छात्र अपनेसे नीचेके छात्रको पढ़ाते थे और वे अपनेसे नीचे-वालोंको। इस प्रकार वहाँ सब गुरु ही गुरु रहते थे और वही सचमुच गुरुकुल होता था क्योंकि केवल सबसे नीचेके वर्गमें ही छात्र रह जाते थे।

विनय और शील

उपर्युक्त व्यवस्थासे सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि पूरे गुरुकुलमें व्यापक रूपसे विनय और शीलकी भावना व्याप्त रहती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको गुरु समझकर मर्यादाका पालन करता था और शिष्य समझकर अपनेसे बड़ोंमें गुरु-भाव स्थापित करके अत्यन्त शील और शिष्टाचारका व्यवहार करता था। यही कारण था कि दुःशीलता, अविनय, दुष्टता, मारपीट, कलह आदिकी घटनाएँ वहाँ सुननेको नहीं मिलती थीं।

गुरु और शिष्य

गुरुका धर्म केवल पढ़ाना भर नहीं था। उसका यह भी धर्म था कि वह छात्रोंके आचरणकी रक्षा करे, उनमें सदाचारकी भावना भरे, उनकी योग्यताके संवर्धनमें योग दे, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी सर्वांगीण अभिवृद्धिमें सहायता करे, वात्सल्य-भावसे उनकी देखरेख करे, उनके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध करे, छात्रोंके रोगी होनेपर उनकी सेवा करे, जब वे विद्या प्राप्त

करने या शंका मिटाने आवें उसी समय उनकी शंकाका समाधान करे, उन्हें अपने घरका अपना बालक समझे अर्थात् उनमें शुद्ध पुत्र-भाव स्थापित करे और यदि वे बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जायँ तो इसे अपना गौरव समझे—

'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्राच्छिष्यात् पराजयः ।'

[सबसे विजयकी कामना करे किन्तु पुत्र और शिष्यसे पराजयकी ही इच्छा करे ।]

छात्र भी गुरुको पिता और देवता समझते थे । 'आचार्य देवो भव'-की उन्हें शिक्षा दी जाती थी । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी एक समान भावसे रहते थे । उनमें छोटे बड़े, राजा-रंक, धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं होता था । गुरुके एक-एक वाक्यको छात्र अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था, उनकी सेवा करनेमें वह सात्विक गौरव मानता था । वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और गुरुको प्रसन्न करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था । यही कारण था कि उस समयके सब छात्र एकसे एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे । गुरुकुलके छात्र अपने गुरुओंके पैर दाबते थे, उनके बर्तन माँजते थे, उनके लिये जल लाते थे, उनके इंगितपर सब सेवा-कार्य करते थे, उनका आदर करते थे । वे सदा गुरुजीके पीछे रहते थे । गुरु यदि पास बुलाते तो बाईं ओर खड़े होकर बात सुनते थे, वे यदि हाथमें कुछ लेकर चलते तो शिष्य उनके हाथसे ले लेते थे अर्थात् जितने प्रकारसे भी हो सकता था वे सेवा करते थे और अपने सामने गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होने देते थे ।

शूद्रोंको पंचम वेद (इतिहास, पुराण तथा नाट्य) सुनने पढ़नेका अधिकार था पर उनके लिये गुरुकुल नहीं थे ।

अनध्याय या छुट्टी

सब विद्यार्थी गुरुकुलमें ही रहते थे और तबतक घर नहीं लौटते थे

जबतक पूरी विद्या नहीं प्राप्त कर लेते थे, इसलिये जिस प्रकारकी छुट्टी आजकल होती है ऐसी कोई छुट्टी वहाँ नहीं होती थी। वहाँ विशेष अवसरोंपर अनध्याय होता था अर्थात् पढ़ाई बन्द कर दी जाती थी। किसी विशेष अतिथिके आ जानेपर, अष्टमी, चतुर्दशी और प्रतिपद्को पढ़ाई नहीं होती थी और यह माना जाता था कि—

'अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्यहन्ता चतुर्दशी।'

[अष्टमीको पढ़ानेवाले गुरुकी मृत्यु हो जाती है और चतुर्दशीको पढ़नेवाले शिष्यकी।] प्रतिपदाको रिक्तातिथि होनेके कारण अनध्याय रहता था। इसके अतिरिक्त चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, संक्रान्ति, वर्षा, विशिष्ट पर्वोत्सव, राजाका अभिषेक, राजा या किसी विशिष्ट पुरुषका अवसान, अन्तेवासीकी मृत्यु अथवा अन्य ऐसे अवसरोंपर ही अनध्याय होता था। इसके अतिरिक्त वर्षा, बिजली, मेघगर्जन, भूकंप आदि प्राकृतिक विषमताओं और उपद्रवोंपर भी अनध्याय होता था।

ब्रह्मचारीकी जीवन-चर्य्या

गुरुकुलमें ब्रह्मचारीको कुछ नियम पालन करने पड़ते थे— "गुरुके बुलानेपर निकट जाकर उनसे वेदाध्ययन करे और मनमें मनन-पूर्वक वेदका अर्थ विचारे। विद्यार्थी ब्रह्मचारीके लिये नियम था कि वह मौंजी, मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, यज्ञसूत्र और कमण्डलु धारण करे। शिर न मलनेके कारण स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, दन्तधावन करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुश धारण करे, स्नान, भोजन, हवन, जप, और मलमूत्र-त्यागके समय मौन रहे, नख न काटे और कक्ष तथा उपस्थके ऊपरके भी रोम न बनावे—वैसे ही बढ़े रहने दे। ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्यपात न करे। यदि स्वप्नावस्थामें असावधानतावश कभी आप-ही-आप वीर्यपात हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्री मन्त्रका जप करे। पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल दोनों संध्याओंमें

मौनावलम्बनपूर्वक गायत्री जपता हुआ अग्नि सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओंकी उपासना एवं सन्ध्यावन्दन करे। आचार्यको साक्षात् ईश्वर रूप समझे, साधारण मनुष्य मानकर गुरुकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उसकी किसी बात या व्यवहारको बुरा माने क्योंकि गुरु सर्वदेवमय हैं। सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा पाकर संयम भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे। नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर गुरुके निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे। गुरु चलें तो आप पीछे पीछे चले, गुरु सोवें तभी सोवें और गुरु लेटें तो आप पास बैठकर पैर दबाता रहे। जबतक पढ़ना समाप्त न हो तब-तक अस्खलित ब्रह्मचर्य व्रतको पालता हुआ पूर्णतः भोग त्यागपूर्वक गुरुकुलमें रहे। यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान् होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य) धारण करके अपना शरीर गुरुको अर्पण कर दे, अर्थात् जबतक जीवित रहे तबतक गुरुकी सेवामें रहकर अधिक अध्ययन करे और ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करे। ब्रह्मतेज-सम्पन्न, निष्पाप बाल ब्रह्मचारीको चाहिए कि अग्नि, गुरु, अपने आत्मा और सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड़ दे। गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि स्त्रियोंको न देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न हँसी ठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्र स्त्री पुरुषोंको देखे। शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, अर्चना, तीर्थसेवा तथा जप करे, अभक्ष्य पदार्थ न खावे, जिनसे बात नहीं करनी चाहिए और जिनको छूना न चाहिए उनसे न मिले, न बोले और न उनका स्पर्श करे, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखे और मन, वाणी और कायाका संयम पाले। ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं विशेषतः ब्रह्मचारीको इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इसी प्रकार

ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्मवासनाएँ तीव्र तापसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह ईश्वर-भक्त होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्याश्रमके पश्चात्

ब्रह्मचर्यके अनन्तर यदि आवश्यक विद्या पढ़ चुकनेपर गृहस्थाश्रममें जानेकी इच्छा हो, तो वेदके तात्पर्यको यथार्थ जान लेनेपर, गुरुको दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा लेकर अर्थात् समावर्तन-संस्कारपूर्वक ब्रह्मचर्य समाप्त करे। यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ बने और यदि अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण निष्काम हो तो वानप्रस्थ होकर वनमें बसे। यदि शुद्ध-चित्त, विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्यके पश्चात् संन्यास ले सकता है। यदि ईश्वर-भक्त हो तो उसके लिये अवश्य आश्रमी होनेका कोई विशेष नियम नहीं है; किन्तु यदि ईश्वरका अनन्य भक्त न हो, तो उसे अवश्य किसी न किसी आश्रमका अवलंब लेना चाहिए। किसी आश्रममें न रहनेसे अथवा पहले वानप्रस्थ फिर गृहस्थ, या पहिले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य, इस प्रकार विपरीत आचरणसे मनुष्य भ्रष्ट हो जाता है—कहींका नहीं रहता। जो गृहस्थ होना चाहे उसे उचित है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके अपने समान रूप, गुण और विद्यावाली, निष्कलंक कुलकी, शुभ लक्षणोंसे युक्त, अवस्थामें छोटी और अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे।

वर्षसत्र

गुरुकुलका वर्षारम्भ श्रावणसे समझा जाता था, यद्यपि जिस प्रकार आजकल जुलाईसे वर्षका आरम्भ होता है और मार्च, अप्रैल या मईतक चलता है वैसा उस समय नहीं था। केवल औपचारिक रूपसे गणना-मात्र करनेके लिये श्रावणमे शिक्षा-वर्ष प्रारम्भ किया जाता था।

दण्ड और ताड़ना

जहाँ विनय और शीलका इतना भव्य और उदात्त वातावरण हो

वहाँ दण्डका प्रश्न ही कहाँ उठता है। फिर भी ग्राम-पाठशालाओंमें कपड़े-के कोड़े, फटे हुए बाँसके टुकड़े या हाथसे पीठपर मारनेका विधान था और यह ताड़न बुरा नहीं समझा जाता था। बहुतसे छात्र ऐसे आ जाते थे जिनका कुल-शील संस्कार बहुत अच्छा नहीं होता था और वे आकर विद्यालय और गुरुकुलकी शान्तिमें विघ्न डालते थे, इसलिये कभी-कभी दण्डका प्रयोग आवश्यक हो जाता था। वैदिक आर्य लोग ताड़नाको आवश्यक समझते थे। उनका निश्चित मत था—

लालयेत्पञ्च - वर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र (शिष्य) मित्रवदाचरेत्॥

[पाँच वर्षतक पुत्रका लाड़-प्यार करे, दस वरसतक उसकी ताड़ना करे या उसे डाँट फटकारमें रक्खे पर जब वह सोलह वर्षका हो जाय तो पुत्रसे (या शिष्यसे) मित्रका सा व्यवहार करे।]

किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं, दण्डके अवसर बहुत कम आते थे।

प्रायश्चित्त

गुरुकुलोंमें बहुतसे अपराधोंके प्रायश्चित्तोंका भी विधान था। अनेक प्रकारके सज्ञान और अज्ञान अपराधोंके लिये अनेक प्रकारके प्रायश्चित्त करके छात्रगण आत्मशुद्धि करते रहते थे।

वातावरण

इस प्रकार गुरुकुलोंका वातावरण अत्यन्त शुद्ध सात्विक जीवनसे ओत प्रोत था। पारस्परिक स्नेह, सेवा, सहानुभूति, सत्संकल्प, तपस्या, ज्ञानार्जन, विद्यार्जन, आत्मत्याग, सहिष्णुता तथा विवेक शीलतासे भरा हुआ था। वहाँ छोटे-बड़े, ऊँच नीच, राजा रंक, धनी निर्धन किसी प्रकारका कोई भेद नहीं था। सब मिलकर समान भावसे रहते थे। सबका रहन सहन अत्यन्त सरल होता था। सबके पास कुशासन, कम्बल,

मृगचर्म, दण्ड, मेखला (ब्राह्मणके पास मूँजकी, क्षत्रियके पास ताँतकी और वैश्यके पास सूतकी), जलपात्र और खड़ाऊँके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होती थी। सारा जीवन खुले स्वच्छ प्राकृतिक वातावरणमें सक्रिय होकर व्यतीत करनेसे शरीरमें स्फूर्ति और दृढ़ता आती थी। प्राणायाम, हवन और तपस्यासे मुखपर तेज और शरीरमें कान्ति आती थी। सेवा तथा सहिष्णुतासे मनमें उदारता, आत्मत्याग और सत्संकल्पकी सृष्टि होती थी तथा वेद-शास्त्र आदिके अध्ययनसे बुद्धिमें विवेक प्रस्फुरित होता था। सबसे बड़ी बात यह थी कि छात्र सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त होकर अध्ययन करता था।

परीक्षा

उन गुरुकुलोंमें आजकल जैसी परीक्षा नहीं होती थी। प्रतिदिन जो कुछ गुरुजी पढ़ाते थे उसे वे अगले दिन सुनकर ही आगेका पाठ पढ़ाते थे अत. परीक्षा तो नित्य ही चलती रहती थी। इसके अतिरिक्त स्वयं छात्र ही आपसमें पाठ विचार करके अपनी-अपनी परीक्षा करते चलते थे और जहाँ कमी होती थी वहाँ पूरा करते चलते थे। शास्त्रार्थ-के रूपमें सामूहिक परीक्षा भी होती थी जिनमें एक ही गुरुकुलके छात्र दो श्रेणियोंमें विभक्त होकर एक पूर्व-पक्ष ग्रहण कर लेता था, दूसरा उत्तर पक्ष। इसमें एक गुरुजी मध्यस्थ हो जाते थे और शास्त्रार्थ हो जानेपर वे निर्णय देते थे कि किसका पक्ष प्रबल है और किसका निर्बल। जिसका पक्ष निर्बल होता था वह और भी उत्साह और लगनसे अध्ययन करनेमें लग जाता था और इस प्रकार उनमें सात्त्विक तथा स्वस्थ प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धिताका भाव उद्दीप्त होता था। कभी-कभी दो गुरुकुलोंके छात्रोंमें भी शास्त्रार्थ हुआ करता था। आज भी नागपंचमीके दिन काशीमें अनेक स्थानोंपर उसी प्रकार शास्त्रार्थ होते रहते हैं। इन परीक्षाओंके अतिरिक्त कौशल-परीक्षाएँ और बुद्धि-परीक्षाएँ भी होती थीं जैसे द्रोणाचार्यने वृक्षपर काठकी चिड़िया टाँगकर अपने

राजसी शिष्योंको उसकी आँख बेधनेको कहा था किन्तु केवल अर्जुन ही उसमें सफल हो पाए।

समावर्त्तन तथा गुरुदक्षिणा

विद्या प्राप्त कर चुकनेपर प्रत्येक छात्र स्नातक हो जाता था और वह विशिष्ट उपदेश लेकर विद्यालयसे विदा लेता था। इस विदाके संस्कारको समावर्त्तन अर्थात् 'अच्छे ढंगसे लौटना' कहते थे। इस समावर्त्तनके समय गुरु-दक्षिणा देनेकी भी परिपाटी थी अर्थात् प्रत्येक शिष्य अपने-अपने सामर्थ्यके अनुसार गुरुको कुछ देनेका संकल्प करता था। यदि गुरु ही कुछ माँग बैठें जैसे एक गुरुने बहुतसे श्यामकर्ण घोड़े माँगे थे तो शिष्य उसे पूरा करना अपना धर्म समझता था और जैसे भी सम्भव हो सकता, उस गुरुदक्षिणाके ऋणसे मुक्त होता था। यह गुरुदक्षिणा धनके रूपमें भी दी जाती थी और प्रतिज्ञाके रूपमें भी कि मैं अमुक काम करूँगा। कौत्सने दक्षिणामें साढ़ करोड़ स्वर्णमुद्राएँ गुरु वरतन्तुको दी थीं और कृष्णने गुरु सान्दीपनिके मृत पुत्रको जीवित किया था। उस समय साधारणतः किसी छात्रसे किसी प्रकार शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु फिर भी ऐसे कुछ छात्र अवश्य थे जो मासिक या वार्षिक शुल्कके रूपमें तो नहीं वरन् गुरुको तुष्ट करनेके लिये प्रचुर धन देते थे क्योंकि हमारे यहाँ विद्या प्राप्त करनेके चार ही उपाय बतलाए हैं—

> [गुरु शुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेनवा।
> अथवा विद्यया विद्या चतुर्थी नैव विद्यते ॥]

[गुरुकी सेवासे, भरपूर धन देकर या एक विद्याके बदले दूसरी विद्या सिखाकर विद्या सीखी जाती है, चौथा मार्ग ही नहीं है।]

समावर्त्तन

विद्याध्ययन हो चुकनेपर समावर्त्तनके समय गुरु अपने शिष्यको कुछ शिक्षाएँ देता था जिनका पालन करना सब धर्म समझते थे।

शिक्षासे पूर्व ब्रह्मचारीके हृदयको छूते हुए आचार्य कहता था कि मैं तुम्हारे हृदयको अपने व्रत (कर्त्तव्य या नियम) में लगाता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके साथ चले। मेरी वाणीको तुम एकमन होकर पालन करो, बृहस्पति तुम्हें मेरी ओर प्रेरित करें। इसके पश्चात् जब ब्रह्मचारी स्वीकार कर लेता था कि मैं आपका ब्रह्मचारी हूँगा और व्रत पालूँगा (व्रतोस्मि) तब उसे ये उपदेश दिए जाते थे—अस्पृश्यको नहीं छूना चाहिए। नाच-गाना-बजाना जहाँ होता हो उधर नहीं जाना चाहिए। स्वयं नहीं गाना चाहिए। यदि दूसरे अच्छा गीत गाते हों तो सुन लेना चाहिए। अगर कोई अघटित घटना घटे तो रातको दूसरे गाँव नहीं जाना चाहिए। जलाशय या कुएँ में नहीं झाँकना चाहिए। वृक्षपर चढ़ना, फल तोड़ना, सन्ध्या समय (प्रातःसायं) सोना, बुरे मार्गसे जाना, नंगे नहाना, पर्वत या गढ़ेको लाँघना, अश्लील अमंगल और दुःख पहुँचानेवाली बात कहना और उदय या अस्त होते हुए सूर्यको देखना आदि अनुचित कार्य नहीं करने चाहिएँ। वर्षामें अपनेको ढँककर चलना चाहिए। रातको तेल या घीका दीपक जलाकर भोजन करना चाहिए। जलमें परछाईं नहीं देखनी चाहिए। गंजी, पागल, पुरुष जैसी, नपुंसक, गर्भिणी आदि स्त्रियोंकी हँसी नहीं उड़ानी चाहिए।

गुरुकुलका पोषण

इतना सब विवरण प्राप्त करनेके पश्चात् स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि भोजनका प्रबन्ध तो भिक्षासे हो जाता होगा किन्तु इतने छात्रोंके वस्त्र और निवासका काम कैसे चलता होगा। इस सम्बन्धमें पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि इन गुरुकुलोंमें पक्के भवन नहीं होते थे। जंगलसे कुश, काँस, बाँस लकड़ीसे ही बड़े सुन्दर और दृढ़ आवास बना लिए जाते थे और यह सब काम भी छात्रगण स्वयं करते थे। फिर भी गुरुकुलके लिये गौएँ और उनकी

सेवाका प्रबन्ध चाहिए, ब्रह्मचारियोंके लिये वस्त्र चाहिए और उनके लिये बाहर आने-जानेकी भी व्यवस्था होनी चाहिए। इन सबकी सुविधाके लिये राजा और धनी लोग आकर धन दे जाया करते थे और बहुत-सा द्रव्य दानके रूपमें भी मिल जाता था। इस प्रकार अत्यन्त निष्काम भावसे जीवन बितानेवाले विद्या-वयोवृद्ध गुरुजन प्राचीन गुरुकुल चलाते थे, जिनका मान राजा भी करते थे।

८

कन्याओंकी शिक्षा

वैदिक कालमें स्त्रियोंका यज्ञोपवीत तो होता था किन्तु जिस प्रकारसे बालकोंके लिये गुरुकुल होते थे वैसे गुरुकुल कन्याओंके लिये नहीं थे। आचार्योंकी कन्याएँ स्वयं अपने पिताके साथ रहकर पढ़-लिख लेती थीं जैसे गार्गीने ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया था। कन्याओंके लिये यही विधान था कि वे अपनी मातासे, बड़ी बहनसे, साससे और पतिसे विद्या पढ़ सकती थीं।

कन्याके लिये शिक्षा आवश्यक

वैदिक आचार-सूत्रोंमें स्थान-स्थानपर यह विवरण आया है कि यह मन्त्र स्त्रीको पढ़ना चाहिए। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१-११) में लिखा है-

इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्।

[इस मन्त्रको पत्नी पढ़े। पत्नीके हाथमें वेद देकर उससे बँचवावे।]

गोभिलने स्पष्ट कहा है—

यमस्मृतिमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें कुमारियोंका उपनयन, वेदाध्ययन और गायत्री-ग्रहण संस्कार होता था—

पुरा कल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्री-वचनं तथा ॥

हारीत स्मृतिमें विवरण आया है कि सब स्त्रियोंके लिये वैदिक व्रत और शिक्षा अनिवार्य नहीं है किन्तु कुछ कन्याएँ अध्ययन और ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करती थीं किन्तु वे भिक्षाचरणके लिये घरसे बाहर नहीं जाती थीं—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्यो वध्वश्च । तत्र ब्रह्मवादिनीनां उपनयनं, वेदाध्ययनं, स्वगृहे भिक्षाचर्या इति ।

हेमाद्रिने आदेश दिया है—

"कुमारीको विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिए और धर्म तथा नीतिमें उसे निष्णात कर देना चाहिए क्योंकि विदुषी कन्या अपने और अपने पतिके लिये कल्याणकारिणी होती है । इसलिये केवल पढ़ी-लिखी कन्याका ही कन्या-दान करना चाहिए, यही सनातन मार्ग है । अपने पिता तथा पतिकी मर्यादा न जाननेवाली, पति-सेवाका ज्ञान न रखनेवाली तथा धर्माचरणसे अनभिज्ञ कन्याका कभी विवाह नहीं करना चाहिए ।"

विदुषी नारियाँ

हमारे इतिहासमें विश्ववारा, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, आत्रेयी, पौलोमी, गोधा, प्रजाया आदि मन्त्रद्रष्टी महिलाओं; गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी देवियों; सरस्वतीकी उपाधि धारण करनेवाली उभयभारति जैसी विदुषियों, तथा वड़वा, प्रतिथेयी, सुलभा आदि विचक्षण बुद्धि-सम्पन्न नारियोंका विस्तृत विवरण मिलता है । रामायणमें वाल्मीकिने लिखा है कि रामचन्द्रजीके अभिषेकके समय कौशल्याजी मन्त्र पढ़-पढ़कर हवन कर रही थीं; बालि-सुग्रीव-युद्धके समय तारा भी मन्त्रसे साथ स्वस्त्ययन कर रही थीं, तथा दण्डकारण्यमें सीताजीने रामके साथ इतिहास और धर्म-नीतिपर विचार-विमर्श किया था । महाभारतके

शान्ति-पर्वमें लिखा है कि राजा जनकको जब विराग हुआ तब उनकी पत्नीने उन्हें वेद शास्त्रके आधारपर गार्हस्थ्य-धर्मकी विशेषता समझाई थी। उसी पर्वमें जनकके साथ संवाद करते हुए सुलभाने योग, समाधि और मोक्षपर अत्यन्त विद्वत्ता-पूर्ण प्रवचन दिया है। इन उदाहरणोंसे प्रतीत होता है कि स्त्रियोंको अत्यन्त उच्च श्रेणीकी उदार शिक्षा दी जाती थी।

बौद्धयुगमें स्त्री-शिक्षा

बौद्धयुग-तक स्त्री शिक्षाका महत्त्व अधिक बढ़ चुका था। ललित-विस्तरमें लिखा है कि बुद्धने यह प्रण किया था कि मैं उसी कन्यासे विवाह करूँगा जो लेखन, काव्य और संगीत-कलामें निपुण हो, सर्वगुण-सम्पन्न हो और शास्त्रज्ञ हो। बौद्धोंकी थेरी-गाथामें बहुत-सी विदुषी अध्यापिकाओंका वर्णन आता है जिनमें धम्म-दिन्ना, मैत्रेयी, किसा गौतमी, थेरी सोमा (बिम्बिसारकी पुत्री), खेमा (बिंबिसारकी रानी) अनुपमा, सुजाता और नदाका विशेष उल्लेख है।

स्त्री-शिक्षाका विरोध

मीमांसाकार जैमिनिके समय ही आचार्य ऐतिशायनने स्त्रियोंके वैदिक अधिकारोंका विरोध किया था और यह विरोध स्मृतिकाल-तक इतना बढ़ गया कि विवाह ही उनका एकमात्र संस्कार समझा जाने लगा, शेष सब संस्कार समाप्त हो गए और यह व्यवस्था दी गई कि विवाह ही स्त्रियोंका उपनयन है, पति सेवा ही गुरु-कुलवास है और घरेलू धन्धे ही अग्निकर्म हैं।

स्त्री-शिक्षाका पाठ्यक्रम

वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें स्त्रियोंके पाठ्य-क्रमका विस्तारसे वर्णन किया है। विवाहित स्त्रियोंके कर्त्तव्योंका वर्णन करते हुए उन्होंने बताया है कि स्त्रीको फुलवारी लगाना, जड़ी-बूटी और शाक उपजाना, मक्खन और तेल निकालना, कताई-बुनाई करना, रस्सी बटना, नौकर-

नौकरोंका लेन-देन रखना, पशु पालना, बेचना-मोल लेना, अनेक प्रकारके भोजन-व्यंजन बनाना और शृंगार करना जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त स्त्रियोंको चौंसठ कलाएँ या महाविद्याएँ भी जाननी चाहिए। राजकुमारियोंको विशेष रूपसे शासन-संबंधी ज्ञान और सैनिक शिक्षा भी प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार हमारे प्राचीन कालमें स्त्रियोंकी शिक्षाके लिये बड़ा विस्तृत और महत्त्वपूर्ण विधान था।

कन्या-शिक्षाका विधान

कामशास्त्रके रचयिता वात्स्यायनने लिखा है कि कन्याओंको विवाहित मौसी, बड़ी बहन, सखी अथवा भुक्त साधुनी आदिसे निम्नलिखित चौंसठ कलाओं या महाविद्याओंका अभ्यास करके सिद्ध तथा सफल गृहिणी बनना चाहिए—

१. गीत (गाना)।
२. वाद्य (बाजा बजाना)।
३. नृत्य (गीतके साथ अंग-संचालन द्वारा भाव-प्रदर्शन)।
४. नाट्य (अभिनय)।
५. आलेख्य (चित्रकारी)।
६. विशेषकच्छेद्य (तिलकके साँचे बनाना)।
७. तण्डुलकुसुमावलि-विकार (चावल और फूलोंसे चौक पूरना)।
८. पुष्पास्तरण (फूलोंकी सेज रचना या बनाना)।
९. दशन-वसनाङ्गराग (दाँतों, कपड़ों और अंगोंको रँगना या दाँतोंके लिये मंजन, मिस्सी आदि, वस्त्रोंके लिये रंग और रँगनेकी सामग्री तथा अंगोंमें लगानेके लिये चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने तथा कलापूर्ण ढंगसे रचानेकी विधिका ज्ञान)।
१०. मणि-भूमिका-कर्म (ऋतुके अनुकूल घर सजाना)।
११. शयन रचना (बिछावन या पलँग बुनना, सजाना और बिछाना)।
१२. उदकवाद्य (जलतरंग बजाना)।

१३. उदकघात (जलक्रीड़ा या पानीकी चोटसे काम लेना जैसे पनचक्की, पिचकारी आदिसे काम लेनेकी विद्या)।

१४. चित्रयोग (अवस्था-परिवर्त्तन करना अर्थात् जवानको बूढ़ा या बूढ़ेको जवान करना या रूप बदलना)।

१५. माल्यग्रन्थ विकल्प (देव-पूजनके लिये या पहननेके लिये माला गूँथना)।

१६. केशशेखरापीड-योजन (सिरपर फूलोंसे अनेक प्रकारकी रचना करना या सिरके बालोंमें फूल गूँथना या मुकुट बनाना)।

१७. नेपथ्ययोग (देश-कालके अनुसार वस्त्र या आभूषण पहनना)।

१८. कर्ण-पत्रभंग (पत्तों और फूलोंसे कानोंके लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना)।

१९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़ा आदिसे फुलेल बनाना)।

२०. भूषण-योजन (सोने तथा रत्नके आभूषण सजाकर पहनना)।

२१. इन्द्रजाल।

२२. कौचुमारयोग (कुरूपको सुन्दर करना या मुँहमें और शरीरमें मलनेके लिये ऐसे उबटन बनाना जिनसे कुरूप भी सुन्दर हो जायँ)।

२३. हस्तलाघव—हाथ की सफाई, फुर्ती या लाग।

२४. चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, पूप और खानेके पकवान बनाना या सूप-कर्म)।

२५. पानक-रस रागासव-योजन (पीनेके लिये अनेक प्रकारके शर्बत, अर्क और मद्य आदि बनाना)।

२६. सूचीकर्म (सीना-पिरोना)।

२७. सूत्रकर्म (अनेक प्रकारके कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा काढ़ना तथा तागेसे अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाना)।

२८. प्रहेलिका (पहेली-बुझौवल और कहानी कहावत)

२९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अन्तिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे आरम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना)।

३०. दुर्वाचयोग (कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना)

३१ पुस्तक वाचन (उपयुक्त रीतिसे पुस्तकें बाँधना)।

३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना)।

३३. काव्य समस्यापूर्ति ।

३४ पट्टिका वेत्र बाण विकल्प (नेवाड़, बेंत या बाधसे चारपाई बुनना)।

३५ तर्कुकर्म (तकुआ सम्बन्धी सारे काम जैसे तकली, चर्खा)।

३६. तक्षण (बढ़ई, संगतराश आदिका काम करना)।

३७ वास्तुविद्या (घर बनाना, इंजीनियरिंग)।

३८ रूप्य रत्न परीक्षा (सोने चाँदी आदि धातुओं और रत्नोंको परखना)।

३९ धातुवाद (कच्चे धातुओंका साफ करना या मिले धातुओंको अलग अलग करना)।

४० मणिराग ज्ञान (रत्नोंके रंग जानना)।

४१ आकर ज्ञान (खानोंकी विद्या)।

४२ वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा तथा उन्हें रोपनेकी विधि।

४३ मेष कुक्कुट लावक युद्ध विधि (भेड़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि)।

४४ शुक-सारिका प्रलापन (तोता मैना पढ़ाना)।

४५. उत्सादन (उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ-पैर, सिर आदि दबाना)।

४६ केश मार्जन कौशल (सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना)।

४७ अक्षर मुष्टिका कथन (करपल्लई)।

४८ म्लेच्छित कला विकल्प (म्लेच्छ या विदेशी भाषा जानना)।

४९. देश भाषा ज्ञान (प्राकृत बोलियाँ जानना) ।

५० पुष्पशकटिका-निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्य-वाणी करना) ।

५१. यन्त्रमातृका—(सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना) ।

५२. धारण मातृका—(स्मरण शक्ति बढ़ाना) ।

५३ सम्पाठ्य—(दूसरेको कुछ पढ़ाते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना) ।

५४ मानसी काव्यक्रिया—(दूसरेका अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना।)

५५ क्रिया-विकल्प—(क्रियाके प्रभावको पलटना) ।

५६. छलिक योग (छल या ऐयारी करना) ।

५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान (शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान)

५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों) ।

५९. द्यूत विशेष (जूआ खेलना) ।

६०. आकर्षण क्रीड़ा (खींचने फेंकनेवाले सारे खेल) ।

६१. बालक्रीडा कर्म (लड़का खेलाना) ।

६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय सभाजन और शिष्टाचार) ।

६३. वैजयिकी विद्याज्ञान (दूसरोंपर विजय पानेका कौशल) ।

६४ व्यायामिकी विद्याज्ञान (खेल, कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम) ।

---

२९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अन्तिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे आरम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना)।

३०. दुर्वाचयोग (कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना)

३१. पुस्तक-वाचन (उपयुक्त रीतिसे पुस्तकें बाँचना)।

३२. नाटिकाख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना)।

३३. काव्य-समस्यापूर्ति।

३४. पट्टिका-वेत्र बाण-विकल्प (निवाड़, बेंत या बाधसे चारपाई बुनना)।

३५ तर्क्कर्म (तकुआ-सम्बन्धी सारे काम जैसे तकली, चर्खा)।

३६. तक्षण (बढ़ई, संगतराश आदिका काम करना)।

३७ वास्तुविद्या (घर बनाना, इंजीनियरिंग)।

३८. रूप्य-रत्न-परीक्षा (सोने-चाँदी आदि धातुओं और रत्नोंको परखना)।

३९ धातुवाद (कच्चे धातुओंको साफ करना या मिले धातुओंको अलग-अलग करना)।

४०. मणिराग ज्ञान (रत्नोंके रंग जानना)।

४१. आकर ज्ञान (खानोंकी विद्या)।

४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा तथा उन्हें रोपनेकी विधि।

४३. मेष कुक्कुट-लावक युद्ध विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि)।

४४. शुक-सारिका प्रलापन (तोता मैना पढ़ाना)।

४५. उत्सादन (उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ-पैर, सिर आदि दबाना)।

४६. केश-मार्जन कौशल (सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना)।

४७. अक्षर-मुष्टिका कथन (करपल्ई)।

४८. म्लेच्छित कला-विकल्प (म्लेच्छ या विदेशी भाषा जानना)।

४९. देश-भाषा ज्ञान (प्राकृत बोलियाँ जानना) ।

५०. पुष्पशकटिका-निमित्त-ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्य-वाणी करना) ।

५१. यन्त्रमातृका—(सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना) ।

५२. धारण-मातृका—(स्मरण-शक्ति बढ़ाना) ।

५३. सम्पाठ्य—(दूसरेको कुछ पढ़ाते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना) ।

५४. मानसी काव्यक्रिया—(दूसरेका अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना।)

५५ क्रिया-विकल्प—(क्रियाके प्रभावको पलटना) ।

५६. छलिक योग (छल या ऐयारी करना) ।

५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान (शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान)

५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों) ।

५९. द्यूत विशेष (जूआ खेलना) ।

६०. आकर्षण क्रीड़ा (खींचने-फेंकनेवाले सारे खेल) ।

६१. बालक्रीड़ा-कर्म (लड़का खेलाना) ।

६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय-सभाजन और शिष्टाचार) ।

६३. वैजयिकी विद्याज्ञान (दूसरोंपर विजय पानेका कौशल) ।

६४. व्यायामिकी विद्याज्ञान (खेल, कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम) ।

१

भारतके प्रसिद्ध गुरुकुल

पीछे विस्तारसे बताया जा चुका है कि शिल्प तथा अन्य उद्योग-धन्धोंके लिये शिल्पी लोग अपने अपने घर ही शिक्षार्थियोंको या अपने घरके बालकोंको शिक्षा दे दिया करते थे। शेष व्याकरण-दर्शन आदिकी शिक्षा आश्रमों या गुरुकुलोंमें होती थी और इस शिक्षाक्रममें राजा या राजसत्ताका तनिक भी हस्तक्षेप नहीं होता था। गुरुकुलोंके प्रबन्धमें हस्तक्षेप न करते हुए भी प्रत्येक राजा ऐसे गुरुकुलों या आश्रमोंको सहायता देना, उनका संरक्षण करना अपना धर्म समझता था क्योंकि ये अरण्याश्रम ही भारतीय सामाजिक जीवन और संस्कृतिके प्रधान केन्द्र होनेके साथ साथ राज्य व्यवस्थाके आधार स्तम्भ थे।

अग्रहार

ये शासक गुरुकुलोंके लिये भूमि-दान तो देते ही थे, साथ साथ उनके दैनिक पोषणके लिये कुछ गाँव भी लगा देते थे। कभी कभी तो गाँवका गाँव ही विद्वान् ब्राह्मणोंको दे दिया जाता था और उन्हें करके भारसे मुक्त कर दिया जाता था। ब्राह्मणोंकी ऐसी बस्तीको ब्रह्मपुरी और अग्रहार कहते थे और इस प्रकारके दानको भट्ट वृत्ति कहते थे। विचित्र बात यह है कि इस प्रकारकी भट्ट वृत्तिसे प्राप्त अग्रहारोंका सम्मान सभी राजा निरन्तर करते आए।

विद्यानगर या गुरुनगर

गुरुकुलोंके अतिरिक्त काशी, उज्जैन, नवद्वीप आदि नगर तथा कश्मीर जैसे कुछ प्रदेश भी ऐसे थे जहाँ घर घरमें प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य ज्ञान प्रदीप बनकर दिनरात ज्ञान ज्योतिका वितरण करते रहते

थे। ऐसे ही प्रसिद्ध नगरोंमें तक्षशिला नगर भी गुरुनगर या विद्यानगर बन गया था।

राजाश्रय

भारतकी एक और भी विचित्र परम्परा रही है कि यहाँके राजा लोग अपनी राज-सभामें विद्वानों और पंडितोंको आश्रय देना अपनी शोभा समझते थे। उज्जयिनीके अधिपति विक्रमादित्यके नवरत्नोंकी कथा तो लोकविश्रुत ही है जिनके यहाँ धन्वन्तरि जैसे वैद्य, क्षपणक जैसे दार्शनिक, अमरसिंह और शंकु जैसे काव्य-शास्त्रके पण्डित, वेतालभट्ट जैसे कथाकार, घटखर्पर जैसे आशुकवि, कालिदास जैसे महाकवि और वराहमिहिर जैसे ज्योतिष-शास्त्रके पण्डित थे। यह परंपरा लगभग आजतक भी राजाओंमें बनी चली आई। यों तो राजाश्रयमें तथा काशी, उज्जयिनी जैसे बड़े नगरोंमें विद्याओंका पोषण, संवर्धन और प्रसार हो ही रहा था किन्तु व्यवस्थित रूपसे विश्वविद्यालय-नगरके रूपमें यदि कोई वैदिक ब्राह्मण-विद्याओंका प्रधान गढ़ था तो वह था तक्षशिला, जो वर्तमान रावलपिण्डीके पास अवस्थित था और जहाँके विद्वानोंके संबंधमें बौद्ध-जातकोंमें अत्यन्त विस्तारके साथ विवरण मिलते हैं।

भारतीय गुरुकुलोंमें शिक्षाका क्रमिक निर्धारण

गुरुकुलमें जहाँ छात्रोंके संयत विकासके लिये सात्विक भोजन तथा नियमित नित्यक्रियाका विधान था वहाँ साधारण आचार-विचार अर्थात् शिष्टाचारपर भी बड़ा ध्यान दिया जाता था। गुरुकुलमें पहुँचनेके पश्चात् शिष्यको पहले शिष्टाचारकी ही शिक्षा दी जाती थी—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिष्टाचारांश्च शिक्षयेत्।

[गुरुका धर्म था कि उपनयन करके शिष्यको शिष्टाचारकी शिक्षा दे।] इस शिष्टाचारके अन्तर्गत उठना-बैठना, बातचीत करना, अभिवादन करना, सहपाठियोंके साथ बर्ताव, व्यवहार, शिष्टाचारके समय

व्यवहार, गुरुजनोंका आदर, गुरुपुत्रों तथा गुरुपुत्रियोंके प्रति भाई-बहनका-सा व्यवहार आदि आचार थे।

इस शिष्टाचारके साथ-साथ प्रत्येक छात्रको गुरुकुलकी परिपाटीके अनुसार नियमित नित्यकर्म, सन्ध्यावन्दन, हवन, गुरुशुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े अन्तेवासी छात्रोंके प्रति आदर-भावकी प्रेरणासे उसका आचरण और स्वभाव व्यवस्थित होता चलता था और जब वह बाह्य शिष्टाचारमें भली प्रकार सिद्ध हो चुकता था तभी विद्याध्ययन मुख्य रूपसे प्रारम्भ किया जाता था।

परा और अपरा विद्या

पीछे बताया जा चुका है कि आर्य वैदिक जीवन केवल इहलौकिक समृद्धिके लिये ही शिक्षा नहीं देता था। उसका उद्देश्य यह था कि यह जीवन भी सुखमय बीते और साथ-साथ मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष भी सिद्ध हो। इसी आधारपर विद्या दो प्रकारकी मानी गई—अपरा और परा। अपरा विद्याके अन्तर्गत वे सब विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञानवृत्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य सब प्रकारकी इहलौकिक उन्नति कर सकता है। वेदोंकी विद्या, यज्ञ, कला, शिल्प आदि सांसारिक विद्याएँ तथा आजके सम्पूर्ण विज्ञान, शिल्प तथा साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र आदिको अपरा विद्या ही समझना चाहिए। परा विद्याका अर्थ अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य परम तत्त्वको प्राप्त करता है। उपनिषद् आदि वे सब शास्त्र परा विद्याके अन्तर्गत हैं जिनके अध्ययनसे मनुष्यके हृदयमें संसारसे विरक्ति हो और आत्मज्ञानका उदय हो। इसी परा विद्याको वास्तविक विद्या कहा गया है और अपरा विद्याको अविद्या कहा गया है। ईशोपनिषद्में बताया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते॥
ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः॥

[जो लोग विद्या (अध्यात्मविद्या या परा विद्या) और अविद्या (भौतिक विद्या या अपरा विद्या) दोनोंको साथ-साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्याके सहारे सुखपूर्वक इस मृत्युलोक ससारको पारकर अध्यात्मविद्याके सहारे अमृत या मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल अविद्या या भौतिक शास्त्रोंकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें पड़े हुए हैं। किन्तु उनसे भी घने अन्धकारमें वे लोग हैं जो संसारकी चिन्ता न करके केवल अध्यात्मविद्यामें ही लीन रहते हैं।] इसीलिये हमारे यहाँ भोग और योग दोनोंका सामञ्जस्य ही शिक्षाका आधार बनाया गया और तदनुसार शिक्षाका विधान भी बनाया गया।

स्नातक-धर्म

यह भी पीछे बताया जा चुका है कि ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करनेके पश्चात् समावर्तन संस्कार करके गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाता था। यही ब्रह्मचारी स्नातक कहा जाता था अर्थात् इस संस्कारमें उसे एक विशेष विधिसे स्नान करना पड़ता था, जिसमें उसे अष्टकुम्भ (आठ घड़े) और सहस्रधारासे स्नान करना पड़ता था। आठ घड़ोंमें रक्खे हुए अभिमन्त्रित जलको अपने ऊपर डालनेके साथ-साथ वह एक-एक मन्त्र पढ़ता जाता था जिसका भाव यह होता था मैं श्री-वृद्धिके लिये, यशके लिये, वेदार्थ ज्ञानके लिये और ब्रह्मतेजके लिये इस मंगलमय जलसे स्नान करता हूँ। हे अश्विनो! आप वेदमन्त्रोंसे पवित्र जिस मंगलमय जलके प्रभावसे देवताओंकी श्री बनाए रहते हो, जिसके प्रभावसे देवताओंको अमर बनाए हुए हो, जिस जलसे आप लोगोंने उपमन्युकी आँखें धोकर स्वच्छ की हैं और जो जल आप लोगोंके लिये पवित्र यश स्वरूप है उससे आज मैं स्नान करता हूँ।" उसी स्नानके कारण गुरुकुलका ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था।

तीन प्रकारके स्नातक

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके स्नातक बताए गए हैं—विद्यास्नातक,

व्यवहार, गुरुपत्नीका आदर, गुरुपुत्रों तथा गुरुपुत्रियोंके प्रति भाई-बहनका-सा व्यवहार आदि आचार थे।

इस शिष्टाचारके साथ-साथ प्रत्येक छात्रको गुरुकुलकी परिपाटीके अनुसार नियमित नित्यकर्म, सन्ध्यावन्दन, हवन, गुरुशुश्रूषा तथा अपनेसे बड़े अन्तेवासी छात्रोंके प्रति आदर-भावकी प्रेरणासे उसका आचरण और स्वभाव व्यवस्थित होता चलता था और जब वह छात्र शिष्टाचारमें भली प्रकार सिद्ध हो चुकता था तभी विद्याध्ययन मुख्य रूपमें प्रारम्भ किया जाता था।

परा और अपरा विद्या

पीछे बताया जा चुका है कि आर्य वैदिक जीवन केवल इहलौकिक समृद्धिके लिये ही शिक्षा नहीं देता था। उसका उद्देश्य यह था कि यह जीवन भी सुखमय बीते और साथ-साथ मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ मोक्ष भी सिद्ध हो। इसी आधारपर विद्या दो प्रकारकी मानी गई—अपरा और परा। अपरा विद्याके अन्तर्गत वे सब विद्याएँ, कलाएँ और ज्ञानवृत्तियाँ हैं जिनके द्वारा मनुष्य सब प्रकारकी इहलौकिक उन्नति कर सकता है। वेदोंकी विद्या, यज्ञ, कला, शिल्प आदि सांसारिक विद्याएँ तथा आजके सम्पूर्ण विज्ञान, शिल्प तथा साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र आदिको अपरा विद्या ही समझना चाहिए। परा विद्याका अर्थ अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य परम तत्वको प्राप्त करता है। उपनिषद् आदि वे सब शास्त्र परा विद्याके अन्तर्गत हैं जिनके अध्ययनसे मनुष्यके हृदयमें संसारसे विरक्ति हो और आत्मज्ञानका उदय हो। इसी परा विद्याको वास्तविक विद्या कहा गया है और अपरा विद्याको अविद्या कहा गया है। ईशोपनिषद्में बताया है—

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
> अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते॥
> ततो भूय इव ते य उ विद्यायां रताः॥

[जो लोग विद्या (अध्यात्मविद्या या परा विद्या) और अविद्या (भौतिक विद्या या अपरा विद्या) दोनोंको साथ साथ जानते हैं, वे ही भौतिक विद्याके सहारे सुखपूर्वक इस मृत्युलोक ससारको पारकर अध्यात्मविद्याके सहारे अमृत या मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो लोग केवल अविद्या या भौतिक शास्त्रोंकी उपासना करते हैं वे अन्धकारमें पड़े हुए हैं। किन्तु उनसे भी घने अन्धकारमें वे लोग हैं जो ससारकी चिन्ता न करके केवल अध्यात्मविद्यामें ही लीन रहते हैं।] इसीलिये हमारे यहाँ भोग और योग दोनोंका सामञ्जस्य ही शिक्षाका आधार बनाया गया और तदनुसार शिक्षाका विधान भी बनाया गया।

स्नातक-धर्म

यह भी पीछे बताया जा चुका है कि ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करनेके पश्चात् समावर्तन सस्कार करके गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाता था। यही ब्रह्मचारी स्नातक कहा जाता था अर्थात् इस संस्कारमें उसे एक विशेष विधिसे स्नान करना पड़ता था, जिसमें उसे अष्टकुम्भ (आठ घड़े) और सहस्रधारास स्नान करना पड़ता था। आठ घड़ोंमें रक्खे हुए अभिमन्त्रित जलको अपने ऊपर डालनेके साथ साथ वह एक एक मंत्र पढ़ता जाता था जिसका भाव यह होता था मैं श्री-वृद्धिके लिये, यशके लिये, वेदार्थ ज्ञानके लिये और ब्रह्मतेजके लिये इस मगलमय जलसे स्नान करता हूँ। हे अश्विनो! आप वेदमन्त्रोंसे पवित्र जिस मगलमय जलके प्रभावसे देवताओंको श्री बनाए रहते हो, जिसके प्रभावसे देवताओंको अमर बनाए हुए हो, जिस जलसे आप लोगोंने उपमन्युकी आँखें धोकर स्वच्छ की हैं और जो जल आप लोगोंके लिये पवित्र यश स्वरूप है उससे आज मैं स्नान करता हूँ।" उसी स्नानके कारण गुरुकुलका ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता था।

तीन प्रकारके स्नातक

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके स्नातक बताए गए हैं—विद्यास्नातक,

व्रतस्नातक और विद्या व्रत स्नातक। जिस ब्रह्मचारीने नियमपूर्वक सब विद्याएँ पढ़ ली हों किन्तु यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमके अवस्था पूरी न की हो, उसे विद्यास्नातक कहते हैं। जिसने ब्रह्मचर्याश्रमके नियम तो पूरे पालन किए हों पर सब विद्याएँ न पढ़ पाई हों, उसे व्रतस्नातक कहते हैं, और जिसने ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके क्रमशः सब विद्याएँ अध्ययन कर ली हों उसे विद्याव्रत-स्नातक कहते हैं।

स्नातक होनेके अवसरपर गुरु कहता है—"हे स्नातक! तुम दृढ़व्रती बनना, आत्मघातसे अपनी रक्षा करना, प्राणिमात्रके साथ मित्रताका व्यवहार करना, देशकाल और सदाचारके विरुद्ध वस्त्र मत पहनना, दीन, अनाथ, यती तथा विद्यार्थी आदि जो अपना भोजन न बना सकते हों इन्हें निरन्तर अवश्य भाग देना, गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य व्रतका लोप मत करना, नग्न होकर स्नान न करना, सन्ध्याके समय भोजन और शयन न करना, जलाशयोंमें विष्ठा, थूक, रुधिर, अपवित्र वस्तु और विष आदि पदार्थ न छोड़ना, जंघापर रखकर भोजन न करना, वृथा नृत्य गीत न करना और ताली न बजाना, सौं सौं करके गधे या सियारकी बोली न बोलना, दाँतोंसे नख न काटना, जुआ न खेलना, पलँगपर या लेटकर तथा एक हाथमें रखकर भोजन न करना, जूठे मुँह इधर उधर उठकर न जाना, नंगे न सोना, पैर धोकर भोजन करना, गीले पाँव कभी न सोना, ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म, अर्थ तथा देशकालादिकी चिन्ता करना, अर्धरात्रिमें या भोजनके पश्चात् या बहुत कपड़े पहनकर स्नान न करना, पर स्त्रीको माता समझना, उद्योग करनेपर भी धन न प्राप्त हो तो यह दैन्यपूर्ण आत्मग्लानि न करना कि मैं दरिद्र हूँ या अभागा हूँ वरन् साहस पूर्वक अन्त समयतक समृद्धिके लिये उद्योग करना, व्यर्थका वैर विवाद न करना, काने, कुबड़े, लँगड़े, लूले, कुरूप, दरिद्री, और जातिहीनको न चिढ़ाना न उनकी हँसी करना, अपना श्रुति-स्मृति विहित धर्म तथा सदाचार कभी न छोड़ना क्योंकि आचारसे ही धन, पुत्र और आयुकी प्राप्ति होती है और सदाचारी मनुष्य सदा

शतायु और श्रद्धेय होता है। कभी पराधीनताका कर्म न करना और प्रयत्न-पूर्वक स्वावलम्बी होकर कार्य करना; अपने माता-पिता और गुरुजनोंके विरुद्ध कोई कार्य न करना, वेदनिंदा, ईश्वर-निंदा और देव-निंदा न करना, यम और नियमका पालन करना, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंको देवता मानना, स्वाध्यायमें ढील न करना, और बुरे कार्योंका अनुकरण कभी न करना, केवल अच्छोंकी ही ग्रहण करना।

आदर्श गुरु

इस प्रकारके वातावरणमें गुरुकुलोंकी उदात्त परम्परासे पुष्ट जो विद्वान् निकलते थे वे सार्वजनिक संस्थाओं या व्यक्तियोंके सेवक होकर नहीं वरन् अपने व्यक्तिगत तेजसे ज्ञानदान करते थे। यद्यपि विद्वत्परिषद्‌का विधान उस युगमें था किन्तु बौद्धसंघोंके समान ब्राह्मणोंने अपना कभी कोई संघ नहीं बनाया और इसीलिये आजकल विश्व-विद्यालयका जो अर्थ माना जाता है उस अर्थमें काशी या तक्षशिलाके विश्वविद्यालय नहीं थे। उन नगरोंके विद्वान् स्वतः प्रेरणासे अध्यापन करते थे, किसीके सेवक या आश्रित होकर नहीं। और उन आचार्योंमें इतनी उदारता भी थी कि वे अपने यहाँ पढ़नेवाले छात्रोंको रहनेके लिये स्थान भी देते थे और उनके भोजन की भी व्यवस्था करते थे। यहाँ तक नहीं, यदि उनके शिष्य किसी अन्य आचार्यसे कोई दूसरी विद्या पढ़ना चाहते तो उन्हें दूसरे गुरुसे पढ़नेकी सुविधा भी देते थे।

सार्वजनिक संस्थाएँ

सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओंका प्रारम्भ बौद्ध-संघोंसे ही समझना चाहिए। बौद्ध मठपति अपने यहाँ नवप्रविष्ट भिक्खुओंको विहारमें ही सम्मिलित रूपसे शिक्षा देने लगे थे। इसलिये तृतीय शताब्दीसे पूर्व वर्तमान ढंगके सार्वजनिक समझे जानेवाले विद्यालय भारतमें नहीं थे। प्रारम्भमें तो राजधानियाँ, तीर्थ, मठ, देवालय और अग्रहार ग्राम ही

व्रतस्नातक और विद्या व्रतस्नातक। जिस ब्रह्मचारीने नियमपूर्वक सब विद्याएँ पढ़ ली हों किन्तु यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमके अवस्था पूरी न की हो, उस विद्यास्नातक कहते हैं। जिसने ब्रह्मचर्याश्रमके नियम तो पूरे पालन किए हों पर सब विद्याएँ न पढ़ पाई हों, उसे व्रतस्नातक कहते हैं, और जिसने ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत पालन करके क्रमश: सब विद्याएँ अध्ययन कर ली हों उसे विद्याव्रतस्नातक कहते हैं।

स्नातक होनेके अवसरपर गुरु कहता है—"हे स्नातक! तुम दयावान बनना, आत्मघातक अपनी रक्षा करना, प्राणिमात्रके साथ मित्रताका व्यवहार करना, देशकाल और सदाचारके विरुद्ध वस्त्र मत पहनना, दीन, अनाथ, यती तथा विद्यार्थी आदि जो अपना भोजन न बना सकते हों उन्हें निरन्तर अन्नका भाग देना, गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्य व्रतका लोप मत करना, नग्न होकर स्नान न करना, सन्ध्याके समय भोजन और शयन न करना, जलाशयोंमें विष्ठा, थूक, रुधिर, अपवित्र वस्तु और विष आदि पदार्थ न छोड़ना, जाँघपर रखकर भोजन न करना वृथा नृत्य गीत न करना और ताली न बजाना, सी सी करके गधे व सियारकी बोली न बोलना, दाँतोंसे नख न काटना, जुआ न खेलना पलँगपर या लेटकर तथा एक हाथमें रखकर भोजन न करना, जूठे मुँह इधर उधर उठकर न जाना, नंगे न सोना, पैर धोकर भोजन करना, गीले पाँव कभी न सोना, ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर धर्म, अर्थ तथा देशकालादिकी चिन्ता करना, अर्धरात्रिमें या भोजनके पश्चात् या बहुत कपड़े पहनकर स्नान न करना, पर स्त्रीको माता समझना, उद्योग करनेपर भी धन न प्राप्त हो तो यह दैन्यपूर्ण आत्मग्लानि न करना कि मैं दरिद्र हूँ या अभागा हूँ वरन् साहस पूर्वक अन्त समयतक समृद्धिके लिये उद्योग करना, स्पर्धा वैर विवाद न करना, काने, कुबड़े, लँगड़े, लूले, कुरूप, दरिद्री, और जातिहीनको न चिढ़ाना न उनकी हँसी करना, अपना श्रुति स्मृति विहित धर्म तथा सदाचार कभी न छोड़ना क्योंकि आचारसे ही धन, पुत्र और आयुकी प्राप्ति होती है और सदाचारी मनुष्य सदा

दातायु और श्रद्धेय होता है। कभी पराधीनताका कर्म न करना और प्रयत्न-पूर्वक स्वावलम्बी होकर कार्य करना; अपने माता-पिता और गुरुजनोंके विरुद्ध कोई कार्य न करना, वेदनिंदा, ईश्वर-निंदा और देव-निंदा न करना, यम और नियमका पालन करना, माता-पिता और आचार्य आदि गुरुजनोंको देवता मानना, स्वाध्यायमें ढील न करना, और बुरे कार्योंका अनुकरण कभी न करना, केवल अच्छोंको ही ग्रहण करना।

आदर्श गुरु

इस प्रकारके वातावरणमें गुरुकुलोंकी उदात्त परम्परासे पुष्ट जो विद्वान् निकलते थे वे सार्वजनिक संस्थाओं या व्यक्तियोंके सेवक होकर नहीं वरन् अपने व्यक्तिगत तेजसे ज्ञानदान करते थे। यद्यपि विद्वत्परिषद्का विधान उस युगमें था किन्तु बौद्धसंघोंके समान ब्राह्मणोंने अपना कभी कोई संघ नहीं बनाया और इसीलिये आजकल विश्व-विद्यालयका जो अर्थ माना जाता है उस अर्थमें काशी या तक्षशिलाके विश्वविद्यालय नहीं थे। उन नगरोंके विद्वान् स्वतः प्रेरणासे अध्यापन करते थे, किसीके सेवक या आश्रित होकर नहीं। और उन आचार्योंमें इतनी उदारता भी थी कि वे अपने यहाँ पढ़नेवाले छात्रोंको रहनेके लिये स्थान भी देते थे और उनके भोजन की भी व्यवस्था करते थे। यहीं तक नहीं, यदि उनके शिष्य किसी अन्य आचार्यसे कोई दूसरी विद्या पढ़ना चाहते तो उन्हें दूसरे गुरुसे पढ़नेकी सुविधा भी देते थे।

सार्वजनिक संस्थाएँ

सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओंका प्रारम्भ बौद्ध-संघोंसे ही समझना चाहिए। बौद्ध मठपति अपने यहाँ नवप्रविष्ट भिक्षुओंको विहारमें ही सम्मिलित रूपसे शिक्षा देने लगे थे। इसलिये तृतीय शताब्दीसे पूर्व वर्तमान ढंगके सार्वजनिक समझे जानेवाले विद्यालय भारतमें नहीं थे। प्रारम्भमें तो राजधानियाँ, तीर्थ, मठ, देवालय और अग्रहार ग्राम ही

शिक्षण-केन्द्र बनते थे क्योंकि ऐसे स्थानोंमें योग क्षेमकी व्यवस्था सरलतासे हो जाती थी। वाराणसी, काशी और नासिक आदि तीर्थ इसी लिये प्रसिद्ध हुए कि यहाँ अनेक विद्वान् ब्राह्मण सरलतासे जीविका पानेके कारण निरन्तर निवास करते रहते थे। किन्तु तक्षशिला, पैठण, कन्नौज, मिथिला, धारा, उज्जयिनी आदि नगर राजधानी होनेके कारण ही प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र बन गए और नालन्दा, विक्रमशिला आदि स्थान बौद्धोंके प्रसिद्ध विहार होनेके कारण विद्याकेन्द्र बने। काशी तो आज भी अपनी अक्षुण्ण परम्परा लिए हुए विद्याकेन्द्र बनी हुई है किन्तु अन्य केन्द्र केवल नाम शेष रह गए हैं जिनमेंसे तक्षशिला और नालन्दाका विशेष विवरण मिलता है। यहाँ केवल तक्षशिलाका ही विवरण दिया जाता है, नालन्दाका वर्णन बौद्ध शिक्षाके प्रसगमें आगे किया जायगा।

तक्षशिला

तक्षशिला (वर्तमान टैक्सिला) नगर, गान्धार राज्यकी राजधानी बना हुआ भारतकी उत्तर पश्चिम सीमापर समवस्थित था। वर्तमान रावलपिण्डीके पास आज भी उसके भग्नावशेष प्राप्त होते हैं। यह देशका दुर्भाग्य है कि भारतीय संस्कृतिका प्रमुख जन्मस्थल और वैदिक ब्राह्मण विद्याका केन्द्र तक्षशिला भी आज पाकिस्तानकी ही सीमामें पहुँच गया है।

विक्रम संवत्के छ सौ वर्ष पहलेसे लगभग तीन सौ वर्ष पहलेतक तक्षशिलामें विभिन्न आचार्योंके घर सोलह कलाओं और शास्त्रोंका अध्यापन होता था। इनके अतिरिक्त चित्रकला, मूर्तिकला तथा हाथीदाँत आदिकी अनेक प्रकारकी कारीगरी भी यहाँ सिखाई जाती थी। किन्तु इन सब विद्याओंका अध्ययनाध्यापन होते हुए भी तक्षशिलाकी प्रसिद्धि आयुर्वेदके लिये अधिक थी। उन दिनों आयुर्वेदके सबसे बड़े आचार्य आत्रेय ऋषि वहीं आयुर्वेदका अध्यापन करते थे। राजवैद्य जीवकने

सात वर्षतक उनसे शिक्षा प्राप्त करके यह विकट परीक्षा दी थी जिसमें जीवकसे कहा गया था कि चार दिनके भीतर तक्षशिलाके चारों ओर पन्द्रह मीलके घेरेमें जितनी वनस्पति, जड़ी-बूटियाँ हों सबको एकत्र करके सबका गुण वर्णन करो और जीवक इस परीक्षामें सफल हो गया। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों कोठरीमें बैठकर आयुर्वेद नहीं पढ़ाया जाता था वरन् आचार्य लोग प्रत्यक्ष रूपसे अपने छात्रोंको पेड़-पत्तोंका संप्रेक्षण कराते थे, रोगोंपर उनका प्रयोग करके उन्हें प्रत्यक्ष प्रायोगिक ज्ञान कराते थे। तक्षशिला उन दिनों व्याकरण और राजशास्त्रकी भी केन्द्रनगरी थी। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि मुनि और राजनीतिके जनक विचक्षण कूटनीतिज्ञ चाणक्य या कौटिल्यने यहीं शिक्षा पाकर अपने ज्ञान और अपनी मेधावितासे विश्वके इतिहासमें अमरता अर्जित की है। उच्च वर्णों, धनिकों और राजपरिवारोंके पुत्र अपरिमित संख्यामें यहाँ आते रहते थे और यह नगरी ज्ञान-पिपासुओं-की विशाल ज्ञानशाला बन गई थी। ब्राह्मण-विद्या या वैदिक ज्ञान-विज्ञानका भारतमें उस युगका यह वैसा ही बड़ा पश्चिमी ज्ञानकेन्द्र था जैसा पूर्वमें काशी।

विद्यापुरी

इस नगरीके कुछ छात्र तो ऐसे थे जो दिनमें सेवाकार्य करते थे और उसके बदले रातको गुरुओंसे पढ़ते थे, कुछ ऐसे थे जो गुरुओंको पर्याप्त धन देकर उन्हें प्रसन्न करके विद्या प्राप्त करते थे, उन्हें सेवाकार्य नहीं करना पड़ता था। वहाँ चारों ओर दिन-रात छात्रोंके समूहके समूह गो-खुरके समान चौड़ी और लम्बी शिखा फटकारते हुए अध्ययन करते, परस्पर पाठ विचारते और शास्त्रार्थ करते दिखाई पड़ते थे। जान पड़ता था गली गली, घर-घरमें वहाँ विद्याका आवास है। उत्तर-पश्चिमसे आनेवाले हूणोंने, तोरमाणके पुत्र मिहिरकुलने इस ज्ञानपुरी तक्षशिलाको लूटकर, जलाकर ध्वस्त कर डाला और इस ज्ञानदीपका सदाके लिये निर्वाण हो गया। इस घटनासे सबसे बड़ा पाठ तो यह मिला कि

सीमान्तपर अथवा ज्ञान-केन्द्र तथा संस्कृति केन्द्र वर्ना नहीं बनवाना चाहिए।

भारतीय शिक्षा-पद्धतिकी विशेषतायें

भारतीय गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीकी इस गौरवपूर्ण गाथाके पश्चात् यह समझना अत्यन्त सरल हो जायगा कि भारतीय आर्य शिक्षा प्रणाली की क्या विशेषतायें थीं। सूत्र रूपमें हम इस प्रकार वर्णित कर सकते हैं कि भारतीय शिक्षा—

१. सबके लिये अनिवार्य थी, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये गुरुकुलमें और शूद्रके लिये अपने घर या शिल्पीके यहाँ।

२. निःशुल्क थी।

३. आश्रम प्रणाली (रेज़ीडेन्शल सिस्टम) के अनुसार थी, जहाँ गुरु और शिष्य साथ साथ रहते थे।

४ गुरुकी महत्ता प्रधान मानती थी और शिष्य उन्हें देव-स्वरूप मानकर उनकी सेवा करके, उनकी कृपा पाना अपना धर्म समझता था।

५ छात्रको सब प्रकारके भोजन वस्त्र आदिकी चिन्तासे मुक्त किए हुए थी।

६ सदाचारको प्रधान समझती थी।

७ गुरु-शिष्यका वह सबध मानती थी जिसमें गुरु अपने शिष्यको पुत्रके समान मानकर उसके भोजन वस्त्रका प्रबध करते थे और उसके चारित्रिक विकासका ध्यान रखते थे।

८. अनेक विषयोंके अध्ययनकी सुविधा देती थी किन्तु किसी एक शास्त्रमें पारगत होना आवश्यक समझती थी।

९. अपने शिक्षाक्रमका निर्धारण जातिक्रमके अनुसार करती थी।

१०. राजाओं या शासकोंकी ओरसे गुरुकुलकी व्यवस्थामें किसी प्रकारका कोई हस्तक्षेप नहीं होने देती थी।

११. इहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिके लिये शिक्षाका विधान करती थी।

१२. मौलिक होती थी।

१३ अध्यापकोंको स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाए हुए थी।

१४. अपने गुरुकुलमें नीच-ऊँच, राजा-रंकका कोई भेद नहीं मानती थी।

यही कारण है कि भारतीय शिक्षासे बढ़कर संसारकी कोई शिक्षा-पद्धति अ जतक पूर्णतः सफल नहीं हो पाई।

१०

बौद्ध शिक्षा-प्रणाली

वैदिक कालमें भारतमें जो शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी वह स्मृति-कालतक ज्योंकी त्यों सुरक्षित चली आई, अर्थात् गुरुके या आचार्यके प्रति छात्रों, अभिभावकों तथा राज्याधिकारियोंकी अखण्ड श्रद्धा, पूर्ण विश्वास और अद्वितीय आदर बना रहा। धनी नागरिक तथा व्यावसायिकवर्ग स्वत प्रेरणासे छात्रोंके भरण पोषणकी व्यवस्था करते थे। शिक्षा व्यवस्थामें राज्यकी ओरसे तनिक भी हस्तक्षेप नहीं होता था। विद्यार्थी अपने गुरुको ईश्वरतुल्य मानते थे, उनकी आज्ञाका आग्रहपूर्वक पालन करते थे, सब प्रकारसे अपने गुरुओंको प्रसन्न और सन्तुष्ट रखनेकी चेष्टा करते थे, गुरुकी सब प्रकारसे सेवा करना अपना धर्म समझते थे, अपने सहपाठियों तथा अन्तेवासियोंके साथ अत्यन्त आत्मीयता और सहायताका व्यवहार करते थे। राजा लोग भी छात्रोंके सामने अपने यानसे उतरकर उनका सत्कार करते थे और विद्यार्थीको भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ अपने लिये गौरवपूर्ण और श्रेयस्कर समझता था।

कन्याओंकी शिक्षामें परिवर्तन

जहाँ वैदिक कालमें गार्गी और मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी हुई, घोषा और लोपामुद्रा जैसी मन्त्रद्रष्टी ऋषि कन्याएँ हुईं, अरुन्धती जैसी ऋषि कल्प देवियाँ हुईं वहाँ स्मृति तथा पुराण कालमें सहसा शिक्षिता देवियोंका अभाव हो गया क्योंकि यज्ञोपवीत संस्कार तथा वेदाध्ययन आदिकी जो सुविधाएँ वैदिक कालमें थीं वे इस कारण हटा ली गईं कि गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंके सात्विक जीवनके लिए आश्रमकी

कन्याओंका सम्पर्क बाधक सिद्ध होने लगा अतः आगे चलकर वात्स्यायन (चाणक्यका दूसरा नाम) ने स्त्रियोंके लिये चौंसठ कलाओंकी शिक्षाका विधान किया और यह व्यवस्था दी कि कन्याओंको अपनी बड़ी विवाहिता बहन, भाभी, विवाहिता सखी अथवा गृहस्थिनसे संन्यासिनी बनी हुई परिव्राजिकाओंसे यह शिक्षा लेनी चाहिए। इतने सब परिवर्तनोंका कारण मुख्यतः यह था कि नैतिक दृष्टिसे गुरुकुलोंमें ब्रह्मचारियोंके साथ कन्याओंको रखना उचित नहीं था। दूसरे, बौद्ध धर्मने सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था शिथिल कर दी थी। इसलिये जैसे यवनोंके आक्रमण-कालमें हिन्दुओंको बाध्य होकर बाल विवाह और घूँघट-प्रथाका प्रवर्तन करना पड़ा, वैसे ही बौद्धोंकी विहार व्यवस्था और भिक्षु-भिक्षुणी-सम्पर्ककी अनेक घटनाओंसे त्रस्त होकर समाजको यह मार्ग अपनाना पड़ा।

बौद्ध-धर्म

बहुतसे इतिहासकारोंने अँगरेज लेखकोंकी देखा देखी भ्रमसे यह लिख डाला है कि बुद्धने वैदिक कर्मकाण्डमें होनेवाली जीवहिंसासे ही विरक्त और द्रवित होकर अहिंसा-धर्मका प्रतिपादन किया। किन्तु जिन लोगोंको बुद्धके जीवन और उनके दर्शनका तनिक भी परिचय है वे भली भाँति जानते हैं कि गौतमको वृद्ध, रोगी और मृतक देखनेसे, यह जानकर विराग हुआ था कि संसारमें प्रत्येक व्यक्तिको जरा, रोग और मरणका आखेट बनना ही पड़ता है। अत. उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टिको दुःखसे मुक्त करनेका संकल्प किया। उनके दर्शनके आधार जो चार अरिय सच्च (आर्य सत्य) हैं उनमें स्पष्ट रूपमें इस व्यापक दु.ख और उसके परिहारकी ही योजना है। वे आर्य सत्य ये हैं :—१. दु.ख, २. दु.ख समुदय (दु.ख उपजना) ३. दुःख-निरोध (दु.खकी रोकथाम) ४ दु.ख-निरोध-गामिनी-प्रतिपद्। इन चारों आर्य-सत्योंको सिद्ध करनेके लिये उन्होंने मज्झिम पटिपदा (मध्यमा प्रतिपदा) या मध्यम मार्गका उपदेश दिया जिसमें यह बताया गया कि न तो संसारके माया

मोहमें ही रहना ठीक है, न संसारसे पूर्णत अलग रहकर तपस्याके द्वारा शरीरको कष्ट देना ही उचित है। अत मध्यम-मार्ग यही है कि सब सांसारिक ममता छोड़कर ससारमें रहकर ही निर्वाण प्राप्तिके लिये प्रयत्न किया जाय। इसके लिये उन्होंने अष्ट मग्ग (अष्टाग मार्ग) का विधान किया, जिसके अनुसार प्रत्येक भिक्खुको दु ख निरोध गामिनी प्रतिपद् (दु ख रोकनेके उपाय) का मार्ग आठ प्रकारसे साधना चाहिए—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्धने अपनी इस मध्यमा प्रतिपदाकी व्याख्या करते हुए कहा है—"हे भिक्षुओ! परिव्राजकोंको इन दो अन्तोंका सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अन्त कौन से हैं? पहला तो काम या विषयमें सुखके लिये अनुयोग करना। यह अन्त अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थ सहत है। दूसरा है शरीरको क्लेश देकर दु ख उठाना। यह भी अनर्थ सहत है। हे भिक्षुओ! तथागतने (मैंने) इन दोनों अन्तोंको त्यागकर मध्यमा प्रतिपदाको (मध्यम मार्गको) जान लिया है।"

बौद्धोंकी शिक्षा व्यवस्था

जिस समय गौतम बुद्धने अपने धर्मका प्रचार प्रारम्भ किया और सब अवस्था, वर्ण और जातिके लोगोंको अपने धर्मम दीक्षित करना आरम्भ किया तो इस नये दीक्षित बौद्ध समाजमें बड़ी अव्यवस्था और विशृंखलता व्याप्त हो गई। यहाँतक कि हत्यारे, चोर और डाकू जैसे अपराधी भी राजदण्डसे मुक्ति पानेके लिये भिक्षु होने लगे। इस दुरवस्थाको दूर करनेके लिये गौतम बुद्धने ये नियम बनाए—

१ अट्ठारह वर्षकी अवस्थासे कमका कोई व्यक्ति दीक्षित न किया जाय।

२ छूत रोगोंसे आक्रान्त व्यक्ति सघम न लिए जायँ।

३. राजदण्ड पाए हुए अपराधी भरती न किए जायँ।

४ बिना माता पिताकी आज्ञासे युवक न प्रविष्ट किए जायँ।

स्त्रियोंको भिक्षु-संघमें प्रविष्ट नहीं किया जाता था; किन्तु अपने प्रधान शिष्य आनन्दके बहुत आग्रह करनेपर बुद्धने अपनी बूआ गोतमीको दीक्षित तो कर लिया था किन्तु साथ-साथ यह भी कहा था कि यदि मेरा धर्म एक सहस्र वर्ष चलता तो अब केवल पाँच सौ वर्ष ही चलेगा।

संघाराममें भिक्खु-विनय

जब बुद्धने उदारताके साथ सबके लिये अपने भिक्षुसंघके द्वार खोल दिए तब उसका परिणाम यह हुआ कि अनेक जाति, वर्ग, वृत्ति और अवस्थावाले लोग आ-आकर बौद्धसंघमें सम्मिलित होने लगे। फलतः अत्यन्त भयानक रूपसे अविनय और उच्छृंखलता व्याप्त हो गई। कोई गुरु न होनेसे किसीको छोटे-बड़ेका संकोच न रहा। सभी अपनेको बुद्धके पश्चात् प्रधान समझने लगे। यह अविनय यहाँतक बढ़ा कि जब ये लोग भिक्षा माँगने जाते थे तो गृहस्थोंके घर जाकर कोलाहल करते थे, एक-दूसरेके पात्रपर जूठे पात्र बढ़ा-बढ़ाकर दाल-भात खिचड़ीकी लूट करते थे और आपसमें धकम धुकी और गाली-गलौज भी करते थे। जब गृहस्थोंने आकर यह बात गौतम बुद्धसे कही तब उन्होंने भिक्षुओंको धिकारते हुए आदेश दिया कि सबको अपने लिये उपाध्याय करना चाहिए अर्थात् किसीको अपना गुरु बनाना चाहिए। किन्तु उपाध्याय नियुक्त हो जानेपर भी भिक्खुओंकी उच्छृंखलता कम नहीं हुई और वे अनेक बार अपने उपाध्यायोंकी आज्ञाओंका भी उल्लंघन करने लगे। परिणाम यह हुआ कि गौतम बुद्धको शिष्य और उपाध्यायके कर्त्तव्य निश्चित कर देने पड़े जो प्रायः वैसे ही थे जैसे वैदिक गुरुकुल प्रणालीमें प्रचलित थे।

उपाध्यायके कर्त्तव्य—

उपाध्यायका यह कर्त्तव्य था कि—

१. वह अपने शिष्य-भिक्षुओंको शिक्षा दे।

२. उनकी जीवन-चर्याका ध्यान रक्खे।

३. यदि वे रोगी हों तो उनकी सेवा-सुश्रूषाका प्रबन्ध करें।

४. उन्हें शील और सदाचारकी शिक्षा दें।

५. सब प्रकारसे उनका संरक्षण करें।

शिष्योंके कर्त्तव्य—

शिष्योंका कर्त्तव्य था कि—

१. उपाध्यायकी सब प्रकारकी आज्ञा मानें।

२. उपाध्यायकी सब प्रकारसे सेवा करें। उनके शरीरमें तेल मलें, कोठरीमें झाड़ू दें, जाले झाड़ें, चौकी बाहर निकालकर धूपमें सुखावें और बर्तन माँजें।

३. गुरुकी सिखाई हुई विद्या ध्यानसे सीखें।

४. जब गुरु चलने लगें तो उनके वस्त्र और पात्र लेकर उनके पीछे चलें।

५. यदि उपाध्याय रोगी हों तो सब प्रकार उनकी सेवा-सुश्रूषा करें।

पाठ्य-क्रम

बौद्ध लोग संसारके त्यागका उपदेश देते थे इसलिये प्रारम्भमें उन्होंने सम्पूर्ण इहलौकिक विद्याओंको संघसे निकाल डाला और केवल बौद्ध-दर्शन और प्रज्ञा-पारमिताका ही अध्ययन करने लगे। वैदिक दर्शनोंका खण्डन करनेके लिये कुछ भिक्षु, तो योग, सांख्य, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, जैन और चार्वाक् दर्शनोंका भी अध्ययन करते थे। व्याकरण और तर्कका अध्ययन विशेष रूपसे कराया जाता था। बौद्ध दर्शनका अध्ययन और अध्यापन पालि भाषाके द्वारा होता था जो बुद्धने संस्कृत और मागधी मिलाकर गढ़ी थी। एक बार बुद्धके कुछ शिष्योंने यह प्रस्ताव भी किया था कि आपके सब वचन संस्कृतमें सुरक्षित कर दिए जायँ। किन्तु उनको यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कहा कि मैं ब्रह्मण भाषा (संस्कृत भाषा) में अपने वचन नहीं कहना चाहता।

पीछे चलकर नालन्दा और विक्रम-शीला विश्वविद्यालयोंमें अन्य

इहलौकिक विषयोंके साथ साथ मूर्तिकला जैसे विषय भी पढ़ाए जाने लगे।

बौद्ध विहारोंकी ज्ञानचर्या

बौद्ध विहारोंमें चौबीस घंटे पढ़ाई चलती रहती थी। साधारणतः एक एक उपाध्याय एक एक मंचपर बैठते थे और अनेक भिक्षु उनके तीन ओर बैठकर अत्यन्त संयमके साथ मौन होकर प्रवचन सुनते थे। यदि कहीं शंका होती या प्रश्न पूछना होता तो वे उठकर, उपाध्यायकी आज्ञा लेकर शंका उपस्थित करते और उसका समाधान सुनते। इन मंच प्रवचनोंके अतिरिक्त कुछ ऐसे उपाध्याय भी थे जो घूमते हुए प्रवचन करते रहते थे और उनके शिष्य पीछे पीछे प्रवचन सुनते चलते थे।

शिक्षा प्रणाली

बौद्धोंमें केवल तीन शिक्षा प्रणालियाँ प्रचलित थीं। एक तो प्रवचन या व्याख्यान प्रणाली (लेक्चर मेथड), दूसरी व्याख्या प्रणाली, जिसमें पाठ्य विषयके सब अंगोंका विश्लेषण करके तथा उदाहरण देकर उसे विस्तारसे समझाया जाता था। तीसरी प्रश्नोत्तर प्रणाली थी, जिसमें शिष्य प्रश्न करते थे और गुरु उत्तर देते थे। इसके अतिरिक्त भिक्षुगण आपसमें पाठ विचार या ज्ञान विचार भी करते थे। बौद्धोंमें वैदिक गुरुकुलकी शिष्याध्यापक प्रणाली (मॉनीटोरियल सिस्टम)का प्रयोग नहीं किया गया।

दिनचर्या

सब भिक्षु प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होकर सिर और तलवेमें तेल लगाकर, यवागू (खिचड़ी या दलिया) खाकर पढ़ने बैठ जाते थे और मध्याह्नमें भिक्षा माँगने निकल पड़ते थे जहाँ उन्हें सिद्धान्न (पका हुआ भोजन) मिलता था। जिन विहारोंके भोजनका प्रबन्ध धनिकों, ग्रामों या कुलिकोंने ले लिया था उनके भिक्षु प्रायः भिक्षा माँगने नहीं जाते थे जैसे नालन्दामें। सन्ध्याको प्रवचन होता था जो प्रायः आचरण सम्बन्धी विषयोंसे ही सम्बद्ध होता था। लगभग तीन घड़ी

रात गए ही मय भिक्षु सो जाते थे किन्तु जो पढ़ना चाहते उनके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

बौद्ध शिक्षाकी विशेषताएँ

१. शारीरिक शिक्षा और व्यायामका प्राय अभाव था।

२ संघमें प्रवेश होनेके लिये अवस्थाका कोई बन्धन नहीं था।

३. बाल शिक्षा तथा स्त्री शिक्षाका पूर्ण अभाव था।

विद्यालयोंके प्रकार

बौद्धोंके यहाँ दो ही प्रकारके विद्यालय हुए—

१ विहार या संघाराम, जिनमें प्रवचनों द्वारा शिक्षा दी जाती थी। ये वास्तवमें विद्यालय नहीं थे वरन् सदाचरण और सदाचरणके अभ्यास-मठ मात्र थे।

२ नालन्दा और विक्रम शीला जैसे महाविद्यालय, जहाँ व्यवस्थित रूपसे वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी भाँति बौद्ध दर्शनके अतिरिक्त अनेक विषयोंकी शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध शिक्षा पद्धतिका परिणाम

इसका परिणाम यह हुआ कि सपूर्ण शिक्षा अत्यन्त अव्यवस्थित हो गई और चारों ओर व्यापक रूपसे अराजकता फैल गई। कुछ थोड़ेसे गाँवोंमें अनधिकारी पण्डितोंने चटशाले खोलकर सिखाना पढ़ाना प्रारम्भ किया किन्तु उनका न कोई महत्व था न कोई आदर। संघारामों (विहारों) में भी जो शिक्षा दी जाती थी उसकी परीक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं था। इसलिये शिक्षापर जो शक्ति लगाई जा रही थी वह अधिकांश निष्फल हुई। जिस प्रकार बौद्ध धर्मने भारतीय वैदिक वर्णाश्रम धर्मको विशृ खलित किया वैसे ही गुरुकुलकी शिक्षा प्रणालीको भी उसने एेसी ध्वस्त कर डाली कि आजतक भी यह अशिक्षाका अन्धकार ज्योंका त्यों बना है। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि नालन्दा और विक्रमशीलामें जो विश्वविद्यालय स्थापित हुए उनकी व्यवस्था वैदिक गुरुकुल पद्धतिपर हुई, इसलिये वे अत्यन्त भव्य तथा व्यवस्थित

रूपमें चलते रहे। शिक्षामें अव्यवस्था होनेका कुछ यह भी कारण था कि बुद्धने निर्वाणको ही जीवनका लक्ष्य बताया, सांसारिक सुखोंके परित्यागका सम्मति दी और भिक्खु-जीवन व्यतीत करनेका विधान बताया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारे देशमें अनेक शताब्दियोंसे चली आती हुई प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त हो गई, अर्थ और कामसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्पूर्ण लौकिक विद्याएँ लुप्त होने लगीं और जब वर्णाश्रम-धर्म और समाज ही संकटमें पड़ गया तब उसके आचार-विचार और कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त विद्याएँ स्वयं उपेक्षित हो गईं। भिक्षु-भिक्षुणियोंके सहनिवास और सहशिक्षाने प्रारम्भमें ही इतनी समस्याएँ उत्पन्न कर दी थीं कि बुद्धको स्वयं अपने जीवन-कालमें ही उनके निराकरणके लिये नियम बनाने पड़ गए थे। इस प्रकार सम्पूर्ण बौद्ध-शिक्षा एकाङ्गी, संकुचित और दार्शनिक मात्र बनी रह गई।

११

नालन्दा

ऊपर यह बताया जा चुका है कि गौतम बुद्धने अपना धर्म इतना उदार कर दिया कि सब जाति और अवस्थाके लोग उसमें प्रविष्ट हो सकते थे। बुद्धसे पूर्व अध्ययनका कार्य केवल ब्राह्मण ही करते थे किन्तु बौद्ध विहारोंमें कोई भी योग्य और विद्वान् पुरुष गुरु हो सकता था। किन्तु प्रसिद्ध थेरा (स्थविर) का इतिहास पढ़नेपर यह ज्ञात होता है कि इनमें भी अधिकांश ब्राह्मण ही थे यहाँतक कि बुद्धके जो आदि पाँच शिष्य (पचवर्गीय भिक्षु) थे, वे भी सब ब्राह्मण ही थे, किन्तु फिर भी जो अध्यापन कार्य ब्राह्मणोंके लिये रेखाबद्ध था, वह शिथिल होगया। बुद्धने अपने सभी शिष्य भिक्षुओंको यह भी आज्ञा दी थी कि प्रत्येक भिक्षु अपने विहारके आसपास रहनेवाली जनताको शिक्षा दे। इसलिये प्रत्येक भिक्षुके लिये यह आवश्यक हो गया कि वह स्वयं सुशिक्षित हो। तदनुसार प्रत्येक संघाराम या बौद्ध विहार ही शिक्षा पीठ बन गया। इन सब बौद्ध विहार शिक्षापीठोंमें नालन्दा सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

नालन्दाके अवशेष

नालन्दा विहारका विश्वविद्यालय विहार राज्यमें राजगृहसे लगभग आठ मीलकी दूरीपर वर्तमान बड़गाँवके पास था। नालन्दा जानेके लिये पटनेसे आगे बख्तियारपुरसे सकरी पटरीकी बख्तियारपुर-लाइट रेल्वेकी गाड़ी चलती है। बख्तियारपुर और राजगृहके बीचमें ही नालन्दा स्टेशन है जहाँसे लगभग डेढ़ मीलकी दूरीपर नालन्दा विश्वविद्यालयके भग्नावशेष विस्तृत परिक्षेत्रमें फैले पड़े हैं। पीछेके मुसलमान शासकोंने यहाँके सब अन्तेवासियोंको तल्वारके घाट उतारकर इस

विश्वविद्यालयको उजाड़ दिया था। पुरातत्व विभागकी ओरसे जो खुदाई हुई है उसमें इन भग्नावशेषोंमेंसे स्तूप, मठ, विद्यालय और छात्रावासके पूरे अंश प्राप्त हुए हैं, जिनमें केवल छतें नहीं हैं। इन भवनोंमें आँगन, कुँए, भोजनालयके चूल्हे और पुस्तक पकानेके चूल्हे मिले हैं। उस समय बहुतसे भिक्षु मिट्टीके तपड़ोंपर ग्रन्थ लिखते थे और उन्हें पकाकर पक्का कर लेते थे। इनके अतिरिक्त जो बहुतसे खुदे हुए लेख, मूर्तियाँ और मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, वे सब पास ही राजकीय संग्रहालयमें सुरक्षित हैं।

ऐतिहासिक विवरण

प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथका कहना है कि "यहींपर सारिपुत्रका जन्म हुआ था और यहीं अस्सी सहस्र अर्हतोंके साथ उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था। उनकी स्मृतिमें एक चैत्य मात्र बचा रह गया था जिसपर अशोकने एक बौद्ध-विहार बनवा दिया था।" किन्तु चीनी यात्री फ़ाहियानके समयतक इसकी बहुत प्रसिद्धि नहीं थी। उसने अपने विवरणमें जिस नालो नामक गाँवका वर्णन किया है, उसीको लोग नालन्दा मान लेते हैं। नालन्दाका सर्वश्रेष्ठ तथा विस्तृत वर्णन ह्वेन्तज़ाङ् (ह्वेनत्सांग) ने किया है। वह लिखता है कि "नालन्दामें बने हुए छः विहारोंमेंसे चार बालादित्यने और उससे पूर्ववर्ती मगधके राजा तथागत-गुप्त, बुद्धगुप्त और शक्रादित्यने निर्मित कराए थे। ये सभी गुप्त वंशके शासक थे और इन्हींके समयमें, इन्हींकी उदारतासे नालन्दाकी श्री-वृद्धि हुई। हलीने लिखा है कि "नालन्दा विहार ह्वेनत्सांगके आगमनसे सात सौ वर्ष पहले अर्थात् ईसासे एक शताब्दी पूर्व स्थापित हुआ था। प्रारम्भमें यह बौद्ध-विहार मात्र था किन्तु ज्यों-ज्यों इसमें बाहरसे ज्ञान-पिपासु आने लगे और विद्वान् लोग एकत्र होने लगे त्यों-त्यों इसका रूप विश्वविद्यालयका होता गया। गुप्त सम्राटोंकी उदार सहिष्णुता तथा सम्राट् हर्षका राज्याश्रय पाकर यह विश्वविद्यालय और नालन्दा नगरी इतनी प्रसिद्ध हो गई कि वहाँसे मिली हुई एक मुद्रापर यह खुदा हुआ है—

"नालन्दा हसतीव सर्वनगरीः" अर्थात् नालन्दा इतनी विशाल और सुन्दर नगरी है कि अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओंके कारण संसारकी समस्त नगरियोंपर हँसती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नगरी ढाई सहस्र वर्ष पहले महावीर स्वामीके समय तथा गौतम बुद्धके समय भी प्रसिद्ध थी। गौतम तो नालन्दाके पास प्रावारिकाम्रवनकी अमराईमें आकर ठहरते भी थे।

नालन्दा नाम क्यों पड़ा?

इस विश्वविद्यालयका नाम नागराजा नालन्दके नामपर नालन्दा पड़ा। किन्तु इसकी दूसरी व्याख्या भी है। यहाँ इतनी विद्या बाँटी जाती थी कि किसीको अलम् (बस) नहीं कहा जाता था—(न अलम् ददाति या सा नालन्दा)। कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ 'नाल' (कमलकी डंठल) बहुत निकाली जाती थी इसलिये 'नालन्दा' कहते थे।

नालन्दाके भवन

नालन्दामें प्राप्त यशोवर्माके शिलालेखमें लिखा है—

यासावूर्जितवैरिभू-प्रविगलद्दानाम्बुपानोल्लसन्-
माद्यद्भृङ्ग-करीन्द्र-कुम्भदलन-प्राप्तश्रियाम्भूभुजाम्।
नालन्दा हसतीव सर्वं नगरीः शुभ्राभ्रगौर स्फुरत्-
चैत्यांशुप्रकरैस्सदागम-कलाविख्यातविद्वज्जना:॥
यस्यामम्बुधरावलेहि-शिखर-श्रेणी-विहारावली—
मालेवोर्ध्व-विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः।
नानारत्न-मयूखजालखचित-प्रासाद-देवालया-
सद्विद्याधर-सङ्घ-रम्यवसतिर्धत्ते सुमेरोः श्रियम्॥

"अपने शुभ्र ऊँचे चैत्योंके किरण-समूहोंसे नालन्दा नगरी बड़े-बड़े राजाओंकी नगरियोंकी मानो हँसती है और इसके जिन ऊँचे प्रासादों एवं विहारोंकी पंक्तियोंमें प्रसिद्ध धुरन्धर विद्वान् लोग वास करते हैं, वे उस सुमेरु पर्वतसी शोभावाली लगती है जिसमें विद्याधर निवास करते हैं।"

नालन्दाके भवन

इस विश्वविद्यालयमें छः-छः खण्ड ऊँचे छः विद्यालय थे। विश्वविद्यालयके समस्त भवनोंके चारों ओर ईंटोंका दृढ़ परकोटा बना हुआ था, जिसमें एक ही द्वार बना था। इसीके धर्मगंज नामक भागमें एक अत्यन्त सम्पन्न और सुन्दर पुस्तकालय अवस्थित था जिसके रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक नामक तीन भवन थे। इनमेंसे रत्नोदधि भवन नौ खण्ड ऊँचा था जिसमें प्रज्ञापारमिता और समाज-गुह्य आदि पवित्र तन्त्र-ग्रन्थ सुरक्षित थे। इन भवनोंके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालयके भीतर पत्थरकी सड़कें, अनेक प्रकारके कूप और जल-घड़ियाँ बनी हुई थीं। विश्वविद्यालयके चारों ओर कमलोंसे भरे हुए दस बड़े-बड़े पक्के सरोवर थे जिनमें नित्य प्रातःकाल विश्वविद्यालयके अन्तेवासी घण्टा बजते ही स्नान करनेके लिये कूद पड़ते थे। इनके अतिरिक्त आठ बड़े-बड़े शालागृह थे, जिनकी खिड़कियोंमेंसे मेघोंकी अनन्त आकृतियाँ तथा सूर्य-चन्द्रकी सन्धिके दिव्य दृश्य दिखाई देते थे और आस-पासके पद्म-पुनीत सरोवरों तथा हरी-भरी अमराइयोंकी मनोहर हरीतिमा चित्त प्रसन्न करती थी। इन शालागृहोंके आँगनोंके चारों ओर तथा बड़े विहारमें कई सौ कोठरियाँ थीं जहाँ तीन सहस्रसे अधिक भिक्खु तथा अध्यापक रहते थे।

प्रवेश

सम्पूर्ण एशिया भरसे अनेक ज्ञान-पिपासु ज्ञानार्थी उसमें प्रवेश पानेके लिये लालायित होकर वहाँ आते थे। भिक्षु और अभिक्षु दोनों-को वहाँ भर्ती किया जाता था किन्तु वहाँ प्रवेश होनेके लिये परीक्षाका विधान अत्यन्त कठोर था। विश्वविद्यालयके मुख्य द्वारपर अनेक विद्याओं और शास्त्रोंके प्रकाण्ड विद्वान् द्वार-पण्डित, प्रवेशार्थी छात्रोंकी प्रारम्भिक परीक्षा लेते थे और उनके पूर्वज्ञान तथा विद्या-संस्कारका परिज्ञान करते थे। इसलिये कठिनाईसे दसमेंसे दो या तीन छात्र प्रविष्ट हो पाते थे।

विश्वविद्यालयके अधिकारी

द्वार पण्डितोंके अतिरिक्त और भी अनेक अधिकारी होते थे जिनमें तीन बहुत प्रसिद्ध थे—१–धर्मकोष (कुलपति), २–कर्मदान (व्यवस्थापक) और ३–पीठस्थविर (आचार्य)। ह्वेनत्सांगके समयमें शीलभद्र ही वहाँके कुलपति या धर्मकोष थे।

पाठ्यक्रम

इस विश्वविद्यालयमें जो भिक्षु होकर आता था उसे जब दस शील उच्चारण करनेकी योग्यता हो जाती थी तब उसे मात्रिकेतुके दो सूत्र पढ़ाए जाते थे। इसके पश्चात् उसे नागार्जुनकी सुहृल्लेखा, जातक माला, महासत्त्वचन्द्रके गान, अश्वघोषके काव्य, सूत्रालंकार शास्त्र और बुद्धचरित पढ़ाया जाता था। बौद्ध धर्मके इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी पढ़ाए जाते थे। उच्च विषयोंके अध्ययनसे पूर्व लगभग चौदह वर्ष (यदि बालक हो तो ६ वर्षसे लेकर १४ वर्षतक) तक व्याकरणका प्रौढ़ ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। काशिकावृत्ति समाप्त कर चुकनेपर विद्यार्थीको हेतु विद्या (तर्क शास्त्र) और अभिधम्मकोष (बौद्ध दर्शन) का अध्ययन कराया जाता था। इनके अतिरिक्त अन्य दर्शन, योग शास्त्र, तर्क-शास्त्र, तान्त्रिक दर्शन, आयुर्वेद और रसायन भी पाठ्यक्रममें रक्खे गए थे। विचित्र बात यह थी कि बौद्ध होते हुए भी इस विश्वविद्यालयमें साम्प्रदायिक सकीर्णता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्तिको महायान, अठारहों सम्प्रदायोंके ग्रन्थ, वेद, हेतु विद्या, शब्द विद्या, चिकित्सा, शिल्प स्थान (विभिन्न कलाएँ), अभिचार और सांख्यका अध्ययन करना पड़ता था। इस शास्त्रीय और साहित्यिक अध्ययनके अतिरिक्त विद्यार्थियोंको व्यायाम भी करना पड़ता था और दैनिक चंक्रमण अर्थात् टहलना सबके लिये अनिवार्य था।

दिनचर्या और शील

इस विश्वविद्यालयकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें दस सहस्र विद्यार्थी रहते हुए भी सात सौ शताब्दियोंमें एक भी ऐसा

शैली प्रतिस्पर्धियोंको भी मोहित कर लेती थी, वार्तालाप कलामें जिनमित्रको कोई पा नहीं सकता था तथा आदर्श चरित्र और कुशाग्र बुद्धिके लिये ज्ञानचन्द्र अद्वितीय थे। हर्षके पीछे जिन अनेक आचार्योंकी लोकव्यापी ख्याति हुई उनमें चन्द्रगोमिन, शान्तरक्षित, पद्मसम्भव, विनीतदेव, कमलशील, सुदर्शाति, कुमारश्री, कर्णश्री, सूर्यध्वज, सुमतिसेन, आचार्यदेव और प्रभाकरमित्र अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

व्यवस्था

इस विश्वविद्यालयमें पाठ्य क्रम तो उदार था ही, साथ ही शिक्षार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। गुरु और शिष्य दोनों इतना मर्यादित, सुसंघटित और आदर्श जीवन व्यतीत करते थे कि सात सौ वर्षोंमें एक भी अपराध किसीने नहीं किया। यद्यपि प्रतिदिन सौ मञ्चोंसे अध्यापक लोग प्रवचन करते थे और प्रत्येक विद्यार्थीके लिये इन प्रवचनों में उपस्थित होना अनिवार्य था किन्तु फिर भी दिनका समय पर्याप्त नहीं होता था और इसीलिये वहाँके अन्तेवासी दिन-रात एक दूसरेकी सहायता करते हुए, पाठ विचारते हुए, अध्ययन और अध्यापन करते रहते थे।

अक्षयनीवी

इतने बड़े विश्वविद्यालयकी पोषणकी व्यवस्था वहाँके राजाओंने दो सौसे अधिक गाँवकी अक्षयनीवी (स्थिर पोषण)के रूपमें देकर सुलझा दी। इत्सिंगके समयमें दो सौ गाँवोंने इनके पोषणका भार अपने ऊपर ले लिया था। प्रतिदिन दो सौ किसान वहाँगियोंपर चावल, दूध और मक्खन ला-ला कर वहाँ पहुँचाते थे। बाहरसे आनेवाले गुण ग्राहक, उदार राजा और धनिक भी समय-समयपर पर्याप्त धन दे जाते थे। यही कारण है कि वहाँके अध्यापक तथा छात्र ऐसे निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन करते थे कि उन्हें भोजन, वस्त्र, पात्र

और औषधिके लिये विश्वविद्यालयकी ओरसे व्यवस्था थी वहाँ छात्रोंके लिये निःशुल्क भोजनालय खोल दिए गए थे जहाँ विभिन्न वस्तुओंके वितरणकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था कर दी गई थी। नालन्दाका छात्र होना इतने गौरव और सम्मानकी बात थी कि वहाँका कोई भी स्नातक एशियाके किसी प्रदेशमें केवल 'नालन्दा-बन्धु' परिचय दे देनेपर आतिथ्य, सहायता और आदर प्राप्त कर सकता था।

शिक्षा-पद्धति

नालन्दामें शिक्षण-पद्धति तीन प्रकार की थी—

१—प्रवचन-पद्धति, जो दो प्रकारसे व्यवहृत होती थी—पहली उपदेश-पद्धति जिसमें नीति और चरित्र सम्बन्धी प्रवचन होते थे और दूसरी व्याख्या-शैली (एक्स्पोज़िशन मेथड) जिसमें अध्यापक लोग शास्त्रीय विषय बताते हुए उसकी व्याख्या और विवेचना करते चलते थे।

२—प्रश्नोत्तरी-प्रणाली—इसमें अध्यापक और छात्र दोनों एक-दूसरेसे प्रश्न पूछकर और उत्तर देकर ज्ञान पक्का करते चलते थे।

३—शास्त्रार्थ-प्रणाली—इसमें विद्यार्थी परस्पर शास्त्रार्थ करके अपना ज्ञान पक्का करते थे। इन शास्त्रार्थोंसे किसी प्रकारकी कटुता नहीं आने पाती थी और न मनोमालिन्य ही होता था। इसको परस्पर परीक्षण कह सकते हैं। रटना या कण्ठाग्र करना ही ज्ञान-संग्रहका मुख्य आधार था। छात्र परस्पर विचार-विनिमय करके पाठका पारायण भी कर लेते थे तथा अध्यापकोंके पास किसी भी समय पहुँचकर अपनी शंकाका समाधान भी कर लेते थे। अध्यापक इतने उदार थे कि छात्र जिस समय भी आकर प्रश्न पूछते उसी समय उनकी शंकाका समाधान करना और समझा देना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे।

अवसान

जब तेरहवीं ईसवी शताब्दीमें बख्तियार खिलजीने नालन्दाके पास

स्थित पाल राजाओंके गढ़ तथा योग-भोग पूर्ण वज्रयानियोंके केन्द्र उदण्डपुरीपर आक्रमण करके वहाँके साधुओंको तलवारके घाट उतार, उसी समय नालन्दाके भिक्षुओंको भी उन्होंने एक-एक करके काट डाला और इतना विशाल विश्वविद्यालय उन धर्मान्ध मुसल्मान शासकोंने ऐसा नष्ट कर डाला कि वहाँका विशाल पुस्तकालय ही ६ महीनेतक निरन्तर जलता रहा।

भारतीय शिक्षापर इस्लामी प्रभाव

मुसलमानोंके पैगम्बर मुहम्मद साहबने जिस इस्लाम धर्मका नेतृत्व किया वह जब धीरे-धीरे सुरिया (सीरिया) और यूनानसे सम्पर्क स्थापित करने लगा तो स्वाभाविक रूपसे मुसलमानोंने सीरिया और यूनानके दार्शनिकों, नीतिज्ञों और वैद्योंके ग्रन्थोंका अरबी भाषामें अनुवाद करना आरम्भ किया। उन दिनों अधिकांश मुसलमान यूनानी विद्या और सभ्यतासे बहुत सशंक थे। इसीलिये यूनानसे प्रभावित मुसलमानोंको कट्टरपन्थियोंने खदेड़कर उत्तरी अफ्रीका और स्पेनमें भेज दिया। ये खदेड़े हुए लोग ही मूर कहलाए। इन लोगोंने नये देशोंमें पहुँचकर कौर्दोवा, ग्रानाडा, तोलेदो आदि बहुतसे स्थानोंमें अपने नये विद्यालय स्थापित किए। इन विद्यालयोंमें गणित, ज्यामिति, त्रिज्यामिति, ज्योतिष, भौतिक-विज्ञान, प्राणिशास्त्र, ओषधि-विज्ञान, चीर-फाड़, तर्क और न्यायकी शिक्षा दी जाती थी। इन मुसलमानी विद्यालयोंका प्रभाव यह हुआ कि ईसाई-विद्यालयोंने भी उनका अनुकरण करके अपनी शिक्षा-प्रणालीमें बड़ी उन्नति की और नये-नये विषय पाठ्य-क्रममें जोड़ लिए। किन्तु कट्टरपन्थी मुसलमानोंका प्रभाव बड़े वेगसे बढ़ता जा रहा था। वे यह नहीं चाहते थे कि ऐसी विद्याएँ पढ़ाई जायँ जिनका किसी भी रूपमें इस्लामसे विरोध हो इसलिये धीरे-धीरे यह समुन्नत मुसलमानी शिक्षा समाप्त हो गई और मुसलमान फिर जैसेके तैसे रह गए।

भारतीय शिक्षा और मुसलमान शासक

पैगम्बर मुहम्मद साहबके किसी भक्तने कहा है कि "स्वर्णद्वार

करनेकी अपेक्षा अपने पुत्रको पढ़ाना श्रेष्ठतर है।" यों भी इतिहाससे प्रतीत होता है कि उमय्यद युगके प्रथम चार खलीफाओंने ईराक, सूरिया (सीरिया) और ईरानके नवरक्षित देशोंमें प्रारम्भिक शिक्षा चला दी थी। हम ऊपर बता चुके हैं कि योरपके सर्वप्रथम स्थापित होनेवाले विद्याविद्यालय अन्दलूसी, उमय्यद राजकुलने कोर्दोवामें एक विश्वविद्यालय स्थापित किया था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्या प्रसारमें इन प्रारम्भिक मुसल्मानोंने बड़ा रस लिया, किन्तु धीरे धीरे ज्यों ज्यों मुसल्मानोंमें निरंकुश राजतन्त्रकी मदान्धता, धन-लोलुपता और धार्मिक मदान्धता बढ़ती गई त्यों त्यों उनकी शिक्षाकी प्रवृत्ति कम होती चली गई। इसीलिये जिन मुसल्मान आक्रमण-कारियोंने सातवीं शताब्दीसे प्रारम्भ करके चौदहवीं सदीतक भारतमें पदार्पण किया उन सबकी मूल लालसा राज्य सीमाका विस्तार और भारतका धन लूटना ही रहा। पैगम्बर मुहम्मद साहबने जो सांस्कृतिक आदर्श स्थापित किये थे वे सब शिया, सुन्नी आदि मुसल्मानोंके अनेक सम्प्रदायोंके पारस्परिक कलहके कारण शिथिल पड़ गए। कुछ मुल्ला लोग मसजिदोंके साथ ऐसे मक्तब खोलकर अवश्य बैठ गए जिनमें केवल कुरानका ही पारायण कराया जाता था और थोड़ी बहुत इबादत (प्रार्थना) का ढंग सिखा दिया जाता था। जब मुसल्मान शासक भारतमें राज्य बनाकर बैठ गए तब भी इससे अधिक उन्होंने कुछ नहीं किया, यहाँतक कि जब सन् १५२६ में बाबर भारतमें आया तब उसने यहाँकी स्थितिपर यही टिप्पणी की कि यहाँ न तो मदर्से (महाविद्यालय या कालेज) हैं, न मसजिद है, न शिष्ट समाज है। अपने चार वर्षके संक्षिप्त राज्यकालमें वह भी कुछ सुधार करनेमें असफल रहा।

बाबरसे पूर्व मुस्लिम शिक्षा

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सातवीं सदीसे सोलहवीं सदीतक मुस्लिम राज्य-कालमें शिक्षा शून्य ही रही। गजनीके महमूद (महमूद गजनवी) ने यद्यपि भारतमें अपना राज्य स्थापित नहीं किया

किन्तु उसने अनेक भाषाओंकी विविध पुस्तकोंसे सम्पन्न पुस्तकालयसे युक्त एक विशाल विश्वविद्यालय ग़ज़नीमें स्थापित किया और ग़ज़नीकी एक मसजिदके पास प्राकृतिक कौतूहलपूर्ण पदार्थोंका एक संग्रहालय भी बनवाया था। सन् ११९२ में ग़ोरके मुहम्मद (मुहम्मद गोरी) ने दिल्ली पहुँचकर मन्दिर तोड़कर मसजिदें बनाईं और पाठशालाएँ तोड़कर मक्तब (प्रारम्भिक स्कूल) और मदर्से (महाविद्यालय) स्थापित कराए। उसके दास उत्तराधिकारी क़ुतुबुद्दीन ऐबक (सन् १२०६–१२१०) ने बहुत सी मसजिदें और मक्तब बनवाए थे और उसीके समयमें बिहार-स्थित विक्रमशीलाका बौद्ध विहार-विश्वविद्यालय तोड़ा गया एवं उसके आचार्य और छात्र मार भगाए गए। क़ुतुबुद्दीनके उत्तराधिकारी, अल्तुतमश, रज़िया, नासिरुद्दीन और बलबनने भी मसजिदोंके साथ लगे हुए मकतबों और मदर्सोंको प्रोत्साहन दिया और नए खुलवाए भी। हाँ, ख़िलजी शासकोंने शिक्षा-प्रसारके लिये कुछ नहीं किया, उल्टे अलाउद्दीनने शिक्षा-कार्योंके लिये दिए जानेवाले सब परम्परागत इनाम (दान) और वक्फ़ (धार्मिक जागीर) छीनकर दूसरे कामोंमें लगा लिए। उसके उत्तराधिकारी मुबारकशाहने फिरसे उनका प्रचलन किया और तुगलक शासकों (१३२५–१४१३) ने भी इस श्लाघ्य परम्पराका निर्वाह किया। यहाँतक कि फ़ीरोज तुग़लकने तो १२६ लाख टंक (रुपए) पुरस्कार, दान और शिक्षा-कार्यमें व्यय किए थे। इतिहासकार फ़रिश्ताने लिखा है कि "फीरोज तुग़लकने मसजिदोंके साथ तीस महाविद्यालय स्थापित किये और दिल्लीमें एक ऐसा सावास-विश्वविद्यालय (रेजिडेंशल युनिवर्सिटी) स्थापित किया जहाँ छात्रों और अध्यापकोंको राज्यकी ओरसे छात्रवृत्ति और पोषणवृत्ति प्राप्त होती थी। फ़ीरोज़की आँखें मुँदते ही फिर मुसलिम-शिक्षाका अन्धकार-युग आरम्भ हो गया। सन् १३९८ में क्रूर तैमूरने सभी विद्यालयों तथा धार्मिक और धर्मार्थ संस्थाओंको लूटकर उजाड़ दिया। सैयद और लोदी शासकोंने (सन् १४१४–१५२६)

शिक्षाके मामलेमें कुछ इतना ही किया कि सिकन्दर लोदीने अपनी हिन्दू प्रजामें भी फारसीका अध्ययन प्रचलित करा दिया और इस प्रकार उस रेख्ता [illegible] भाषाका सूत्रपात किया जो पीछे उर्दू बनकर चल निकली।

दक्षिण भारतमें मुसलिम-शिक्षा

जहाँ उत्तर भारतमें मुसलिम शासक विद्यालय बना और तोड़ रहे थे वहाँ दक्षिणमें बहमनी और फिर उसके टूटनेपर अहमदनगर, मालवा, गोलकुण्डा, बीजापुर और पश्चिममें सिन्धके छोटे छोटे स्वतन्त्र राज्योंमें वहाँके मुसलमान शासक गाँव-गाँवमें मकतब और मदरसे स्थापित करा रहे थे जहाँ धर्म और शिक्षण साथ साथ चलते थे।

इतना सब करनेपर भी यह कहना न्यायसंगत न होगा कि मुसलिम शासकोंने शिक्षाकी कोई निश्चित राजनीति निर्धारित की थी। सर्वप्रथम हुमायूँने दिल्लीमें बाबरकी समाधिपर एक मदरसा स्थापित किया। शेरशाहने भी नारनौलमें एक मदरसा बनवाया किन्तु यह श्रेय एशियाभरके समकालीन अकबरको ही है कि उसने शिक्षा प्रचार और व्यवस्थाके लिये एक निश्चित राजनीति ही निर्धारित कर ली थी।

अकबरकी शिक्षा नीति

यद्यपि अकबर स्वतः लिख पढ़ नहीं सकता था किन्तु स्वयं बुद्धिमान् होनेके कारण उसे ग्रन्थ सुनने और साहित्यिक वाद विवादोंमें विशेष रुचि थी। इसी कारण उसने मुस्लिम छात्रोंकी सुविधाके लिये महाभारत, रामायण, अथर्ववेद, लीलावती, ताजिक (ज्योतिष), कश्मीरका इतिहास (सम्भवतः राजतरंगिणी) आदि अनेक ग्रन्थोंका फारसीमें अनुवाद कराया। उसने अनेक विलक्षण तथा अप्राप्य पुस्तकोंका विशाल संग्रह करके मुल्ला पीर मुहम्मदको पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त करके एक विशाल पुस्तकालय स्थापित कराया जो दो भागोंमें विभक्त था—एक विज्ञान दूसरा इतिहास। इतना ही नहीं, उसने चित्रकला, संगीत और नस्तालीक (सुलेख लिपि) को प्रोत्साहन दिया और अपने पुत्रों तथा

प्रजाको शिक्षित करनेके लिये सुन्दर व्यवस्थित शिक्षाका प्रबन्ध किया। उसने जो विद्यालय (मकतब और मदर्से) स्थापित किए उनकी विशेषता यह थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों एक साथ, एक ही पाठ्य-क्रम लेकर एक ही विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करते थे। अन्तर इतना ही था कि मुस्लिम छात्र कुरान पढ़ते थे और हिन्दू छात्र व्याकरण, वेदान्त और योगपर पतञ्जलिका भाष्य पढ़ते थे।

शिक्षण-विधि

अकबरने जो मदर्से चलाए उनमें शिक्षण-विधि यह थी—

१—सबको पहले फारसी वर्णमाला सीखनी पड़ती थी और तब उसका शुद्ध उच्चारण और मात्राका ज्ञान करना पड़ता था। तब वे कोई ऐसी सरल नसर (गद्य) या नज़्म (पद्य) का वाचन करते थे जिसमें कोई नैतिक या धार्मिक शिक्षा हो। प्रतिदिन प्रत्येक प्रारम्भिक छात्रको चार अभ्यास करने पड़ते थे—

क—वर्णमालाका पारायण।

ख—संयुक्ताक्षरोंका अभ्यास।

ग—पूरे या आधे शेर (छन्द) का पाठ पढ़ना।

घ—पिछले पाठकी आवृत्ति।

जैसे-जैसे छात्रोंका भाषा-ज्ञान बढ़ता जाता था वैसे-वैसे उन्हें निम्नांकित विषयोंका क्रमशः ज्ञान कराया जाता था—

१. नीति शास्त्र।
२. गणित।
३. बही-खाता।
४. कृषि।
५. ज्यामिति।
६. ज्यौतिष।
७. अर्थशास्त्र (व्यापार शास्त्र, लेनदेन आदि)
८. भौतिक शास्त्र।

९. तर्कशास्त्र।

१०, प्राकृतिक दर्शन या तत्त्वज्ञान।

११ इतिहास।

ये विषय सबको इसी क्रमसे सीखने पड़ते थे। केवल धार्मिक दर्शन मुसल्मानोंको कुरान और हिन्दुओंको व्याकरण, वेदान्त और योग दर्शन पढ़नेकी छूट थी।

मुगल शासक और नये विद्यालय

अकबरने फतहपुर सीकरीकी पहाड़ीपर जो अद्वितीय मदरसा बनवाया उसके अतिरिक्त फतहपुर सीकरी, आगरा और गुजरातमें भी सावास विद्यालय (सावास मदर्से) बनवाए किन्तु दिल्लीके मदर्समें नगरवासी छात्र भी पढ़ने आते थे। इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ मुस्लिम आचार्योंने अपनी ओरसे इल्मे-मौसिकी (संगीत विद्या), इल्मे तसव्वरी (चित्रकला), फिलसफा (अध्यात्मतत्त्व या दर्शन) और सर्वगणितके विद्यालय खोल रक्खे थे जैसे आगरेके मीर अलीबेगने दारुलउलम (विद्यालय) खोल रक्खा था, जिसमें तारीख बदाउनीके लेखक अब्दुलकादिरने अध्ययन किया था। दूसरा मदरसा दिल्लीमें सन् १५६१में अकबरकी आया (धात्री) माहम अनागाने स्थापित किया था। इस प्रकार अकबरके राज्यमें एक ही विद्यालयमें हिन्दू और मुसल्मान छात्रोंको एक साथ पढ़नेकी सुविधा दी गई। हिन्दू तथा मुस्लिम कला और साहित्यको प्रोत्साहन दिया गया, हिन्दू और मुस्लिम महाग्रन्थोंका अनुवाद कराया गया, विभिन्न देशों, धर्मों और सम्प्रदायके विद्वानोंको राज्याश्रय दिया गया और असंख्य शिक्षा संस्थाओंकी स्थापना की गई।

जहाँगीरका शिक्षा प्रेम

अकबरका पुत्र जहाँगीर स्वयं फारसी और तुर्कीका विद्वान् था। उसने तीस वर्षसे उजड़ पड़े हुए मदर्सोंको फिरसे बनवाकर उन्हें छात्रों और अध्यापकोंसे परिपूर्ण करा दिया और इसके लिये उसने ऐसी

सम्पत्तियोंका धन लगाया जिनका कोई उत्तराधिकारी न था। उसके समयमें विभिन्न धर्मोंके माननेवाले आचार्य आगरेके मदरसेमें शिक्षा देते थे। पुस्तक और चित्रकलाका उसने अद्वितीय संग्रह किया था और फ़र्रुख़ बेग, हसन और मंसूर जैसे चित्रकारों, छत्तरखाँ जैसे गायकों, मिर्ज़ा गयास बेग जैसे गणितज्ञों, नियामतुल्ला जैसे इतिहासकारों और बाबा तालिब इस्फ़हानी जैसे कवियोंको राज्याश्रय देकर आदृत किया था। यह सब होते हुए भी शिक्षाके सम्बन्धमें कोई उसकी व्यवस्थित नीति न थी और उसका पुत्र शाहजहाँ तो और भी अव्यवस्थित था। पर फिर भी इन लोगोंने पुरानी नीतिको चलाए रक्खा, बाधा नहीं दी। शाहजहाँने दिल्लीकी जुमा मसजिदके पास सन् १६५० में शाही मदर्सा स्थापित किया था जो सन् १८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य-युद्धके समय अँगरेज़ोंके हाथसे नष्ट किया गया। शाहजहाँने दारुल-बक़ा मदरसेका भी जीर्णोद्धार किया और वहाँ उस्तादे आज़म (आचार्य) के पदपर तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् मौलाना मुहम्मद सदरुद्दीनको नियुक्त किया।

औरंगज़ेबका नया रंग

हिन्दू प्रजाके संबंधमें औरंगज़ेबने अकबरकी शिक्षा-नीतिसे ठीक उल्टी नीति ग्रहण की। अप्रैल सन् १६६९में उसने सब सूबेदारों (प्रान्त-पतियों) को आदेश दिया कि तुम्हारी सीमामें जितने हिन्दू विद्यालय और मन्दिर हों सबको नष्ट कर डालो। किन्तु मुस्लिम शिक्षाके लिये उसने बड़ी उदारतासे धन व्यय किया और स्थान-स्थानपर असंख्य मकतब और मदरसे खुलवा दिए यहाँतक कि उसने लखनऊ-स्थित डच लोगोंका एक भवन छीनकर उसमें भी मदरसा खुलवा दिया। उसने अपने सब दीवानोंको यह आज्ञा दे दी थी कि दीन छात्रोंको योग्यतानुसार छात्रवृत्ति दिया करें। उसने अहमदाबाद, पटना और सूरतके मदरसोंमें छात्रों और अध्यापकोंकी संख्या भी बढ़वा दी।

दण्डके लिये शिक्षाका प्रयोग

संसारके इतिहासमें औरंगज़ेब ही एक मात्र व्यक्ति है जिसने दण्डके

लिये शिक्षाका प्रयोग किया। गुजरातके बोहरे अपने व्यापारके लिये सदासे प्रसिद्ध रहे हैं। जब उन्होंने औरङ्गज़ेबके सिपहसालारों (सेनापतियों)को बहुत तंग किया तब औरङ्गज़ेबने उनके लिये विद्यालय खुलवा दिए, अध्यापक नियुक्त कर दिए, सबकी उपस्थिति अनिवार्य कर दी और मासिक परीक्षाका विधान कर दिया जिससे बोहरोंका अधिकांश समय इन अनिवार्य विद्यालयोंमें बीतने लगा और उनका व्यापार चौपट हो गया।

व्यक्तिगत प्रयास

इन राज्य-संचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ विद्यालय स्वतन्त्र रूपसे और कुछ औरङ्गज़ेबकी सहायतासे खुले, जिनमें अकरमुद्दीन खाँ सदर द्वारा सन् १६९७में एक लाख चौबीस हजार रुपया लगाकर बनाया हुआ विद्यालय, सन् १६७० में बयानाका क़ाज़ी रफ़ीयुद्दीन मुहम्मद-द्वारा सचालित मदरसा और मौलवी अब्दुल हकीमद्वारा स्थापित स्यालकूट (स्यालकोट)का मदरसा बहुत प्रसिद्ध है। औरङ्गज़ेबके पीछे जो उसके उत्तराधिकारी हुए उन्होंने स्वयं तो शिक्षामें कोई रुचि नहीं दिखाई किन्तु बहादुर शाह (१७०७-१७१२)के शासन कालमें एक मदरसा दक्खिनकी निज़ाम-गद्दीके प्रवर्तकके पिता ग़ाज़ीउद्दीनने दिल्लीमें और दूसरा ख़ान फ़ीरोज़जंगने मसजिदोंके साथ खोला। ये दोनों आगे चलकर अर्थाभावके कारण बन्द हो गए। मुहम्मद शाह (सन् १७१९-१७४८)का शासन काल तो बड़े संकटका समय था। नादिरशाहने भी इसी समयमें आक्रमण किया था किन्तु उसीके राजत्व-कालमें आमेर (जयपुर)के राजा जयसिंहने ज्यौतिष-विद्याके संस्कार और प्रचारके लिये जन्तर-मन्तर नामकी प्रसिद्ध वेधशाला बनवाई थी। नादिरशाहके आक्रमणसे भारत केवल आर्थिक दृष्टिसे ही दरिद्र नहीं हुआ वरन् बौद्धिक दृष्टिसे भी दरिद्र हुआ क्योंकि मुगल शासकोंने बड़े अध्यवसायसे जो ग्रन्थरत्न संग्रह किए थे उन्हें भी नादिरशाह ईरान लेता गया। 'शाह-

आलम द्वितीय (सन् १७५९-१८०६)ने बड़े परिश्रमसे एक अच्छा पुस्तकालय संगृहीत किया किन्तु उसे गुलाम क़ादिर लूट ले गया।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मुसलमान शासकोंने प्रायः अपनी हिन्दू प्रजाकी शिक्षाकी ओर ध्यान नहीं दिया, कुछने पहलेसे चले आते हुए विद्यालयोंको जीर्ण भर दिया और औरङ्गज़ेबने तो उन्हें समूल नष्ट करनेका ही उपक्रम किया। अकबर जैसे कुछ लोगोंने हिन्दुओंके लिये मुस्लिम विद्यालयोंमें पढ़नेकी अथवा अलग विद्यालय बनानेकी व्यवस्था भी की थी। इन सबने धार्मिक शिक्षाको महत्त्वपूर्ण समझा था यद्यपि उसका रूप शुद्ध मुस्लिम ही था। किन्तु इतना होनेपर भी शिक्षा सार्वदेशिक न बन सकी। उमरा (धनी लोग) अपने बच्चोंके लिये घरपर अध्यापक रखते थे। शेष अध्यापक भी दस दस बारह बारह विद्यार्थी लेकर जीविकाके लिये मकतब या मदरसे चला रहे थे। विद्यालयका स्वरूप भी पूर्ण रूपसे घरेलू था जिनमें अध्यापक अपने शिष्योंके साथ रहते थे, अपनी कहते और उनकी सुनते थे, अपने सदाचरणके द्वारा उनके आचरण ठीक करते थे, उन्हें प्रोत्साहन देते थे, उनकी प्रशंसा करते थे और आवश्यकतानुसार उन्हें डाँटते फटकारते और पीटते भी थे।

मकतब और मदरसा

बड़े मदर्सोंके अतिरिक्त जितने छोटे मकतब या मदरसे थे उन सबमें एक मियाँ जी पढ़ाते थे जो अपनी खाटपर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए, हाथमें डण्डा लिए बैठे रहते थे। सब विद्यार्थी उनके चारों ओर झुण्ड बाँधकर या पाँत बाँधकर सिर और शरीर आगे पीछे हिला हिलाकर ऊँचे स्वरमें अपना पाठ याद करते थे। जहाँ कोई चुप दिखाई दिया वहीं ललकार हुई—क्यों बे, अमुकके बच्चे (इस सम्बोधनमें विभिन्न जानवरके बच्चों और अण्डोंसे बालककी उपमा दी जाती थी।) और यदि इस ललकारके पश्चात् भी वह सावधान न हुआ या इस

लिये शिक्षाका प्रयोग किया। गुजरातके बोहरे अपने व्यापारके लिये सदासे प्रसिद्ध रहे हैं। जब उन्होंने औरङ्गजेबके सिपहसालारों (सेनापतियों)को बहुत तंग किया तब औरङ्गजेबने उनके लिये विद्यालय खुलवा दिए, अध्यापक नियुक्त कर दिए, सबकी उपस्थिति अनिवार्य कर दी और मासिक परीक्षाका विधान कर दिया जिससे बोहरोंका अधिकांश समय इन अनिवार्य विद्यालयोंमें बीतने लगा और उनका व्यापार चौपट हो गया।

व्यक्तिगत प्रयास

इन राज्य सचालित विद्यालयोंके अतिरिक्त कुछ विद्यालय स्वतन्त्र रूपसे और कुछ औरङ्गजेबकी सहायतासे खुले, जिनमें अकरमुद्दीन खाँ सदर द्वारा सन् १६९७में एक लाख चौबीस हजार रुपया लगाकर बनाया हुआ विद्यालय, सन् १६७० में बयानाका क़ाज़ी रफ़ीउद्दीन मुहम्मद द्वारा सचालित मदरसा और मौलवी अब्दुल हकीमद्वारा स्थापित श्यालकूट (स्यालकोट)का मदरसा बहुत प्रसिद्ध है। औरङ्गजेबके पीछे जो उसके उत्तराधिकारी हुए उन्होंने स्वय तो शिक्षामें कोई रुचि नहीं दिखाई किन्तु बहादुर शाह (१७०७ १७१२)के शासन कालमें एक मदरसा दक्खिनकी निजाम गद्दीके प्रवर्तकके पिता गाज़ीउद्दीनने दिल्लीमें और दूसरा ख़ान फ़ीरोज़जगने मसजिदोंके साथ खोला। ये दोनों आगे चलकर अर्थाभावके कारण बन्द हो गए। मुहम्मद शाह (सन् १७१९ १७४८)का शासन काल तो बड़े सकटका समय था। नादिरशाहने भी इसी समयमें आक्रमण किया था किन्तु उसीके राजत्व कालमें आमेर (जयपुर)के राजा जयसिंहने ज्यौतिष विद्याके संस्कार और प्रचारके लिय जन्तर मन्तर नामकी प्रसिद्ध वेधशाला बनवाई थी। नादिरशाहके आक्रमणसे भारत केवल आर्थिक दृष्टिसे ही दरिद्र नहीं हुआ वरन् बौद्धिक दृष्टिसे भी दरिद्र हुआ क्योंकि मुग़ल शासकोंने बड़े अध्यवसायसे जो ग्रन्थरत्न सग्रह किए थे उन्हें भी नादिरशाह ईरान लेता गया। शाह

आलम द्वितीय (सन् १७५९-१८०६)ने बड़े परिश्रमसे एक अच्छा पुस्तकालय संगृहीत किया किन्तु उसे गुलाम क़ादिर लूट ले गया।

उपसंहार

उपर्युक्त विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मुसलमान शासकोंने प्रायः अपनी हिन्दू प्रजाकी शिक्षाकी ओर ध्यान नहीं दिया, कुछने पहलेसे चले आते हुए विद्यालयोंको जीर्ण भर दिया और औरङ्गज़ेबने तो उन्हें समूल नष्ट करनेका ही उपक्रम किया। अकबर जैसे कुछ लोगोंने हिन्दुओंके लिये मुस्लिम विद्यालयोंमें पढ़नेकी अथवा अलग विद्यालय बनानेकी व्यवस्था भी की थी। इन सबने धार्मिक शिक्षाको महत्त्वपूर्ण समझा था यद्यपि उसका रूप शुद्ध मुस्लिम ही था। किन्तु इतना होनेपर भी शिक्षा सार्वदेशिक न बन सकी। उमरा (धनी लोग) अपने बच्चोंके लिये घरपर अध्यापक रखते थे। शेष अध्यापक भी दस-दस, बारह-बारह विद्यार्थी लेकर जीविकाके लिये मकतब या मदरसे चला रहे थे। विद्यालयका स्वरूप भी पूर्ण रूपसे घरेलू था जिनमें अध्यापक अपने शिष्योंके साथ रहते थे, अपनी कहते और उनकी सुनते थे, अपने सदाचरणके द्वारा उनके आचरण ठीक करते थे, उन्हें प्रोत्साहन देते थे, उनकी प्रशंसा करते थे और आवश्यकतानुसार उन्हें डाँटते-फटकारते और पीटते भी थे।

मकतब और मदरसा

बड़े मदर्सोंके अतिरिक्त जितने छोटे मकतब या मदरसे थे उन सबमें एक मियाँ जी पढ़ाते थे जो अपनी खाटपर हुक्का गुड़गुड़ाते हुए, हाथमें डण्डा लिए बैठे रहते थे। सब विद्यार्थी उनके चारों ओर झुण्ड बाँधकर या पाँत बाँधकर सिर और शरीर आगे पीछे हिला-हिलाकर अच्छे स्वरमें अपना पाठ याद करते थे। जहाँ कोई चुप दिखाई दिया वहीं ललकार हुई—क्यों बे, अमुकके बच्चे (इस सम्बोधनमें विभिन्न जानवरके बच्चों और अण्डोंसे वात्सल्य उपमा दी जाती थी।) और यदि इस ललकारके पश्चात् भी वह सावधान न हुआ या इस

शिक्षिकाकी आवृत्ति हुई तो वह मियाँजीके पास आनेको विवश किया जाता था, उसे पीठ झुकानी पड़ती थी और उसपर दण्डा बरसाये जाते था। इतनेपर भी यदि वह नहीं मानता था तो उसे पीठपर ईंट रखकर मुर्गा बनना पड़ता था, कोठरीमें बन्द रहना पड़ता था या ऐसा ही कोई दण्ड भुगतना पड़ता था। किन्तु ये अध्यापक बड़े भोले भी होते थे। यदि कोई अपराधी शिष्य आटा-दाल या फल फूल लानेका सकेत कर देता था तो वह दण्ड मुक्त भी हो जाता था।

पाठन क्रम

प्रत्येक विद्यार्थीको मियाँ जी बारी-बारीसे अपने पास बुलाते थे, पहले पिछला पाठ सुनते थे, कठाग्र न होनेपर कुटम्मस करते थे और तबतक अगला पाठ नहीं पढ़ाते थे जबतक पिछला पाठ कठाग्र नहीं हो जाता था। नये पाठके लिये मियाँजी शुद्ध उच्चारणके साथ शेर (छन्द)का आधा या चौथाई कई बार छात्रसे कहलवाते थे और तब उसका अर्थ समझाते थे। हिफ्ज (कण्ठाग्र) करना ही अध्ययनका मूलतत्त्व समझा जाता था। इन मदरसोंकी कठोर दण्ड प्रणाली भगोड़ छात्रोंके लिये बड़ी सकटप्रद थी और इसीलिये ऐसे बालकोंको लानेके लिये छात्र दूत भेजे जाते थे जो भगोड़ोंके हाथ पैर पकड़कर उन्हें लटकाकर विद्यालयमें लाते थे।

पोषण

इन विद्यालयोंको गाँवोंसे फसलके समयपर कुछ बँधा हुआ अन्न (जवरा) मिलता था, पर्वोंपर त्योहारी मिलती थी, ब्याह-बारात, जनेऊ आदि मगल अवसरोंपर भेंट मिलती थी। सावनमें या किसी भी महीनेमें चौक चाकही (हाथम छोटे छोटे डण्डे लेकर बजाते हुए विद्यार्थियोंका प्रदर्शन) लेकर छात्रोंके घर जाकर अन्न या धन इकट्ठा किया जाया करता था और यह अध्यापक अपनी शय्यापर बैठा बैठा अन्त समय-तक अध्यापक बना रहता था।

मुस्लिम राज्यकालमें हिन्दू शिक्षा

मुस्लिम शासन-कालमें राज्यकी ओरसे कोई सहायता या प्रोत्साहन न मिलनेपर भी मन्दिरों और मठोंसे सम्बद्ध संस्कृत पाठशालाएँ या गाँवोंके पाधाओंकी चटशालें, उदार हिन्दू धनिकों और ग्रामवासियोंके सहारे चलती रहीं। धनी लोग अपने-अपने घर विद्वानोंको आश्रय देकर अपने बालकोंको शिक्षा दिलवाते रहे। परिणाम यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू जनताके लिये शिक्षाका द्वार अवरुद्ध हो गया और उनमें निरक्षरता, संकीर्णता, अन्धविश्वास और जड़ता व्याप्त होने लगी।

१३

भारतमें योरोपीय शिक्षाका श्रीगणेश

जब विदेशी भारतमें आए

अठारहवीं शताब्दीके पूर्व ही अनेक विदेशी यात्री नये देशोंकी खोज करते हुए भारतकी ओर भी आ पहुँचे। रोमसे स्थल व्यापार कई शताब्दियों पूर्वसे होता आ रहा था। यूनानसे भी राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध स्थल मार्गसे बहुत पहले स्थापित हो चुका था किन्तु जल मार्गसे भी पश्चिमी योरोपके कुछ साहसी व्यवसायी और नाविक आने लगे। शाहजहाँके समयमें ही सर टामस रो नामका एक अंग्रेज़ आया था जिसने अंग्रेज़ोंकी कोठीके लिये सूरतमें भूमि माँग ली थी। इधर दक्षिणमें वास्को दे गामाने पश्चिमी तटपर गोआ, दामन और ड्यूको अपना केन्द्र बनाकर वहाँ पुर्तगाली शासन जमाया। इसके पश्चात् फ्रान्सीसी आए और उन्होंने भी पाण्डेचेरी, माही, कारीकल आदि स्थानोंमें अपने व्यवसाय केन्द्र स्थापित किए। अपने इन केन्द्रोंसे प्रत्येक देशकी व्यावसायिक कम्पनीने अपने अधीन कर्मचारियोंके पुत्रोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खोल दिए जिनमें प्रारम्भसे उनकी अपने देशकी भाषामें उन उन देशवाले कर्मचारियोंके पुत्रोंको पढ़ाया जाने लगा। किन्तु जब इन केन्द्रोंमें भारतीय कर्मचारियोंकी संख्या बढ़ी, तब पुर्तगाली, फ्रान्सीसी और अंग्रेज़ीके बदले एक पँचमेल भाषाके माध्यमसे शिक्षा दी जाने लगी जिसे भारतीय लोग फ़िरंगी भाषा कहने लगे।

ईसाई धर्मका प्रचार

प्रारम्भमें ये सब व्यापारी कम्पनियाँ केवल व्यापारके लिये ही आईं

थीं किन्तु उनमेंसे पुर्तगाली लोग मसाले, नारियल और इलायचीके व्यापारके लिये ही नहीं आए थे वरन् उनका यह भी विचार था कि भारतमें ईसा और ईसाई धर्मका भी प्रचार हो। इसलिये उन्होंने गोआ, दामन, द्यू, कोचीन और हुगलीमें पैर जमाते ही नये ईसाई बने हुए लोगोंको शिक्षा देनेके लिये विद्यालय खुलवा दिए। इनमें पुर्तगाली और स्थानीय भाषामें लिखना-पढ़ना और कैथोलिक धर्म सिखाया जाता था। फ्रान्ससियोंने भी पाण्डेचेरी, माही, चन्द्रनगर और यनाममें अपने व्यापार-केन्द्रोंके साथ प्रारम्भिक विद्यालय खोल दिए जिनमें भारतीय अध्यापक मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देते थे। पाण्डेचेरीमें एक उच्च माध्यमिक विद्यालय भी था जहाँ फ्रान्सीसी प्रवासियों और सैनिकोंके बच्चोंके लिये फ्रान्सीसीकी शिक्षा दी जाती थी और जिसमें फ्रेन्च ईस्ट इण्डिया कम्पनीके भारतीय सेवकोंके उच्च शिक्षार्थी बालक भी अध्ययन करते थे। ये फ्रान्सीसी विद्यालय अत्यन्त व्यवस्थित और नियमित थे और इनमें सब धर्मोंके उच्च वर्णोंके बालक भारतीय लिए जाते थे पर फ्रान्सीसी और पुर्तगाली विद्यालयोंमें पादरी लोग कैथोलिक धर्मका प्रचार भी करते थे और शिक्षा-नीतिपर शासन भी। इन लोगोंने उन ईसाई बालकोंके लिये भी विद्यालय खोल दिए जिन्हें पढ़ानेके साथ-साथ वे भोजन और वस्त्र भी देते थे।

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनीने भी पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियोंकी देखा-देखी अपने व्यावसायिक केन्द्रोंमें काम करनेवाले सेवकोंके बच्चोंके लिये और ईसाई मतका प्रचार करनेके लिये विद्यालय खोल दिए। अंग्रेज लोग प्रोटेस्टेण्ट ईसाई थे इसलिये उन्होंने कैथोलिक पुर्तगालियों और फ्रान्सीसियोंसे ईर्ष्या करके प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मतका प्रचार भी अपने विद्यालयोंमें किया और ईसाई भी बनाने लगे।

डेनिश व्यापारी

सन् १७०६ में प्रोटेस्टेन्ट ईसाई मतमें विश्वास रखनेवाले डेन लोग

(डेनमार्कके रहनेवाले) भारतके दक्षिण-पूर्वी तटपर ट्रन्कोबार स्थानपर पहुँचे। इनसे पूर्व उनके पड़ोसी डच लोग लंकामें सत्रहवीं शताब्दीमें ही आ चुके थे। डेनोंने आते ही पुर्तगाली और तमिल भाषाएँ सीखकर भारतीय बच्चोंके लिये सन् १७२५ में सत्रह विद्यालय "मूर्तिपूजक और मुसलमान" बच्चोंके लिये तथा चार मिशनरी स्कूल ईसाई बच्चोंके लिये खोल दिए। इनमेंसे पहले प्रकारके विद्यालयोंमें ईसाई धर्म नहीं सिखाया जाता था क्योंकि अभिभावकोंने इसका बड़ा विरोध किया। इन डेन पादरियोंने तमिलके द्वारा ही अध्यापन प्रारम्भ किया और फिर अध्यापकोंको अंग्रेजीके माध्यमसे पढ़ाते रहे।

ईसाई-ज्ञान-वर्द्धिनी सभा

प्रोटेस्टेन्ट अंग्रेज पादरी सन् १७२० में मद्रास आए और उन्होंने भी डेनोंकी देखादेखी 'ईसाई ज्ञान-वर्द्धिनी सभा'के द्वारा मद्रास, तंजौर, कड्डालोर, पाल्मकोटा और त्रिपनापल्लीमें विद्यालय खोल दिए। बपतिस्त ईसाई लोग सन् १७९३ में बंगाल पहुँचे और सीरामपुरमें लगभग दस सहस्र बच्चोंको वे अपने चक्रमें ले आए। सन् १८०४में लन्दन मिशनरी सोसाइटीने लंका और बंगालमें विद्यालय चलाए और चर्च मिशनरी सोसाइटी तथा वैस्लेयन मिशनने सूरत, आगरा, मेरठ, कलकत्ता, ट्रन्कोबार और कोलम्बोमें अपने केन्द्र स्थापित कर लिए। पहले तो इन पादरियों की पाठशालाओंसे लोग बहुत भड़के पर धीरे धीरे जब लोगोंने देखा कि ये निःशुल्क शिक्षा दे रहे हैं और ज्ञानका प्रचार कर रहे हैं तब उनकी आस्था बढ़ चली।

ईस्ट इण्डिया कम्पनीका प्रयास

ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भी इन पादरियोंकी बढ़ती हुई लोकप्रियतासे स्पर्धा करके अपने विद्यालय खोलनेका विचार किया। तंजौरके रेजिडेण्ट सलीवानने उच्च जातियोंके बच्चोंकी शिक्षाके लिये सन् १७८४में जो योजना प्रस्तुत की वह कम्पनीने स्वीकार कर ली और कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स (संचालक मंडल) ने सन् १७८७ में योजना हाथमें ले ली।

उन्होंने प्रत्येक विद्यालयके लिये सौ पौण्ड वार्षिक सहायता स्वीकार की और यह आदेश दिया कि इन विद्यालयोंमें अंग्रेज़ी, गणित, तमिल, हिन्दी और ईसाई धर्म सिखाया जाय। ये अंग्रेज़ी विद्यालय बहुत लोकप्रिय नहीं हो पाए क्योंकि इनमें केवल उन ब्राह्मणोंके पुत्र ही शिक्षा पाते थे जो अपने पुत्रोंको कम्पनीमें लिपिक (क्लर्क) बनाकर रखना चाहते थे।

कलकत्ता मदरसा

तत्कालीन गवर्नर-जनरल तथा इतिहासमें दुर्नाम वारेन् हेस्टिंग्सने कम्पनीके व्ययसे अरबीके माध्यमसे मुस्लिम बालकोंको शिक्षित करनेके लिये कलकत्ता मदरसा स्थापित किया। इस मदरसेमें थोड़ेसे विद्यार्थी मासिक छात्रवृत्ति पाकर प्राकृतिक अध्यात्म-तत्त्व, कुरान् धर्म, क़ानून, ज्यामिति, गणित, तर्कशास्त्र और अरबीका व्याकरण पढ़ते थे। सन् १८१९ में कम्पनीने इसके संचालनके लिये तीस सहस्र रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया और सन् १८२३ में एक लाख चालीस हज़ार पाँच सौ सैंतीस रुपये देकर एक नया भवन बनवाया जिसमें सन् १८२९ में तिन्यानवे वृत्ति पानेवाले छात्र अध्ययन करते थे।

संस्कृत कालेज

प्राच्य विद्याको प्रोत्साहन देनेके निमित्त ब्रिटिश रेज़िडेण्ट जोनाथन डन्कनने वारेन हेस्टिंग्सकी प्रेरणापर ही सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज स्थापित करते हुए कहा—"कम्पनीका विचार यह है कि न्याय-शासनके लिये सुयोग्य हिन्दू धर्मशास्त्रके व्याख्याता प्राप्त हो सकें।" इसीलिये मनुस्मृतिके अनुसार ही इसमें शिक्षा दी जाती थी, जिसमें सन् १८२८ में दो सौ सतहत्तर छात्र (२४९ ब्राह्मण, शेष उच्च वर्णोंके अध्ययन करते थे और इस विद्यालयकी प्रबन्ध समितिको कम्पनीकी ओरसे बीस सहस्र रुपया वार्षिक सहायता दी जाती थी। हेस्टिंग्सके उत्तराधिकारी वेलेज़लीने सन् १८०० में कम्पनीके असैनिक (सिविल) सेवकोंके लिये हिन्दू तथा मुस्लिम धर्मशास्त्र तथा भारतीय भाषाओंके माध्यमसे भारतका इतिहास पढ़ानेके लिये एक कालेज खोल दिया।

ईसाई पादरियोंके प्रयत्न

इन विद्यालयोंके अतिरिक्त सन् १७०९ में ऐंग्लिकन पादरियोंने एक कलकत्ता धर्मार्थ विद्यालय (चैरिटेबिल स्कूल) खोल दिया जिसमें ऐंग्लो इण्डियन बालक बालिकाओंको शिक्षा दी जाती थी और जो अब कलकत्ता ग्रामर स्कूल और कलकत्ता गर्ल्स स्कूल नामक दो संस्थाओंमें बँट गया है। सन् १७८९ में फ्री स्कूल सोसाइटीने निर्धन ऐंग्लो इण्डियन बच्चोंके लिये एक नि शुल्क विद्यालय (फ्री स्कूल) खोल दिया और बपतिस्त पादरियोंने भारतीय तथा ऐंग्लो इण्डियन बालक-बालिकाओंके लिये सीरामपुरमें धर्मार्थ शिक्षालय खोल दिया। सन् १७९९ ई० में बगालमें ईसाई धर्मका प्रचार करनेवाले पादरियोंने भारतमें शिक्षाका प्रचार करनेके लिये सीरामपुरमें अपना अड्डा बनाया और वहाँ एक छापाघर खोलकर देशी भाषामें बहुत सी पोथियाँ छापीं। इन लोगोंने सन् १८१५ तक कलकत्तेके आस पास बीस विद्यालय खोल दिए जिनमें लगभग आठ सौ छात्र पढ़ते थे। इन पादरियोंमें तीन नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—कैरी, मार्शमैन और वार्ड। सीरामपुरके इन पादरियोंने तो सन् १७२८ में डेनमार्कके राजासे उपाधि (डिग्री) देनेका अधिकारपत्र भी प्राप्त कर लिया। सन् १८२० में शिवपुर (कलकत्ता) में अमरीकियोंने विशप्स कालेज नामका एक महाविद्यालय खोला और सन् १८३० में प्रसिद्ध स्कॉट विद्वान्, पादरी और राजनीतिज्ञ अलेग्जेण्डर डफने कलकत्तेमें जनरल एसेम्बलीज़ इन्स्टीट्यूशन नामका एक विद्यालय खोल दिया जिसमें पीछे महाविद्यालयकी कक्षाएँ भी जोड़ दी गईं। यही संस्था वर्तमान स्कौटिश चर्च कौलेज और स्कूलकी मूल है। डफने भारतीय शिक्षामें जो स्कौटीय प्रभाव भरा वह तबसे ही भारतीय शिक्षा पद्धतिके रूप निर्माणमें महत्त्वपूर्ण कारण रहा है।

स्वतन्त्र रूपसे योरोपीय शिक्षाका विकास

बगालकी हिन्दू जनतामें जो प्रतिष्ठित और अग्रशील विचारधाराएँ

लोग थे उन्होंने इस नवीन योरोपीय शिक्षा प्रणालीमें विशेष रुचि दिखाना प्रारम्भ किया और उन्होंने न जाने कैसे यह भी मान लिया कि इन सम्पूर्ण योरोपीय शिक्षा प्रयासोंमें अंग्रेजोंकी पद्धति सर्वाधिक श्रेष्ठ है। इस भावनाके फलस्वरूप कलकत्तेके प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी तथा रूढ़ि-विद्रोही समाज सुधारक राजा राममोहन राय, डेविड हेअर और सर एडवर्ड हाइड ईस्टके सम्मिलित उद्योगसे सन् १८१६ में कलकत्तेमें हिन्दू कालेज (कलकत्ता विद्यालय) स्थापित हुआ। राजा राममोहन रायने अंग्रेजी विद्यालय खुलनेसे बहुत पहले ही अंग्रेजी पढ़ ली थी और अंग्रेजीमें बहुत साहित्य भी रचा था। वास्तवमें वे ही प्रथम भारतीय हैं जिन्होंने प्राचीन शिक्षा पद्धतिमें नवीनता लानेकी प्रेरणा दी और अपने देशवासियोंको यह समझाया कि पश्चिमी शिक्षासे ही हमें नया प्रकाश और नया ज्ञान मिलेगा। राजा राममोहन राय इतने अंग्रेजीवादी थे कि जब कलकत्तेमें संस्कृत कालेज खुलनेकी बात चली तो उन्होंने ही उसका घोर विरोध किया। उनके साथी श्री डेविड हेअर, न तो सरकारी पदाधिकारी थे न ईसाई पादरी थे। वे सीधे सादे घड़ी बनानेवाले थे और सन् १८०० से ही भारतमें आनेपर यह समझते लगे थे कि भारतीयोंको योरोपीय शिक्षा पद्धति अत्यन्त लाभकर सिद्ध होगी। इनके तीसरे सहयोगी सर एडवर्ड हाइड ईस्ट, सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) के न्यायाधीश थे।

हिन्दू कालेजकी स्थापना

इस हिन्दू कालेजके लिये जो पहली प्रबन्धकारणी समिति बनी उसमें राजा राममोहन राय नहीं थे क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि यदि मैं सदस्य रहूँगा तो बंगालके कुलीन हिन्दुओंका सहयोग नहीं रहेगा। अत उन्होंने स्वयं अपना नाम हटवा लिया। फलत सन् १८१७ में हिन्दुओंके बालकोंको योरोपीय तथा एशियाई भाषा और विज्ञानकी शिक्षा देनेके लिये जो हिन्दू कालेज खोला गया उसमें अंग्रेजीको

सर्वप्रथम स्थान प्राप्त हुआ। मद्रास और बम्बईमें भी कलकत्ता-नीतिने योरोपीय शिक्षा पर निर्भर।

हिन्दू कालेजका रंग ढंग

कलकत्तेमें जो हिन्दू कालेज खोला गया वह कहलाता तो था हिन्दू कालेज, पर था पूर्णत अहिन्दू। उन दिनों उस कालेजके प्राध्यापक डिरोज़ियाकी तूती बोलती थी। वे पश्चिमी साहित्य तथा दर्शनके अच्छे विद्वान् थे, साथ ही वे भारतीय रीति नीति संस्कृतिके प्रच्छन्न शत्रु भी थे। उन्होंने उस महाविद्यालयके छात्रोंको धीरे-धीरे इस प्रकार अपने रंगमें रँगना प्रारम्भ किया कि यहाँके हिन्दू छात्र, भारतीय रीति और शिष्टाचारका उल्लंघन करके हिन्दू धर्ममें मीन मेख निकालने लगे। वे कालेजसे 'पार्थिनन' नामका एक पत्र भी प्रकाशित करने लगे जिसमें आद्यन्त हिन्दू धर्मकी निन्दा भरी रहती थी। इतना ही नहीं, यहाँके छात्रोंने अपना खान-पान, वेशभूषा, रहन सहन सब बदल लिया और पूरे विलायती बन चले। यद्यपि 'पार्थिनन' पत्र तो थोड़े दिनोंमें बन्द कर दिया गया किन्तु छात्रोंकी उच्छृङ्खलता और स्वधर्म-विरोधी भावना कम होनेके बदले बढ़ती चली गई। परिणाम यह हुआ कि कलकत्तेके कुलीन परिवारके हिन्दू लोग उस विद्यालयमें अपने पुत्र भेजनेसे और अँग्रेज़ी पढ़ानेसे घबराने लगे। प्रसिद्ध बंगाली लेखक माइकेल मधुसूदन दत्त भी इन्हीं डिरोज़ियाके शिष्य थे। वे भी केवल ईसाई ही नहीं बने वरन् उन्होंने 'मेघनादवध' काव्य लिखकर अपनी हिन्दू विरोधी भावनापर मुद्रा अंकित कर दी जिसमें राक्षसोंकी प्रशंसा करके राम और लक्ष्मणको तथा आर्य संस्कृतिको जी भरकर कोसा गया है। यह था कलकत्तेका हिन्दू कालेज।

बम्बईमें शिक्षा-समिति और दक्षिणा कोष

बम्बईमें प्रसिद्ध लोकसेवी माउन्ट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टनके प्रयाससे सन् १८१५ में बम्बई शिक्षा समिति (बॉम्बे एजुकेशन सोसाइटी) स्थापित हुई और सन् १८२२में विद्यालय पुस्तक-भाण्डार और विद्यालय-

समिति (स्कूल बुकडिपो और स्कूल सोसाइटी) की स्थापना की गई। पेशवाओंने विद्वान् हिन्दुओंकी सहायताके लिये जो दक्षिणा-कोष संचित कर रक्खा था उसका प्रयोग बम्बई सरकारने पूना-विद्यालयकी स्थापनाके लिये किया। सन् १८२७ में जब एल्फिन्स्टन भारतसे जाने लगे तब बम्बईके प्रधान नागरिकोंने यह निश्चय किया कि उनके नामसे एक आचार्य-पीठ (चेयर) तबतक ग्रेट ब्रिटनके विद्वानूके लिये स्थापित कर दी जाय जबतक कोई योग्य भारतीय न मिल जाय। यह दक्षिणा-कोष पूना-विद्यालयकी स्थापनाके पश्चात् बम्बईके एल्फिन्स्टन कालेजकी स्थापनाके लिये प्रयुक्त हो गया।

मद्रास शिक्षा-विभाग

मद्रासमें वहाँके प्रथम गवर्नर सर टॉमस मुनरोने सन् १८२२ में तत्कालीन देशी शिक्षा-व्यवस्थाकी जाँच कराई और सन् १८२६ में लोक-शिक्षा-विभाग (बोर्ड ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) खोल दिया गया, जिसका उद्देश्य देशी भाषामें शिक्षाको प्रोत्साहन देना था। इस विभागकी समितिने गावोंमें सौ पाठशालाएँ खोलीं और मद्रासमें अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये एक केन्द्रीय शिक्षण-महाविद्यालय (सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज) खोल दिया। इससे बहुत पहले ही मद्रास और बम्बईमें बहुतसे ईसाई-विद्यालय खुल चुके थे, जिन्हें प्रारम्भमें ईस्ट इण्डिया कम्पनीसे आर्थिक सहायता भी मिलती थी। इन प्रान्तोंके अनेक बड़े नगरोंमें भी पादरियोंकी संस्थाएँ खुल चुकी थीं।

१४

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और भारतीय शिक्षा

हम बता चुके हैं कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने भारतमें शासन भार सँभाला, उस समय स्थान स्थानपर अनेक टोल, पाठशालाएँ, मक्तब और मदरसे थे और जिन प्रान्तोंमें सन् १७९३ की स्थायी भूमि व्यवस्था (पर्मानेंट सेटिलमेंट) थी वहाँ शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ रुपया अलग भी स्वीकृत था। अत कम्पनीने इतना ही किया कि जिन मक्तबों और पाठशालाओंको दान भूमि मिली हुई थी उसे उन्होंने ज्यों-का त्यों रहने दिया। सर्वप्रथम वारेन् हेस्टिंग्सने ही देशी शिक्षाके लिये आर्थिक सहायता देनेके सिद्धान्तका निश्चय किया क्योंकि उसका विचार था कि यदि अंग्रेज़ी सत्ताको यहाँ टिकना ही है तो उसे भारतीय शक्ति बनकर टिकना चाहिए और उसका सबसे बड़ा उपकार यही होगा कि वह ऐसे न्याय और शान्तिकी प्रतिष्ठा करे जिसकी छायामें प्राचीन संस्कृति फल फूल सके। हम बता चुके हैं कि अपने इस संकल्पके फलस्वरूप उसने मुस्लिम विद्या और संस्कृतिके प्रचारार्थ कलकत्ता मदरसा, और हिन्दू विद्या तथा संस्कृतिके प्रचारार्थ बनारस कालेज खोल दिया। इन विद्यालयोंने केवल हिन्दू और मुस्लिम विद्याओंकी ही शिक्षा नहीं दी वरन् राजकीय न्यायाधिकारियोंको धर्मशास्त्रकी शिक्षा भी दी।

सर चार्ल्स ग्रंट

सन् १७९२ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टर और दास प्रथा नष्ट करनेवाले चैपलेन मण्डलके सदस्य, सर चार्ल्स ग्रैन्टने ग्रेट ब्रिटेनकी 'एशियाई प्रजामें सामाजिक स्थितिका सर्वेक्षण' शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया जिसमें यह प्रेरणा दी कि ब्रिटेनको अपनी राजसी नीतिमें

मानवीय भावना भी सम्मिलित करनी चाहिए। अपने उस लेखमें बंगाली हिन्दुओं और मुसलमानोंके सम्बन्धमें उसने लिखा है कि "ये लोग अत्यन्त निम्न कोटिके, झूठे, अनैतिक, दुराचारी, स्वार्थी, धूर्त, ढोंगी, परस्पर-द्रोही, विद्वेषी, डाकू, चोर, देशद्रोही और निर्दयी हैं, जिनमें मुसलमान तो विशेष रूपसे अभिमानी, भयंकर, अराजक, विलासी और क्रूर हैं। अतः इन लोगोंको जब अंग्रेज़ीके माध्यमसे पढ़ाया जायगा तभी इनका सुधार हो सकेगा।"

इण्डिया ऐक्टमें नई धारा

इस प्रेरणाके परिणाम-स्वरूप सन् १८१३ के इण्डिया ऐक्टमें एक धारा बढ़ा दी गई कि "ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंका यह भी कर्त्तव्य होगा कि वे भारतमें शिक्षापर कमसे कम एक लाख रुपये प्रतिवर्ष व्यय करें।" वह तैंतालीसवीं धारा इस प्रकार है—

"यह भी निश्चय किया जाता है कि सपरिषद् गवर्नरको यह अधिकार होगा कि अपनी राज्यसीमाके कर तथा लाभसे जो रुपया राजकीय प्रबन्धके व्ययसे बचे उसमेंसे प्रतिवर्ष एक लाख रुपया 'भारतीय साहित्यके पुनरुद्धार और समुन्नतिके लिये, भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन देनेके लिये एवं भारत की ब्रिटिश राज्यसीमाके निवासियोंमें विज्ञानका ज्ञान प्रसारित करने और समुन्नत करनेके लिये व्यय करे।'"

कम्पनीका नीतिपत्र

ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने सन् १८१४ के नीतिपत्र (डिस्पैच) में उक्त धाराकी नीतिके संचालनके लिये यह निर्देश दिया—

"उस धारामें दो स्पष्ट प्रस्ताव विचारणीय हैं—

(१) भारतके विद्वानोंको प्रोत्साहन और भारतीय साहित्यका पुनरुद्धार एवं उसकी समुन्नति।

(२) भारतवासियोंमें विज्ञानोंके ज्ञानका प्रसार।

हम समझते हैं कि ये दोनों विषय जन विद्यालय खोलकर पूरे

पाठशालाओं और विद्यालयोंमें अध्यापक होकर, लाभकर ग्रन्थोंके अनुवादक और लेखक बनकर अपने देशवासियोंमें अधिक व्यापक रूपसे उन गुणों और लाभोंका प्रचार करेंगे जो उन्होंने स्वयं अंग्रेज़ीके अध्ययनसे प्राप्त किए हैं और फिर योरोपीय विचारों और भावोंके प्रभावसे वे जो उदात्त भावना और उत्कृष्ट संस्कार प्राप्त करेंगे उसे भारतीय साहित्य और भारतीय जनताके मनमें भली भाँति पल्लवित कर सकेंगे।

(६) अत आप (गवर्नर जनरल) कृपया घोषणा कर दें कि जो भारतीय इस पद्धतिसे शिक्षा प्राप्त करके सुयोग्यता अर्जित करेगा—

(क) वह अत्यन्त आदरणीय समझा जायगा।

(ख) उसे सब प्रकारका आर्थिक तथा अन्य सहयोग और प्रोत्साहन उदारतापूर्वक दिया जायगा।

(ग) यह कार्य ब्रिटिश सरकारके प्रति सबसे बड़ा सेवा कार्य समझा जाकर आदृत किया जायगा।

१५

अल्पाधार सिद्धान्त और मैकौले

इस नीति-पत्रमें ही सर्वप्रथम अल्पाधार-सिद्धान्त (इन्फिल्ट्रेशन थिअरी) प्रस्तुत किया गया अर्थात् यह स्वीकृत किया गया कि अब केवल विशेष वर्गोंको शिक्षित करके, उनके द्वारा सर्वसाधारणमें शिक्षा पहुँचाई जाय। आर्थर मेह्यूने इस अल्पाधार-शिक्षा-नीतिकी अत्यन्त मनोहर व्याख्या करते हुए कहा है—

"भारतीय जीवनके हिमालयसे हितकर ज्ञानकी धारा बूँद बूँद करके नीचे टपकेगी जो कुछ समयमें विशाल और भव्य प्रवाह बनकर प्यासे समथल क्षेत्रोंको सींचने लगेगी।"

संचालक (डाइरेक्टर) समझते थे कि शिक्षाके द्वारा सर्वसाधारण-तक पहुँचनेका केवल यही साधन है कि पहले थोड़ेसे गतिशील, बुद्धिमान और सुशिक्षित लोगोंको भली भाँति अंग्रेज़ीकी शिक्षा दे दी जाय, फिर वे स्वयं अपनी स्थानीय परिस्थितिके अनुकूल वहाँकी तत्तत्स्थानीय जनताको शिक्षा देते चलेंगे और इस प्रकार उन अल्पसंख्यक जनोंके प्रयाससे उनके द्वारा जनतामें धीरे-धीरे शिक्षा प्रविष्ट हो जायगी। यद्यपि कम्पनीके संचालक शिक्षा देना तो सबको चाहते थे किन्तु इस अल्पाधार शिक्षा-नीतिके पीछे अन्य कारण ये थे कि—

१. कम्पनीके पास शिक्षाके लिये इतना कम धन था कि जितने लोग अंग्रेज़ी शिक्षामें लाभान्वित होना चाहते थे उनकी ज्ञान-पिपासा उतने कम द्रव्यमें तृप्त नहीं की जा सकती थी।
२. अंग्रेज़ी शिक्षा देना अनिवार्य था क्योंकि अंग्रेज़ोंको भारतके शासन-कार्यमें सहायता देनेके लिये ऐसे योग्य सेवकोंकी भी आवश्यकता थी जो भली भाँति अंग्रेज़ी जानते हों।

३ वर्तमान शैलीमें भारतीय भाषाओंमें लिखी हुई मान्य पुस्तकें भी नहीं थीं इसलिये विवश होकर कम्पनीको यह अल्पाधार शिक्षा नीति ग्रहण करनी पड़ी।

नीतिका विरोध

जिन दिनों यह अल्पाधार शिक्षण नीति प्रस्तुत की जा रही थी उन्हीं दिनों शिक्षा कार्यमें संलग्न कुछ विशेष विचारकोंने उसका विरोध भी किया। इन विरोधियोंका यह कथन था कि इस प्रकारकी नीतिमें शिक्षाकी समस्त शक्ति थोड़ेसे लोगोंको देकर उन्हें अनुदार, उच्छृंखल, निरंकुश तथा एकाधिकारी बनाना सर्वथा अनुचित और असंगत कार्य है। यह तो सम्पूर्ण राज्यके जनसाधारणकी हित भावनाको संकटमें डालकर उनपर एक विशेष प्रकारकी मानसिक और बौद्धिक दासता लादना है। शासनको यह चाहिए था कि प्राचीन शिक्षा प्रणालीको अपनाकर उसीका परिष्कार और सुधार करके उसे लोक हितकारी बनाता न कि उल्टे उसपर विदेशी वस्तु लादकर उसका संहार करता।

आर्थर मेह्यूने अपने 'एजुकेशन औफ़ इण्डिया" नामक ग्रन्थमें इस अल्पाधार शिक्षा नीतिका विश्लेषण करते हुए कहा है—

१ 'जबसे यह शिक्षा नीति चली है तभीसे सुशिक्षित लोगोंने अपने हाथमें ऐसी अच्छी छड़ी पा ली है जिससे सरकारको भली भाँति पीटा जा सकता है। ऐसी नीति प्रतिपादन करनेके लिये वह पीटे जानेकी पात्र भी है क्योंकि ऐसा करके उसने विशिष्ट वर्गोंको जनतासे अलग कर दिया, नगर और गाँवके बीच गहरी खाई खोद दी, पश्चिमी तथा पूर्वी विचार और जीवन पद्धतियोंके बीच दीवार खड़ी कर दी और इस प्रकार जिस भेदके रोगसे भारत पहलेसे ही पीड़ित था उसे और भी प्रबल कर दिया।

२ "इस सिद्धान्तके द्वारा यह विचार सर्वमान्य हो चला कि शिक्षा भी एक प्रकारका विलास है और कुछ अंशोंमें यह एक प्रकारका ऐसा

व्यवसाय है जिसमें रुपया लगाकर कुछ थोड़ेसे विशिष्ट वर्गके लोग सरकारसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकें।

३ "इस सिद्धान्तने यह भी स्थिर कर दिया कि अब सांस्कृतिक विकासके लिये तथा सब वर्गोंकी जनताके भौतिक स्तरको ऊँचा करनेके लिये कोई मार्ग नहीं रह गया क्योंकि जिस शिक्षाका विधान इस अल्पाधार शिक्षा नीतिमें किया गया है उसमें सार्वभौम विकासके लिये कोई मार्ग नहीं रह गया।

४ "गिने चुने लोगोंको ज्ञान देना वैसा ही है जैसे समुद्रको मीठा करनेके लिये उसमें दूधकी कुछ बूँदे डाल देना।

५ 'जिस समयतक अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग नौकरीके मदिर प्रभावसे जागकर, ज्ञानके एकाधिपत्यका स्वार्थ त्यागकर जनताको शिक्षा दें, उस समयतकके लिये प्रतीक्षा करना वैसा ही मूर्खता पूर्ण है जैसे हरिसिंहका नदीके किनारे यह सोचकर बैठना कि जब नदी सूखेगी तब पार जाऊँगा।"

अल्पाधार शिक्षा नीतिका दुष्परिणाम

अल्पाधार शिक्षा नीतिका कुफल अंग्रेज़ोंको उतना

१. उस समय तो इस शिक्षा-नीतिका कुफल अंग्रेज़ोंको उतना नहीं प्रतीत हुआ जितना सन् १८५७ के पश्चात्, जब अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंने ही अंग्रेज़ोंके विरुद्ध क्रान्तिका शंख फूँका। हुआ यही कि अंग्रेज़ी गए छले बनने और रह गए केवल दूबे, क्योंकि जिन ब्रिटिश स्वार्थोंकी रक्षाके लिये यह नीति बनाई गई थी वे ही मिट्टीमें मिल संकटमें पड़ गए। भारतीयोंके रक्तमें और उनके सामाजिक संघटनमें जो संस्कार पड़े हुए थे वे लगभग पौने दो सौ वर्षके अंग्रेज़ी शासनसे भी डिग न पाए क्योंकि अंग्रेज़ी शिक्षा-प्रणाली पूर्ण रूपसे भारतीय जनताके संस्कार और सभ्यताके लिये विदेशी थी।

२. इस शिक्षा नीतिने इस देशमें पहलेसे व्यवस्थित शिक्षाकी उन परिपाटियोंका न तो ध्यान रक्खा न उनसे सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयत्न किया।

३. इस दृष्टिसे यह नीति पूर्णतः मनोविज्ञानशून्य, कृत्रिम तथा निराधार शिक्षा-सिद्धान्तोंपर अवस्थित थी।

४. इसी निराधार शिक्षा-नीतिका यह परिणाम हुआ कि अन्ततक भारत सरकारने सम्पूर्ण जनताको शिक्षा देनेके अपने कर्त्तव्यपर कभी ध्यान नहीं दिया वरन् वह सदा इस शिक्षा-नीतिके बहाने सार्वजनिक शिक्षाका प्रश्न टालती रही।

विश्लेषण

सत्य बात तो यह है, जैसा मैकॉलेने अपने वक्तव्यमें कहा था कि "इस शिक्षाका उद्देश्य भारतीयोंको बौद्धिक ज्ञान देना नहीं था वरन् थोड़ेसे भारतीय लोगोंका एक ऐसा दल प्रस्तुत करना था जो रंगमें भारतीय हों किन्तु खान-पान, वेष-भूषा, आचार-विचार सबमें योरोपीय हों।" आर्थर मेह्यूने स्पष्ट रूपमें कहा है कि "उस समय अंग्रेज़ोंको कुछ ऐसे विशिष्ट वर्गके लोगोंकी आवश्यकता थी जो अपने देशवासियोंको धोखा देकर अंग्रेज़ोंके प्रति निष्ठावान् हों।" जहाँतक पाठ्य पुस्तकोंकी कठिनाईकी बात थी वह तो केवल छः मासमें पूरी हो सकती थी। यदि ब्रिटिश अधिकारी तनिक-सा भी ध्यान देते तो भारतकी प्रमुख भाषाओंमें सब पुस्तकोंका अनुवाद करा सकते थे। अभी स्वतन्त्र होनेके पश्चात् जब हिन्दीको राष्ट्रभाषा बनानेका प्रश्न उठा तब भी विरोधियोंने वही दो सौ वर्ष पुराना तर्क देना प्रारम्भ किया था कि हिन्दीमें पाठ्य पुस्तकें नहीं हैं। किन्तु हमारे देखते-देखते दो-तीन वर्षोंके भीतर सब विषयोंपर लिखी हुई हिन्दीकी पुस्तकोंका अम्बार लग गया। आज भारतकी कोई ऐसी प्रमुख भाषा नहीं है जिसमें ज्ञान विज्ञानकी पर्याप्त पुस्तकें न हों। इसलिये पाठ्य पुस्तकोंका अभाव केवल एक प्रचण्ड बहाना था। उस समय उन लोगोंने अंग्रेज़ीको जो शिक्षाका माध्यम बनाया वह जानबूझकर बनाया क्योंकि उससे उनकी स्वार्थसिद्धि होती थी।

अंग्रेजी वादियों और प्राच्यविद्या वादियोंका कलह

इधर तो यह शिक्षा नीति अपनानेका चक्र चल रहा था उधर दिसम्बर १८३१ में सार्वजनिक शिक्षा-समिति (कमेटी ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन)ने अपना प्रथम विवरण प्रकाशित किया जिससे यह प्रतीत हुआ कि उस समयतक इस समितिके अधीन चौदह संस्थाएँ चल रही थीं जिनमें ३४९० छात्र पढ़ रहे थे। प्राच्य विद्याकी संस्थाओं (संस्कृत तथा अरबी विद्यालयों)के छात्र अधिकांशतः छात्रवृत्ति पाकर पढ़ते थे और प्रतिवर्ष अरबी और संस्कृत पुस्तकोंके प्रकाशनपर अत्यधिक धन भी व्यय हो रहा था। उधर लोगोंकी रुचि अंग्रेजी शिक्षाकी ओर अधिक बढ़ती जा रही थी। इस प्रकार कम्पनीकी ओरसे मिलनेवाले एक लाख रुपयेके व्ययकी नीतिपर दो दलोंमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया।

ट्रैवेल्यिनने इन दोनों दलोंका अत्यन्त मनोहर वर्णन किया है—

"जहाँ एक ओर कोई न कोई शिक्षा-नीति स्थिर करनेकी बात चल रही थी वहाँ अंग्रेजी पढ़नेका चाव सहसा इतना बढ़ गया कि चारों ओरसे सार्वजनिक शिक्षा समितिपर यह दबाव डाला जाने लगा कि शीघ्र ही शिक्षाके माध्यमका निर्णय कर दिया जाय। जो पुस्तकें छपीं उनकी यह दशा थी कि उनमेंसे अंग्रेजी पुस्तकें तो दो वर्षमें तीन हज़ार एक सौ बिक गईं परन्तु संस्कृत और अरबीकी पोथियाँ तीन वर्षोंमें भी इतनी न बिक पाईं कि उनकी छपाईका व्यय निकलना तो दूर, उन्हें दो मासतक सुरक्षित रखनेका व्ययतक निकल आवे। ऐसी परिस्थितिमें स्वयं समितिके भीतर ही वैमत्य उठ खड़ा हुआ। एक दल तो संस्कृत और अरबीके ग्रन्थोंका प्रकाशन करने तथा संस्कृत और अरबीमें अंग्रेजी ग्रन्थोंका अनुवाद चलाते रहनेके पक्षमें था, दूसरा दल योरोपीय विज्ञानको संस्कृत और अरबीके माध्यममें प्रकाशित और प्रचारित करनेके व्यय-साध्य कार्यक्रमको तत्काल समाप्त करके, प्राच्य विद्याके प्रोत्साहनके लिये दी हुई सब प्रकारकी छात्र वृत्ति बन्द करके, केवल गिनी चुनी तथा अत्यन्त आवश्यक संस्कृत और अरबीकी पुस्तकोंको

और मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि योरोपीय पुस्तकालयकी एक भण्डारी (आल्मारी), भारत और अरबके सम्पूर्ण साहित्यके बराबर है।"

५. "यह कहनेमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि संस्कृत भाषाकी पुस्तकोंसे जितनी ऐतिहासिक सामग्री एकत्र की जा सकती है वह सब इंगलैण्डकी प्रारम्भिक पाठशालाओंमें पढ़ाई जानेवाली पुस्तकोंकी सामग्रीसे भी अत्यन्त अल्प एवं सूक्ष्म है।"

मैकौलेकी विचारान्धता

मैकौलेने संस्कृत और अरबीके विरुद्ध जो मदूग्रस्त होकर वक्तव्य दिया वह कितना स्वयं-विरोधी और असत्य है यह समझानेकी आवश्यकता नहीं। उसने संस्कृत और अरबी बिना पढ़े ही योरोपीय साहित्यसे उनकी तुलना कर डाली और अपने प्रबल आत्मज्ञानसे उसने यह भी परिणाम निकाल लिया कि उन संस्कृत ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक सामग्री कुछ भी नहीं है। यह लोक विदित है कि पुराणों, कथा ग्रन्थों तथा राजतरंगिणी और हर्षचरित जैसे काव्योंमें इतनी प्रामाणिक, सूक्ष्म और विशद ऐतिहासिक सामग्री व्याप्त है जो मैकौले द्वारा लिखित निरर्थक वाग्जाल और शब्दाडम्बरसे पूर्ण इंगलैण्डके इतिहासमें ढूँढे भी नहीं मिलती। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैकौले, अंग्रेजोंका शुभचिन्तक था और उसने उन्हींके कल्याणार्थ ही अपना मत प्रकट किया था।

अपने मतकी व्याख्या करते हुए वह आगे कहता है—

'हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम उन लोगोंके लिये शिक्षाकी व्यवस्था करें जो अपनी मातृभाषाके द्वारा शिक्षित नहीं किए जा सकते। इसलिये हमें किसी विदेशी भाषाके माध्यमसे उन्हें शिक्षित करना होगा और इस सम्बन्धमें अंग्रेज़ी कितनी सहायक होगी यह कहना निरर्थक है क्योंकि—

(क) पश्चिमकी भाषाओंमें अंग्रेज़ी ही सर्वप्रमुख है;

(ख) जो व्यक्ति इस भाषासे परिचित है वह उस सम्पूर्ण बौद्धिक निधिको

सरलतासे प्राप्त कर लेता है जो संसारकी जातियोंने रचा है या ढाला है।

(ग) भारतमें भी यहाँके शासक-वर्ग तथा उच्च-वर्गकी भाषा भी अंग्रेज़ी ही है।

(घ) यह भी सम्भावना है कि यह पश्चिमके सम्पूर्ण समुद्रावेष्टित भूभागकी व्यवसाय-भाषा बन जाय ; और

(ङ) आज भी यह योरपसे बाहर रहनेवाली दो प्रमुख जातियों—दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलियाकी गोरी जातियों—की भाषा है। इसलिये हमारे सम्मुख सीधा सादा प्रश्न यह है कि क्या हम अपने हाथमें ऐसी समृद्ध भाषाके शिक्षणकी शक्ति रखते हुए भी जनताके व्ययपर ऐसा ज्योतिष सिखावें जिसे सुनकर अंग्रेज़ी छात्रावासकी कन्याएँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायँ; ऐसा इतिहास पढ़ावें जिसमें तीस-तीस सहस्र वर्ष राज्य करनेवाले तीस-तीस फुट ऊँचे राजाओंकी कथाएँ हों; और ऐसा भूगोल पढ़ावें जिसमें मधु और दूधके समुद्रोंका वर्णन हो।"

विरोधियोंकी आलोचना

इसके पश्चात् मैकौलेने अपने विरोधियोंके तर्कोंका उत्तर देते हुए कहा—

"यह कहा जाता है कि हमें देशी जनताका सहयोग प्राप्त करना चाहिए और यह सहयोग हम अरबी और संस्कृत भाषाके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। यह मत तनिक भी मान्य नहीं है क्योंकि शिक्षा पानेवालोंको यह अधिकार नहीं है कि वे अपने लिये स्वयं पाठ्यक्रम निर्धारित करें ; यह काम तो शिक्षा देनेवालेका है। यह अत्यन्त घातक नीति होगी कि हम उनका बौद्धिक ह्रास करके केवल उनकी रुचिको तृप्त करते रहें। संस्कृत विद्यालयके अनेक पूर्व छात्रोंने एक प्रार्थनापत्र उपस्थित किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि हम बारह वर्षतक विद्यालयमें पढ़ने और योग्यताका प्रमाणपत्र पानेपर भी हम अपनी दशा

क्योंकि एक तो यह पद हो अत्यन्त सम्मानका है, दूसरे इसमें एक सहस्र रुपया वार्षिक वेतन भी मिलता है।"

इसके अतिरिक्त मैकालेका यह भी उद्देश्य था कि अंग्रेज़ीकी शिक्षाके द्वारा ईसाई धर्मका प्रचार करने तथा यहाँके निवासियोंको ईसाई बनानेमें भी सुविधा मिलेगी। उसने अपने पिताको पत्र लिखा था—

"इस शिक्षाका प्रभाव हिन्दुओंपर बहुत अच्छा पड़ रहा है और जो भी हिन्दू, अंग्रेज़ी पढ़ते हैं वे अपने धर्मके भक्त नहीं रह जाते। उनमेंसे कुछ दिखावे भरके लिये हिन्दू रह जाते हैं, कुछ धर्म विरोधी हो जाते हैं और कुछ ईसाई बन जाते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी यह शिक्षा योजना चलाई जाती रही तो तीस वर्षोंमें बंगालके उच्च वर्णोंमें एक भी मूर्तिपूजक नहीं बच रहेगा।"

मैकालेके मानसपुत्र

ये दो पत्र ही उन लोगोंका मुँह बन्द करनेके लिये पर्याप्त हैं जो आज स्वतन्त्र भारतमें भी मैकालेके मानसपुत्र बनकर यह कहनेकी धृष्टता करते हैं कि मैकालेने अत्यन्त उदार तथा निष्पक्ष भावसे इस शिक्षा प्रणालीका प्रचलन किया और जो आज भी अंग्रेज़ीको चलाते रखनेकी सम्मति देकर भयंकर देशद्रोह करनेकी धृष्टता कर रहे हैं। उपर्युक्त विस्तृत विवरणसे किसीको भी यह समझनेमें सन्देह नहीं रहेगा कि मैकाले, भारतीय भाषा, भारतीय संस्कृति और भारतीय साहित्यके साथ साथ अरबी संस्कृति और साहित्यका जन्मजात कट्टर शत्रु था। उसने अपने वक्तव्यमें केवल अपनी अनभिज्ञता और अपने अविवेकका ही परिचय नहीं दिया वरन् अपनी पण्डितम्मन्यताका उद्दण्डपूर्ण आभास देते हुए अत्यन्त क्षुद्रता तथा छिछोरपनके साथ भारतीय ज्ञान विज्ञान और इतिहासकी हँसी उड़ाई है। यह आश्चर्यकी बात है कि इतनी खल भूमिकामें अङ्कुरित और पल्लवित की हुई शिक्षा योजनाका मूल आज स्वतन्त्र

भारतमें भी अपनी सहस्र-गुणित शाखा-प्रशाखाओंके साथ फैलता चला जा रहा है और हम उसे अज्ञानवश निरन्तर सींचते जा रहे हैं। मैकॉलेने न तो भारतीय भाषाओंकी समृद्ध शक्तिका अध्ययन किया और न मध्यकालीन कवियों और लेखकों-द्वारा भारतकी विभिन्न भाषाओंमें प्रतिष्ठित उदात्त भावभूमिसे परिचय पानेका कोई उद्योग किया। उसीके समयमें जहाँ एक ओर जर्मन यात्री संस्कृतसे प्रभावित होकर उसका अध्ययन कर रहे थे वहाँ मैकॉले उसकी हत्या करनेका यह क्षुद्रतापूर्ण षड्यन्त्र रहा था। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मैकॉलेको *अपने पड़ोसकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंका भी कोई ज्ञान नहीं था।* इसीलिये उसके विचार अत्यन्त संकुचित और प्रवंचनापूर्ण थे।

प्रिंसेप और मेह्यू

प्रिन्सिपने तो उसी समय मैकॉलेका घोर विरोध किया और *बतलाया कि मैकॉलेने जिस उपेक्षा-भावसे भारतीय और अरबी* साहित्यकी आलोचना की है वह सर्वथा निराधार और हेय है।

मेह्यूने इस सम्बन्धमें विवेचना करते हुए बताया है कि अंग्रेज़ी शिक्षाकी व्यवस्थाके पीछे तीन बड़े लक्ष्य थे—

(क) शासन-*कार्यमें सहायता देनेके लिये भारतीयोंको शिक्षित करना।*

(ख) राष्ट्रकी भौतिक समृद्धिमें सहायक होना।

(ग) नैतिक और सामाजिक रूढ़ियोंमें मग्न भारतीयोंको ज्ञान सम्पन्न और विवेकशील बनाना।

किन्तु मेह्यूका यह वक्तव्य भी उतना सत्य नहीं है क्योंकि मैकॉलेके ऊपर उद्धृत किए हुए दोनों पत्र स्वयं इस वृत्तिका विरोध करनेके लिये पर्याप्त हैं।

१६

शिक्षाकी नवीन नीति [सन १८३५]

इतना विरोध होनेपर भी ७ मार्च सन् १८३५ को लार्ड विलियम बेंटिकने मैकालेकी नीतिको राज्यकी नीति मानकर निम्नांकित प्रस्ताव घोषित कर दिया—

"सपरिषद् गवर्नर जनरलने सार्वजनिक शिक्षा मन्त्रीके पिछली २१ और २२ जनवरीके दोनों पत्रों और उनमें उद्धृत अन्य पत्रोंपर भली भाँति विचार करके यह निश्चय किया है कि—

(१) ब्रिटिश सरकारका मुख्य उद्देश्य यह होगा कि वह भारतवासियोंमें पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानोंका प्रसार करे क्योंकि शिक्षाके लिये जितना धन प्रयोगमें लाया जाता है वह केवल अंग्रेजी शिक्षाके लिये ही सर्वश्रेष्ठ रूपमें प्रयुक्त हो सकता है।

(२) किन्तु, सपरिषद् गवर्नर जनरलका यह भी उद्देश्य है कि जो देशी शिक्षाके महाविद्यालय या विद्यालय विद्यमान हैं, वे तबतक न तोड़े जायँ जबतक कि भारतीय जनता उससे लाभ उठानेके लिये उत्सुक और प्रवृत्त है। अत सपरिषद् गवर्नर जनरल यह आदश देते हैं कि वर्तमान देशी विद्यालयोंमें जितने प्राध्यापक या छात्र हैं और शिक्षा-समितिके अधीन जितनी संस्थाएँ हैं उन्हें यथापूर्वक सहायता तो मिलती रहे किन्तु आजतक प्रचलित इस प्रणालीपर घोर आपत्ति है कि सरकार द्वारा छात्रोंका भरण पोषण करके ऐसी शिक्षाको अनावश्यक और कृत्रिम प्रोत्साहन दिया जाय जो थोड़े दिनोंमें स्वाभाविक रूपसे अधिक उपयोगी शिक्षाके द्वारा समाक्रान्त हो जायगी। अत ऐसे देशी विद्यालयोंमें पढ़नेवाले किसी भी छात्रको भविष्यमें कोई

भी छात्रवृत्ति नहीं दी जायगी। साथ ही, इन प्राच्य संस्थाओंके कोई भी प्राध्यापक यदि अपना पद-त्याग करेंगे तो उनका स्थान रिक्त रहेगा और छात्रोंकी संख्या तथा कक्षाकी दशा देखकर सरकार यह विचार करेगी कि उस स्थानपर किसीको नियुक्त करना चाहिए या नहीं।

(३) सपरिषद् गवर्नर जनरलको यह सूचना मिली है कि समितिने प्राच्य ग्रन्थोंके प्रकाशनपर बहुत रुपया व्यय कर दिया है। गवर्नर जनरलका यह आदेश है कि भविष्यमें इस कार्यके लिये किसी प्रकारका व्यय न किया जाय और इन सुधारोंके पश्चात् जो कुछ रुपया बचे वह अंग्रेज़ी माध्यमके द्वारा भारतीयोंको अंग्रेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें लगाया जाय।

सारांश

सारांश यह है कि—

(१) पाश्चात्य साहित्य और विज्ञानका प्रसार ही सरकारने अपनी नीति बना ली।

(२) प्राच्य ग्रन्थोंका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

(३) नई छात्रवृत्तियाँ बन्द कर दी गईं।

(४) बचा हुआ धन अंग्रेज़ी भाषाके माध्यमसे अंग्रेज़ी साहित्य और विज्ञान पढ़ानेमें व्यय किया गया और इस प्रकार अंग्रेज़ी और प्राच्य विद्याका पारस्परिक सम्बन्ध पूर्णतः निश्चित हो गया। साथ ही,

(५) देशी भाषाओंका महत्त्व भी स्वीकृत किया गया और यह मान लिया गया कि एक उचित देशी साहित्यके निर्माणके लिये सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित कर देनी चाहिए।

कुटिल नीति

महत्त्वकी बात यह है कि मुसलमान केवल इस नीतिसे अलग ही नहीं रहे वरन् उन्होंने इस अंग्रेज़ी शिक्षाका विरोध भी किया और एक स्मृतिपत्र-द्वारा उन्होंने सरकारपर यह आरोप लगाया कि तुम भारतीयोंको ईसाई बनाना चाहते हो। यों भी उच्च शिक्षाके लिये अंग्रेज़ीको

माध्यम बनानेका निर्णय किसी शिक्षाकी दृष्टिसे नहीं किया गया था। वास्तवमें उस समयतक कोई शिक्षा-विधान तो प्रस्तुत था नहीं, अतः तत्कालीन परिस्थितियोंमें शिक्षाका एकमात्र माध्यम अंग्रेजी बनाना उन्हें अपरिहार्य जान पड़ा क्योंकि एक ओर संस्कृत और अरबी थी, दूसरी ओर अंग्रेज़ी थी। ऐसी परिस्थितिमें जो लोग संस्कृत और अरबीको फूटी आँखों नहीं देखना चाहते थे, उनके सम्मुख अंग्रेज़ीके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं था। वे चाहते तो देशी भाषाओंको भी अत्यन्त सरलतासे शिक्षाका माध्यम बना सकते थे। बहुतसे रजवाड़ोंमें देशी भाषाओंमें सब काम हो ही रहा था। किन्तु मैकॉलेकी कुटिल दृष्टिमें शिक्षा-नीतिसे भिन्न कुछ दूसरा ही स्वप्न था। यदि यह न होता और अंग्रेज़ीके बदले संस्कृत या कोई देशी भाषा माध्यम स्वीकृत की गई होती तो जिस प्रकारके भयंकर कुसंस्कारोंने भारतीय समाजको विशृंखल करके विचारकी दासता मस्तिष्कमें भर दी वह सम्भवतः न भरी रहती और भारत आधी शताब्दी पूर्व ही पराधीनताकी बेड़ियाँ तोड़कर मुक्त हो जाता। भारतीयोंको ईसाइयत और अंग्रेज़ियतमें रँग लेनेके अतिरिक्त उन लोगोंका यह भी उद्देश्य था कि हम अपनी भाषाके माध्यमसे एशिया-वासियोंमें योरोपकी संस्कृतिका प्रसार करें। हर्षकी बात है कि उनका कुचक्र पूर्णतः सफल नहीं हो पाया और अथक परिश्रम करनेपर भी उनकी यह कामना सिद्ध न हो पाई कि कृत्रिम उपायोंसे, नौकरीके लोभमें पड़े हुए लोग, अंग्रेज़ी भाषामें राष्ट्रीय साहित्य उत्पन्न करने लगें। राष्ट्रीय साहित्य तो राष्ट्रकी अपनी भाषामें, अपनी विचार पद्धति और अभिव्यक्तिकी परम्परामें, अपने साहित्य, दर्शन और विज्ञानकी छायामें अंकुरित होता है, पल्लवित होता है और फलता है। अतः संस्कृतके बदले अथवा देशी भाषाओंके बदले अंग्रेज़ीको माध्यम बनाना अंग्रेजोंके लिये तो असफल हुआ ही किन्तु उसने भारतीय आचार-विचार और संस्कारको भी कम धक्का नहीं पहुँचाया। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग आधे तीतर आधे बटेर बने रहे।

आंशिक सफलता

सन् १९३५ में जो थोड़ी-बहुत सफलता इस अंग्रेज़ी शिक्षाको मिली उसका कारण यह नहीं है कि वास्तवमें लोग इस शिक्षाको श्रेष्ठ समझते थे, वरन् उसके चार कारण थे—

(१) सन् १८३५ में समाचार-पत्रोंको स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई।
(२) सन् १८३७ में राजभाषाके पदसे फारसी उतार दी गई और उसके स्थानपर अंग्रेज़ी प्रतिष्ठित की गई।
(३) न्यायाधिकारियोंको सन् १८३६ से १८४६ तक अधिक विस्तृत अधिकार दे दिए गए।
(४) सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंजने अपने प्रस्तावसे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगोंको अधिक सुविधाएँ और प्रधानता दी।

अंग्रेज़ी शिक्षाका प्रसार [सन् १८३५ से १८५४]

अपनी भेड़िया-धसानके लिये जगत्प्रसिद्ध भारतीयोंने इस अंग्रेज़ी शिक्षाके प्रति इतनी उत्सुकता प्रदर्शित की कि जहाँ सन् १८४३ में बंगालमें अट्ठाईस राज-संस्थाएँ थीं वहाँ सन् १८५५ में एक सौ इक्यावन हो गईं और छात्रोंकी संख्या भी ४६३२ से बढ़कर १३१६३ हो गई। बम्बईमें भी जहाँ सन् १८३४ में तीन सौ अठारह विद्यार्थियोंके दो विद्यालय थे वहाँ सन् १८४० में ७४२६ छात्र हो गए। मद्रासमें कुछ गति मन्द थी यहाँतक कि सन् १८३७ में एक ही विद्यालय अंग्रेज़ी पढ़ानेके लिये खुला। सन् १८४१ में कलकत्तेके हिन्दू कालेजके समान एक और सरकारी विद्यालय खोला गया जिसका विचित्र नाम मद्रास यूनिवर्सिटी रक्खा गया और जिसमें सन् १८५२ तक भी दो सौ छात्र नहीं पहुँच पाए। किन्तु ईसाई धर्म-प्रचारक संस्थाओंकी ओरसे सन् १८५२ तक लगभग १२०० विद्यालय खुल गए थे जिनमें अड़तीस सहस्र छात्र पढ़ते थे। मद्रास क्रिश्चियन कालेजमें भी लगभग ३०० बालक पढ़ रहे थे।

शाखाओंमें कौनसा ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें उन्होंने घोषित किया कि—

(१) आगे बढ़नेसे पूर्व हम यह घोषित कर देना चाहते हैं कि हम भारतमें जिस प्रकारकी शिक्षाका विस्तार करना चाहते हैं उसका स्वरूप यही होगा जिसमें योरोपकी समुन्नत कलाओं और विज्ञानोंका प्रस्तार हो।

(२) संस्कृत, अरबी और फ़ारसी साहित्योंके अध्ययनके लिये जो विशेष संस्थाएँ खुली हुई हैं और उनके द्वारा जो सुविधा लोगोंको मिल रही है उसे हम कम नहीं करना चाहते किन्तु इस प्रकारके सब प्रयत्न गौण ही समझे जायँगे।

(३) उन वर्गोंको सब प्रकारकी सुविधा दी जायगी जो उदार योरोपीय शिक्षा प्राप्त करनेके लिये समुत्सुक हैं।

(४) किन्तु हम यह मानते हैं कि जो अधिकांश जनता किसी सहायताके बिना शिक्षा प्राप्त करनेमें पूर्णतः असमर्थ है अतः उसे जीवनके प्रत्येक क्षेत्रके उपयुक्त उपादेय और व्यावहारिक ज्ञान दिया जायगा।

उद्देश्य प्राप्तिके साधन

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये निम्नलिखित साधन सुझाए गए—

(१) एक अलग शिक्षा विभाग खोल दिया जाय जिसमें निरीक्षकों और उपनिरीक्षकोंके दलके सहित शिक्षा संचालक नियुक्त किए जायँ जो विभागपर भली प्रकार शासन कर सकें।

(२) कलकत्ता, बम्बई और मद्रासमें लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर परीक्षक विश्वविद्यालय (ऐग्ज़ामिनिंग युनिवर्सिटी) स्थापित किए जायँ।

(३) स्थान स्थानपर राजकीय विद्यालय स्थापित किए जायँ।

(४) प्रारम्भिक शिक्षापर अधिकाधिक ध्यान दिया जाय।

(५) अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये शिक्षाशास्त्र-विद्यालय (ट्रेनिंग स्कूल या कालेज) खोले जायँ।

(६) जनता-द्वारा चलाए हुए विद्यालयोंकी सहायताके लिये आर्थिक सहायता-प्रणाली (ग्रैंट-इन-एड सिस्टम) भी प्रारम्भ की जाय और इस सहायताका वितरण पूर्णतः धार्मिक भेद-भावसे अलग रहकर श्रेष्ठ लौकिक ज्ञानके आधारपर किया जाय। इनका निरीक्षण विभागीय कर्मचारी निरन्तर करते रहें और इनमें कुछ न कुछ शुल्क भी लिया जाता रहे।

सन् १८५४ का यह महाविधान सर चार्ल्स वुडने प्रस्तुत किया था अतः इसका नाम वुडका नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) या शिक्षा-महाविधान-(मैग्ना कार्टा ऑफ़ एजुकेशन) पड़ गया है। इस नीतिपत्रमें राष्ट्रकी सार्वजनिक शिक्षाकी पूर्ण योजना प्रस्तुत कर दी गई है इसीलिये एक विद्वान्‌का कहना है कि "यह महाविधान भारतीय शिक्षाके इतिहासकी सर्वोच्च तथा सर्वोत्कृष्ट सीमा है क्योंकि इससे पहले जो कुछ हुआ है वह इसतक पहुँचता है और जो आगे हुआ है वह इसीसे ढला है।"

सन् १८५४ के संविधानका विश्लेषण

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके संचालकोंने भारतीयोंके सिरपर अंग्रेज़ी-शिक्षा-प्रणाली लादनेके लिये पूर्ण छल-छद्मके साथ भारतीयोंको भौतिक और लौकिक सुखका रूपक देकर भुलाया, पर साथ ही उन्होंने इतनी सद्‌वृत्ति अवश्य दिखलाई कि योरोपीय उत्पादकोंके हितकी दृष्टिसे और अपने राज्यको सुदृढ़ करनेके लिये अच्छे दास उत्पन्न करनेकी नीति भी उन्होंने छिपाई नहीं। उस समय हमारे देशमें अंग्रेज़ोंकी विभाजन-नीति, भारतीय देशी राज्योंको हड़पनेकी नीति तथा बंगालके वस्त्रोत्पादन-व्यापारको ध्वस्त करनेकी नीतिसे सम्पूर्ण भारतमें भयंकर विक्षोभ छाया हुआ था। इन अंग्रेज़ोंसे भारतीय इतने चिढ़ गए थे कि रुहेलखण्डके एक सर्दार और अवधके नवाब आसफ़ुद्दौलाने सन् १८०० के लगभग ही अहमदशाह अब्दालीके बेटे ज़मानशाहको निमन्त्रण

रहा कि १८५९ की योजनामें यह वक्तव्य जोड़ दिया गया कि "भारतीय जनताने प्रारम्भिक शिक्षाके संवर्द्धनमें सरकारको सहयोग नहीं दिया ; यहाँतक कि जब प्रारम्भिक शिक्षाका प्रसार करनेवाले अधिकारियोंने सरकारी सहायतासे युक्त प्रारम्भिक पाठशालाओंकी स्थापनाके लिये स्थानीय जनतासे सहायता प्राप्त करनेका उद्योग किया तब लोग सशंक होकर शिक्षासे भड़कने लगे और इस प्रकार उन्होंने सरकारको बदनाम कर दिया। अतः भविष्यमें प्रारम्भिक शिक्षा-संचालनका कार्य भी सरकारका ही करेगी।" राष्ट्र-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट) ने इसके लिये एक प्रस्ताव उपस्थित किया कि इस प्रकारकी शिक्षाके प्रसारके लिये एक विशेष भूमि-कर लगा दिया जाय।

योजनाका विश्लेषण

सन् १८५७की स्वातन्त्र्य-भावनाको कुचलनेके लिये अंग्रेज़ोंने जिस प्रकारकी व्यापक नृशसता दिखलाई उससे स्वातन्त्र्य-आन्दोलन भले ही ठंडा पड़ गया हो किन्तु जनताके हृदयमें अंग्रेज़ोंकी किसी योजनाके प्रति कोई सहानुभूति शेष नहीं रह गई थी। सरकारका यह वक्तव्य भी नितान्त भ्रामक था कि जनताने प्रारम्भिक शिक्षाके लिये कोई सहयोग नहीं दिया। वास्तविक बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनीके धनलोलुप अधिकारियोंने भारतीय जनताको चूसकर इतना निःसार कर दिया था कि सहायताके लिये उनके पास कुछ बच नहीं रहा था और फिर जिस ढंगसे सरकारी कर्मचारी सहायता लेने जाते थे वह इतना निन्दनीय था कि कोई भी उनके साथ सहयोग कर नहीं सकता था।

१८

हंटर कमीशन

वुडके नीति पत्रके पश्चात् अंग्रेज़ी-शिक्षाकी गाड़ी अपने पूर्ण वेगसे चल पड़ी, इतने वेगसे कि जहाँ सन् १८५४में पचास सहस्र विद्यालयोंमें ९२५००० छात्र थे वहाँ सन् १८८२ में ११२०४८ विद्यालयोंमें २७६००८६ विद्यार्थी पढ़ने लगे। शिक्षाका यह वेग और जनतामें इसके प्रति अदम्य उत्साह देखकर यह विचार किया गया कि १८५४ के नीति पत्रको पुनः आवश्यकतानुसार संशुद्ध कर लिया जाय और साथ-साथ पिछले तीस वर्षकी शिक्षण-गति-विधिका परीक्षण कर लिया जाय। फलतः सन् १८८२ ई० में सर विलियम हन्टरकी अध्यक्षतामें एक शिक्षा-समीक्षा-मण्डल (एजुकेशन कमीशन) नियुक्त किया गया जिसके अन्य प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण सदस्य थे श्री आनन्दमोहन बोस, जो पीछे इण्डियन नैशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) के अध्यक्ष चुने गए और जस्टिस के० टी० तैलंग (काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग)।

समीक्षा-मंडलकी नियुक्ति

सन् १८८२ तक अंग्रेज़ी शिक्षा इस वेगसे चलने लगी कि जन-शिक्षा-संचालक (डाइरेक्टर ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन) उसे सँभालनेमें अपनेको अशक्त पाने लगे। इसलिये भारतके प्रमुख मनीषियोंकी प्रेरणा-पर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड रिपनने सन् १८८० में इंगलैण्डसे भारत आते समय यह वचन दिया कि मैं भारत पहुँचते ही भारतमें अंग्रेज़ी शिक्षाके क्रमकी पूरी और गहरी जाँच कराऊँगा। उस प्रतिज्ञा-के परिणाम-स्वरूप उपर्युक्त शिक्षा-समीक्षा-मण्डलकी स्थापना की गई और उसे दो बातोंकी जाँचका भार सौंपा गया—

(क) प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारका उपाय।

(ख) आर्थिक सहायता प्रणाली (ग्रैन्ट इन एड सिस्टम) का प्रसार।

प्रारंभिक शिक्षाके प्रसारकी बात

सरकारी तथा असरकारी मण्डलोंकी यह व्यापक सम्मति थी कि उच्च शिक्षामें जितनी प्रगति हुई है उतनी प्रारम्भिक शिक्षामें नहीं हुई। यद्यपि उच्च शिक्षाके इस विस्तारपर किसीको कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु सबकी धारणा यह अवश्य थी कि शिक्षाके विभिन्न क्षेत्रोंकी प्रगति समान रूपसे होनी चाहिए। इसलिये इस मण्डलको यह विशेष भार दिया गया कि भारतमें तत्कालीन प्रारम्भिक शिक्षाकी अवस्थाका अध्ययन करके ऐसे उपाय सुझावें जिससे प्रारम्भिक शिक्षाका उचित रूपसे प्रसार और विकास किया जा सके। इस मण्डलने अपना जो आदेश पत्र देश भरमें भिजवाया था उसमें लिखा था—

"सरकारकी यह विशेष इच्छा है कि भारतीय सरकारकी सीमामें जितने सार्वजनिक विद्यालय है उन सबके प्रबन्धमें नगरपालिकाओंको विशेष तथा अतिशय भाग लेना चाहिए।"

व्यापक अधिकार

यद्यपि इस मण्डलका काम केवल इतना ही था कि वह प्रारम्भिक शिक्षाके प्रसारके सबंधमें अपने सुझाव दे तथापि उससे यह भी आशा की गई थी कि भारतके लिये सार्वजनिक शिक्षाकी सर्वश्रेष्ठ प्रणालीका भी निर्देश करे। इसका कारण यह था कि १८५४ के नीति पत्रमें निर्दिष्ट अनेक अभिसंधानोंका पालन उस समयतक नहीं किया जा सका था। उस नीतिमें स्पष्ट रूपसे यह सुझाया गया था कि सरकारकी ओरसे जो विद्यालय खोले जायँगे उनके सर्वाधिकार प्रबन्धका उत्तरदायित्व सरकार धीरे-धीरे हटाती रहेगी किन्तु सर्वाधिकार प्रबन्ध हटाना तो दूर रहा, उलटे अनेक नये नये विद्यालय सरकार खोलती रही। किन्तु जहाँ एक ओर सरकार नये नये स्कूल खोल रही थी वहाँ दूसरी ओर अनेक उदार महानुभाव भी जाति धर्म समाज या

किसी स्निग्ध सम्बन्धीकी स्मृतिमें नये-नये विद्यालय खोलते जा रहे थे। अतः यह भी विचार किया गया कि जब जनतामें स्वतः नये विद्यालय खोलनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है तब क्यों न सरकार उच्च शिक्षाके विद्यालयोंके संचालनका भार जनताके सिर सौंपकर अपनी शक्ति और अपना ध्यान प्रारम्भिक शिक्षाकी ओर प्रवृत्त करे। अतः इस मण्डलके लिये अन्य विचारणीय प्रश्नोंमें ये समस्याएँ भी दे दी गईं—

क—विशेष वर्गोंकी शिक्षा।

ख—कन्या-शिक्षा।

ग—छात्र-वृत्तिका प्रश्न।

विश्वविद्यालयकी शिक्षा विचार-सीमासे बाहर

यह अत्यन्त विचित्र-सी बात है कि विश्वविद्यालय-शिक्षाकी समस्या इस मण्डलकी समीक्षा-सीमासे बाहर कर दी गई। वह क्यों बाहर की गई यह स्वतः एक समस्या है क्योंकि सन् १८५७ में जो परीक्षा लेनेवाले तीन विश्वविद्यालय खोले गए थे उनमें इतनी अधिक धाँधली फैली हुई थी कि चारों ओरसे उनपर अनेक प्रकारके अनाचारके दूषण लगाए जा रहे थे।

मंडलका विवरण

यह समीक्षा-मण्डल सन् १८८२ में कलकत्तेमें आ जुटा और इन लोगोंने अपनेको अनेक प्रान्तीय समितियोंमें विभक्त कर लिया। इस प्रकार विभिन्न प्रान्तीय समितियोंने महीनों अपने-अपने प्रान्तके विभिन्न स्थानोंमें जाकर लोगोंके वक्तव्य लिए और पुनः एकत्र होकर सन्१८८२के दिसम्बर माससे सन् १८८३ के मार्चतक सब वक्तव्योंपर विचार करते रहे। इस विचारके फलस्वरूप इन्होंने दो सौ बाईस प्रस्ताव स्वीकृत किए और छः सौ पृष्ठोंसे अधिक एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इस विवरणमें उन्होंने केवल प्रारम्भिक शिक्षाका ही नहीं वरन् शिक्षाके सभी क्षेत्रों और अंगोंका पर्यवेक्षण करके उसपर अपनी इस प्रकार सम्मति दी—

भारतकी स्वदेशी (इन्डिजिनस) शिक्षा पद्धतिके सम्बन्धमें

पीछे बताया जा चुका है कि भारतमें व्यक्तिगत प्रयाससे और सरकारी प्रयाससे कुछ संस्कृत पाठशालाएँ और कुछ मदर्से चले आ रहे थे। इनके सम्बन्धमें इस समीक्षा-मण्डलने यह सुझाव दिया कि—

(क) वे सभी देशी विद्यालय मान्य किए जायँ जिनमें भारतीय प्रणालियोंसे भारतीय भाषाएँ और विद्याएँ पढ़ाई जाती हैं और यदि वे उदार लौकिक शिक्षाका कार्य कर रहे हों तो उन्हें प्रोत्साहन दिया जाय।

(ख) वे विद्यालय नगरपालिकाओं तथा जनपद मण्डलों (डिस्ट्रिक्ट बोर्डों) के द्वारा अधिकृत और प्रोत्साहित किए जायँ तथा उनके द्वारा इनकी व्यवस्थाकी देखभाल हो।

(ग) उन्हें जो आर्थिक सहायता दी जाय वह स्थानीय नगर-पालिकाओं अथवा जनपद मडलोंकी ही ओरसे दी जाय।

प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें

प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें मण्डलने कहा कि उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकारकी जो नीति है वह ठीक वैसी नहीं है जैसी प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें। प्रारम्भिक शिक्षाका प्रबन्ध सरकार स्वयं करेगी और इस प्रतीक्षामें नहीं बैठी रहेगी कि उसे स्थानीय सहायता मिले तभी वह चलाई जाय। किन्तु माध्यमिक शिक्षा तो केवल वहीं पर दी जा सकेगी जहाँ पर्याप्त स्थानीय सहयोग प्राप्त होनेकी सम्भावना होगी। अतः भविष्यमें अंग्रेजीकी शिक्षाके लिये जो माध्यमिक विद्यालय खोले जायँगे वे सब अर्थ सहायता प्रणाली (ग्रैंट इन एड) के आधारपर ही खोले जा सकेंगे। इस नीतिनिर्धारणके पश्चात् मण्डलने प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें ये सुझाव दिए—

अ—प्रारम्भिक पाठशालाओंको परीक्षाके परिणामके आधारपर सहायता दी जाय।

आ—पाठशालाका भवन और परिवाप (फर्निचर) अत्यन्त सरल और सस्ता हो।

इ—प्रारम्भिक शिक्षाके विषयोंमें महाजनी गणित, वहीखाता, पटवारगिरी (खेतोंकी नाप-जोख), सरल विज्ञान, कृषि और व्यावसायिक कौशल भी बढ़ा दिए जायँ।

ई—ऐसे विद्यालयोंके अध्यापक तैयार करनेके निमित्त शिक्षणकला-विद्यालय (नॉर्मल स्कूल) खोल दिए जायँ।

उ—जो धन सरकारकी ओरसे प्रारम्भिक शिक्षाके लिये विभिन्न प्रान्तोंको दिया जाय उसका प्रथम प्रयोग प्रारम्भिक विद्यालयोंकी देख-रेख और शिक्षण-कला-विद्यालयोंके उचित संरक्षणके लिये किया जाय।

माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें

यद्यपि माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें विचार करना इस मण्डलकी अधिकार-सीमासे बाहर था फिर भी इन्हें विचार करनेका जो व्यापक क्षेत्र दिया गया था उसके अनुसार इन्होंने माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें ये सुझाव दिए—

क—हाइ स्कूलकी ऊपरी कक्षाओंमें दो विभाग कर दिए जायँ—एक तो उन लोगोंके लिये जो प्रवेशिका (एन्ट्रेंस) परीक्षा उत्तीर्ण करके विश्वविद्यालयोंमें जाना चाहते हों,और दूसरा, अधिक व्यावहारिक वह विभाग हो जिसमें शिक्षा पाकर छात्र व्यावसायिक वृत्ति ग्रहण कर सकें।

ख—आर्थिक सहायता-प्राप्त विद्यालयोंकी स्थापनाको प्रोत्साहन देनेके लिये उन विद्यालयोंके प्रबन्धकोंको आदेश दिया जाय कि वे आसपासके गवर्नमेन्ट हाइ स्कूलोंमें लिये जानेवाले शुल्कसे कम शुल्क लें जिससे अधिक छात्र राजकीय विद्यालयोंमें न जाकर उनके विद्यालयोंमें आवें।

ग—छात्रवृत्तिका क्रम ऐसा रक्खा जाय कि वे शिक्षाकालके विभिन्न अवस्था-क्रमोंका सम्बन्ध बनाए रक्खें ; जैसे प्रारम्भिक श्रेणीमें उत्तीर्ण

छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह उसके सहारे मिडिलतक पढ़ता चले और मिडिलमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह हाइ स्कूलतक पढ़ता चला चले।

विद्यालय-स्थापनामें जनताका हाथ

शिक्षा-परीक्षणके प्रसंगमें ही इस मण्डलने उन सब परिस्थितियोंपर भी विचार किया जिनके प्रभावसे जनताकी ओरसे नये-नये विद्यालय खुलते चले जा रहे थे। सन् १८५४ के नीतिपत्रमें व्यक्तिगत प्रयासको प्रोत्साहन देनेके लिये जो नीति निर्धारित की गई थी उसका विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न रूपसे प्रयोग किया गया। संयुक्त प्रान्त (वर्त्तमान उत्तर प्रदेश) और मद्रासमें १८७१ से १८८५ तक यह सामान्य प्रवृत्ति रही कि विभागीय व्यवस्थाके द्वारा ही अधिकसे अधिक उच्च शिक्षा दी गई और समुन्नत संस्थाओंके व्यक्तिगत प्रबन्धकोंको कम प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार उक्त प्रान्तोंमें १८५४ के नीतिपत्रके विरुद्ध ही काम किया गया। बम्बई, पंजाब, कुर्ग और हैदराबादमें भी व्यक्तिगत प्रयासके सम्बन्धमें १८५४ के नीतिपत्रकी यही अवहेलना हुई। किन्तु बंगाल, आसाम और मध्य-प्रान्तमें अर्थ-सहायता-प्रणाली (ग्रैन्ट-इन-एड)को प्रसारित करनेके लिये सुनिश्चित प्रयोग किए गए, यहाँतक कि बंगालमें अंग्रेज़ी शिक्षा इतनी लोकप्रिय हुई कि वहाँकी जनता, सबकी शिक्षाके लिये साधन एकत्र करना ही सर्वाधिक उपादेय कार्य समझने लगी। इन सब परिणामोंका अध्ययन करके मण्डलने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि लोक-प्रयासको अधिक सफल बनानेमें उचित प्रगति नहीं हुई तो अधिक विगति भी नहीं हुई। अतः इस नीतिको अधिक प्रभावशील तथा सुस्थिर बनानेके लिये मण्डलने जो बहुतसे सुझाव दिए उनमेंसे मुख्य ये हैं—

१. लोक-संस्थाओंके प्रबन्धकोंसे साधारण शिक्षा-विषयोंपर परामर्श लिया जाया करे और उन विद्यालयोंके छात्रोंको भी सरकारी विद्यालयोंके

विद्यार्थियोंके समान प्रतियोगिता-परीक्षाओं, छात्रवृत्तियों तथा अन्य सार्वजनिक पदोंकी सुविधा दी जाय।

२. उन विद्यालयोंकी शिक्षा-प्रवृत्तिकी स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय और इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि सार्वजनिक परीक्षाओंके कारण उन विद्यालयोंके ऊपर उन परीक्षाओंकी पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्यक्रम न लाद दिए जायँ।

३. आर्थिक सहायताके नियमोंका सुधार करके, वे नियम सब देशी भाषाओंमें तथा सब समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित किए जायँ और लोकसंस्थाओंके प्रबन्धकों तथा अन्य ऐसे लोगोंको भी भेजे जायँ जो शिक्षाके प्रसारमें सहायता कर सकें।

४. सरकारी विभाग-द्वारा व्यवस्थित माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयोंमें सहायता-प्राप्त विद्यालयोंसे अधिक शुल्क लिया जाय।

५. जहाँ-जहाँ अच्छे लोकविद्यालय खुलते रहें वहाँ-वहाँसे विभागीय सरकारी विद्यालय हटाए जाते रहें।

६. कन्या-शिक्षाके लिये अधिक सहायता दी जाय और जिन कन्या-विद्यालयोंके प्रबन्धक इस कार्यमें अधिक रुचि प्रदर्शित करें उन्हें उदारतापूर्वक प्रोत्साहित किया जाय। जहाँ इस प्रकारका लोक-सहयोग न प्राप्त हो वहाँ विभागकी ओरसे या स्थानीय नगर-पालिकाकी ओरसे विद्यालय खोले जायँ।

७. सहायता-प्राप्त संस्थाओंके विस्तारके लिये प्रत्येक प्रान्तकी शिक्षाके निमित्त दिए जानेवाले द्रव्यमें निरन्तर समय-समयपर अभिवृद्धि की जाती रहे।

८. समीपमें गवर्नमेन्ट स्कूल होनेके कारण किसी लोक-संस्थाको सरकारी आर्थिक सहायता पानेमें बाधा न दी जाय।

९. सरकारी विभाग-द्वारा संचालित संस्थाओंको अत्यन्त उच्च श्रेणीका बनाए रखते हुए भी लोक-संचालित संस्थाओंका विकास और विस्तार करना ही शिक्षा-विभागका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह उसके सहारे मिडिलतक पढ़ता चले और मिडिलमें उत्तीर्ण छात्रको वृत्ति दी जाय तो वह हाइ स्कूलतक पढ़ता चला चले।

विद्यालय स्थापनामें जनताका हाथ

शिक्षा परीक्षणके प्रसगमें ही इस मण्डलने उन सब परिस्थितियोंपर भी विचार किया जिनके प्रभावसे जनताकी ओरसे नये नये विद्यालय खुलते चले जा रहे थे। सन् १८५४ के नीतिपत्रमें व्यक्तिगत प्रयासको प्रोत्साहन देनेके लिये जो नीति निर्धारित की गई थी उसका विभिन्न प्रान्तोंमें विभिन्न रूपसे प्रयोग किया गया। सयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) और मद्रासमें १८७१ से १८८५ तक यह सामान्य प्रवृत्ति रही कि विभागीय व्यवस्थाके द्वारा ही अधिकसे अधिक उच्च शिक्षा दी गई और समुचत सस्थाओंके व्यक्तिगत प्रबन्धकोंको कम प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार उक्त प्रान्तोंमें १८५४ के नीतिपत्रके विरुद्ध ही काम किया गया। बम्बई, पजाब, कुर्ग और हैदराबादमें भी व्यक्तिगत प्रयासके सम्बन्धमें १८५४ के नीतिपत्रकी यही अवहेलना हुई। किन्तु बगाल, आसाम और मध्य प्रान्तमें अर्थ सहायता प्रणाली (ग्रैन्ट इन एड)को प्रसारित करनेके लिये सुनिश्चित प्रयोग किए गए, यहाँतक कि बगालमें अग्रेजी शिक्षा इतनी लोकप्रिय हुई कि वहाँकी जनता, सबकी शिक्षाके लिये साधन एकत्र करना ही सर्वाधिक उपादेय कार्य समझने लगी। इन सब परिणामोंका अध्ययन करके मण्डलने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि लोक प्रयासको अधिक सफल बनानेमें उचित प्रगति नहीं हुई तो अधिक विगति भी नहीं हुई। अत इस नीतिको अधिक प्रभावशील तथा सुस्थिर बनानेके लिये मण्डलने जो बहुतसे सुझाव दिए उनमेंसे मुख्य ये हैं—

१ लोक सस्थाओंके प्रबन्धकोंसे साधारण शिक्षा विषयोंपर परामर्श लिया जाया करे और उन विद्यालयोंके छात्रोंको भी सरकारी विद्यालयोंके

विद्यार्थियोंके समान प्रतियोगिता-परीक्षाओं, छात्रवृत्तियों तथा अन्य सार्वजनिक पदोंकी सुविधा दी जाय।

२. उन विद्यालयोंको शिक्षा-प्रवृत्तिकी स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा न दी जाय और इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि सार्वजनिक परीक्षाओंके कारण उन विद्यालयोंके ऊपर उन परीक्षाओंकी पाठ्य-पुस्तकें और पाठ्यक्रम न लाद दिए जायँ।

३. आर्थिक सहायताके नियमोंका सुधार करके, वे नियम सब देशी भाषाओंमें तथा सब समाचार-पत्रोंमें प्रकाशित किए जायँ और लोकसंस्थाओंके प्रबन्धकों तथा अन्य ऐसे लोगोंको भी भेजे जायँ जो शिक्षाके प्रसारमें सहायता कर सकें।

४. सरकारी विभाग-द्वारा व्यवस्थित माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयोंमें सहायता-प्राप्त विद्यालयोंसे अधिक शुल्क लिया जाय।

५. जहाँ-जहाँ अच्छे लोकविद्यालय खुलते रहें वहाँ-वहाँसे विभागीय सरकारी विद्यालय हटाए जाते रहें।

६. कन्या-शिक्षाके लिये अधिक सहायता दी जाय और जिन कन्या-विद्यालयोंके प्रबन्धक इस कार्यमें अधिक रुचि प्रदर्शित करें उन्हें उदारतापूर्वक प्रोत्साहित किया जाय। जहाँ इस प्रकारका लोक-सहयोग न प्राप्त हो वहाँ विभागकी ओरसे या स्थानीय नगर-पालिकाकी ओरसे विद्यालय खोले जायँ।

७. सहायता-प्राप्त संस्थाओंके विस्तारके लिये प्रत्येक प्रान्तकी शिक्षाके निमित्त दिए जानेवाले द्रव्यमें निरन्तर समय-समयपर अभिवृद्धि की जाती रहे।

८. समीपमें गवर्नमेन्ट स्कूल होनेके कारण किसी लोक-संस्थाको सरकारी आर्थिक सहायता पानेमें बाधा न दी जाय।

९. सरकारी विभाग-द्वारा संचालित संस्थाओंको अत्यन्त उच्च श्रेणीका बनाए रखते हुए भी लोक-संचालित संस्थाओंका विकास और विस्तार करना ही शिक्षा-विभागका प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

सरकारकी नीति

शिक्षाके सम्बन्धमें सरकारकी नीतिका स्पष्टीकरण करते हुए मंडलने कहा कि "सरकारने स्वयं शिक्षाका महत्त्व स्वीकार कर लिया है क्योंकि सरकारी कार्योंमें सहायता प्राप्त करने, अपनी शक्ति सुदृढ़ बनाए रखने और अपने व्यावसायिक स्वार्थोंके विस्तारके लिये भी सरकारको अच्छे पढ़े लिखे योग्य व्यक्तियोंकी आवश्यकता है, इसलिये शिक्षा-प्रसारके कार्यको सरकार अपना कर्त्तव्य समझती है।"

किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे पादरी लोग भी थे जो मानवीय भावनाओंके परिष्कारके लिये और शिक्षाके लिये ही शिक्षा चाहते थे।

लोक-प्रयासके सम्बन्धमें मण्डलके सुझाव स्वीकृत

सन् १८८४ के अक्तूबर मासमें भारतकी ब्रिटिश सरकारने मण्डलके प्रस्तावोंको स्वीकृत करते हुए यह घोषणा की —

"शिक्षा समीक्षण-मण्डलने शिक्षाकी सम्भावनाओंका पर्यवेक्षण करके यह अत्यन्त सुविचारित प्रस्ताव किया है कि धीरे धीरे उन स्थानोंसे सरकार अपने उच्च विद्यालय हटा ले जहाँ श्रेष्ठ लोक संस्थाएँ विद्यमान हैं। भारत सरकार यह नहीं चाहती है कि उच्च शिक्षाको निरुत्साहित किया जाय वरन् यह सरकारका यह प्रमुख कर्त्तव्य समझती है कि उच्च शिक्षाका विस्तार और पोषण किया जाय। किन्तु सरकार अपने परमित कोषको विशेष रूपसे दृष्टिमें रखते हुए लोकशिक्षाके विभिन्न अंगोंसे सम्बद्ध लोकशक्तियोंसे यह आशा करती है कि वे शिक्षाके प्रसारमें सहयोग दें। इसलिये उच्च शिक्षाके सम्बन्धमें सरकार समझती है कि आत्मावलम्बन ही उच्च शिक्षाके विकासका सर्वश्रेष्ठ आधार हो सकता है।"

विश्लेषण

यद्यपि शिक्षा समीक्षण मण्डलने बहुतसे सुझाव दिए और सरकारने उनमेंसे बहुतोंको मान्य भी किया किन्तु अच्छे उच्च श्रेणीके विद्यालय खुल

जानेपर भी वहाँसे सरकारी विद्यालय नहीं हटाए गए। मण्डलने प्रारम्भिक पाठशालाओंके लिये जो सुझाव दिए, उनमें मनुष्य बननेकी अपेक्षा परीक्षामें उत्तीर्ण होनेको अधिक महत्व दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रारम्भिक पाठशालाओंके अध्यापकगण, डण्डोंकी मारसे परीक्षा पास करानेमें जुट गए। शिक्षा गौण हो गई और परीक्षा मुख्य। यदि परीक्षापर इतना बल न दिया जाता तो सम्भवतः प्रारम्भिक विद्यालय अधिक लाभकर सिद्ध होते। इन सुझावोंमें एक बड़ा दोष यह आया कि नगरपालिकाओं और जनपद-मण्डलोंके हाथमें पहुँचकर ये प्रारम्भिक पाठशालाएँ स्थानीय राजनीतिक कुचक्रोंकी केन्द्र बन गईं और इनके अध्यापक इतनी दयनीय अवस्थामें पहुँच गए कि उनका अधिक समय निरीक्षकों तथा जनपद-मडलके अधिकारियों और सदस्योंकी कृपा याचनामें ही व्यतीत होने लगा। इससे अध्यापकोंका मान तो सो कम हुआ ही, उनका नैतिक पतन भी हो गया। मुख्य बात तो यह हुई कि समीक्षण मण्डलने महाजनी गणित, कृषि तथा व्यावसायिक कला आदि विषयोंके अंगीकरणका जो सुझाव रक्खा था उसे सरकारने नहीं माना क्योंकि निश्चित रूपसे उस समयकी ब्रिटिश सरकार भारतीयोंको कोई ऐसी शिक्षा नहीं देना चाहती थी जिससे वे स्वावलम्बी हो सकें। परिणाम यह हुआ कि १८८२ के शिक्षा-समीक्षण मण्डलके मुख्य, आवश्यक तथा उपादेय प्रस्ताव रद्दीकी टोकरीमें पड़े सड़ते रहे।

१९

शिक्षामें सरकारका हस्तक्षेप

सन् १८८२ की सरकारी नीतिके अनुसार ढला हुआ शिक्षाक्रम लग-भग बीस वर्षोंतक चलता रहा। तदनन्तर सन् १९०४ में भारत-सरकारने राज्य तथा लोक-प्रयासोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए एक सार्वजनिक घोषणा की। संयोगसे उस समयतक योरपमें जनताकी ओरसे शिक्षाके सम्बन्धमें जो निजी उद्योग किए गये थे उनकी ओरसे जनताकी श्रद्धा हट चली थी क्योंकि माध्यमिक शिक्षाके लिये जितने निजी प्रयास हुए वे सब असफल और अपूर्ण रहे। अत सन् १९०४में भारतीय शिक्षा-नीति की घोषणा करते हुए जो सरकारी वक्तव्य दिया गया उसमें कहा यही गया कि पश्चिमके अनुभवोंका लाभ उठाकर ही सरकारने यह घोषणा की है।

सरकारी घोषणा

"पिछले प्रस्तावोंकी नीति स्वीकार करते हुए भारतीय सरकारने इस सिद्धान्तको भी अत्यन्त महत्त्व समझा कि शिक्षाकी प्रत्येक शाखामें सरकारको अपनी ओरसे कुछ परिमित सख्यामें ऐसी सस्थाएँ चलाते रहना चाहिए जो निजी लोक सस्थाओंके लिये आदर्श भी हों और जो शिक्षाका उच्च मान भी बनाए रख सकें। सस्थाओंपरसे सीधा प्रबन्धाधिकार हटाते हुए भी सरकार यह आवश्यक समझती है कि अधिकाधिक निरीक्षणके द्वारा सभी सार्वजनिक शिक्षा-सस्थाओंपर व्यापक नियन्त्रण बनाए रक्खे।"

शिक्षा नीति या छुचन

यद्यपि कहा तो यह गया कि निजी लोक सस्थाओंकी असमर्थताके

कारण यह नीति निर्धारित की गई किन्तु उसके पीछे शिक्षा-संस्थाओंको हस्तगत करके भारतीयोंकी दास-शृंखला सुदृढ करनेका भयानक कुचक्र काम कर रहा था। जिस वर्ष 'हण्टर कमीशन' बैठा था, लगभग उसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने भी जन्म लिया और यद्यपि प्रारम्भमें राष्ट्रीय महासभाके प्रमुख तथा तेजस्वी कर्णधार लोग निरन्तर महारानी विक्टोरियाके घोषणापत्रकी दुहाई दे-देकर वैधानिक अधिकार ही माँगते रहे किन्तु बंग-भंगकी सरकारी नीतिने भारतको सामान्यतः और बंगालको विशेषतः इतना क्षुब्ध कर दिया कि बंगाल-विभाजनका प्रश्न लेकर बंगालमें प्रलयंकर राजनीतिक विस्फोट हुआ। सरकार यह समझती थी कि विद्यालयोंमें पढ़नेवाले युवकोंको जो स्वतंत्र छोड़ दिया गया है उसीका यह दुष्परिणाम है। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि सम्पूर्ण शिक्षा-नीतिको ही अपने अधिकारमें इस प्रकार ले लिया जाय कि पाठ्य-विषय, पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण आदिके द्वारा सब विद्यालय मुट्ठीमें आ जायँ।

माध्यमिक शिक्षाके लिये नवीन जागर्ति

सन् १९०४ से १९१३ तक इङ्गलैण्डमें माध्यमिक शिक्षाको अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और जनताकी यह पुकार हुई कि राज्यका काम है माध्यमिक शिक्षाको प्रोत्साहन देना और उसकी अभ्युन्नति करना। मध्यम श्रेणीके लोग चाहते थे कि ऐसी श्रेष्ठतम शिक्षा देनेवाली लोक-संस्थाएँ खोल दी जायँ जहाँ थोड़े शुल्कसे उनके बच्चोंको अच्छी शिक्षा मिल सके। इस कार्यमें विज्ञान सबसे बड़ा रोड़ा था क्योंकि वैज्ञानिक यंत्रों तथा इतिहास भूगोलके शिक्षणके लिये नवीनतम उपादानोंका मूल्य इतना अधिक था कि सामान्य लोक-संस्थाएँ उतना व्यय-भार सँभाल नहीं सकती थीं। भारतीय जनता भी इस वेगसे अंग्रेज़ी शिक्षाकी ओर उन्मुख हुई कि हमारे यहाँ भी नगरोंमें रहनेवाले लोग अपने बालकोंको अंग्रेज़ी पढ़ाना आवश्यक समझने लगे। परिणाम-

१९

शिक्षामें सरकारका हस्तक्षेप

सन् १८८२ की सरकारी नीतिके अनुसार चला हुआ शिक्षाक्रम लगभग बीस वर्षोंतक चलता रहा। तदनन्तर सन् १९०४ में भारत-सरकारने राज्य तथा लोक-प्रयासोंका सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए एक सार्वजनिक घोषणा की। संयोगसे उस समयतक योरपमें जनताकी ओरसे शिक्षाके सम्बन्धमें जो निजी उद्योग किए गये थे उनकी ओरसे जनताकी श्रद्धा हट चली थी क्योंकि माध्यमिक शिक्षाके लिये जितने निजी प्रयास हुए वे सब असफल और अपूर्ण रहे। अतः सन् १९०४में भारतीय शिक्षा-नीतिकी घोषणा करते हुए जो सरकारी वक्तव्य दिया गया उसमें कहा यही गया कि पश्चिमके अनुभवोंका लाभ उठाकर ही सरकारने यह घोषणा की है।

सरकारी घोषणा

"पिछले प्रस्तावोंकी नीति स्वीकार करते हुए भारतीय सरकारने इस सिद्धान्तका भी अत्यन्त महत्त्व समझा कि शिक्षाकी प्रत्येक शाखामें सरकारको अपनी ओरसे कुछ परिमित संख्यामें ऐसी संस्थाएँ चलाते रहना चाहिए जो निजी लोक-संस्थाओंके लिये आदर्श भी हो और जो शिक्षाका उच्च मान भी बनाए रख सकें। संस्थाओंपरसे सीधा प्रबन्धाधिकार हटाते हुए भी सरकार यह आवश्यक समझती है कि अधिकाधिक निरीक्षणके द्वारा सभी सार्वजनिक शिक्षा-संस्थाओंपर व्यापक नियन्त्रण बनाए रक्खे।"

शिक्षा-नीति या कुचक्र

यद्यपि कहा तो यह गया कि निजी लोक-संस्थाओंकी असमर्थताके

कारण यह नीति निर्धारित की गई किन्तु उसके पीछे शिक्षा-संस्थाओंको हस्तगत करके भारतीयोंकी दास-शृंखला सुदृढ़ करनेका भयानक कुचक्र काम कर रहा था। जिस वर्ष 'हण्टर कमीशन' बैठा था, लगभग उसी वर्ष भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) ने भी जन्म लिया और यद्यपि प्रारम्भमें राष्ट्रीय महासभाके प्रमुख तथा तेजस्वी कर्णधार लोग निरन्तर महारानी विक्टोरियाके घोषणापत्रकी दुहाई दे-देकर वैधानिक अधिकार ही माँगते रहे किन्तु बंग-भंगकी सरकारी नीतिने भारतको सामान्यतः और बंगालको विशेषतः इतना क्षुब्ध कर दिया कि बंगाल-विभाजनका प्रश्न लेकर बंगालमें प्रलयंकर राजनीतिक विस्फोट हुआ। सरकार यह समझती थी कि विद्यालयोंमें पढ़नेवाले युवकोंको जो स्वतंत्र छोड़ दिया गया है उसीका यह दुष्परिणाम है। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि सम्पूर्ण शिक्षा-नीतिको ही अपने अधिकारमें इस प्रकार ले लिया जाय कि पाठ्य-विषय, पाठ्यक्रम तथा निरीक्षण आदिके द्वारा सब विद्यालय मुट्ठीमें आ जायँ।

माध्यमिक शिक्षाके लिये नवीन जागर्ति

सन् १९०४ से १९१३ तक इङ्गलैण्डमें माध्यमिक शिक्षाको अधिक महत्व दिया जाने लगा और जनताकी यह पुकार हुई कि राज्यका काम है माध्यमिक शिक्षाको प्रोत्साहन देना और उसकी अभ्युन्नति करना। मध्यम श्रेणीके लोग चाहते थे कि ऐसी श्रेष्ठतम शिक्षा देनेवाली लोक-संस्थाएँ खोल दी जायँ जहाँ थोड़े शुल्कमें उनके बच्चोंको अच्छी शिक्षा मिल सके। इस कार्यमें विज्ञान सबसे बड़ा रोड़ा था क्योंकि वैज्ञानिक यंत्रों तथा इतिहास-भूगोलके शिक्षणके लिये नवीनतम उपादानोंका मूल्य इतना अधिक था कि सामान्य लोक संस्थाएँ उतना व्यय-भार सँभाल नहीं सकती थीं। भारतीय जनता भी इस वेगसे अंग्रेजी शिक्षाकी ओर उन्मुख हुई कि हमारे यहाँ भी नगरोंमें रहनेवाले लोग अपने बालकोंको अंग्रेजी पढ़ाना आवश्यक समझने लगे।

स्वरूप भारतकी ब्रिटिश सरकारने सन् १९१३ की फरवरीमें भारतीय शिक्षा नीतिके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव घोषित किया—

सन् १९१३ की भारतीय शिक्षा-नीति

"सरकारकी यह नीति है माध्यमिक शिक्षा यथासम्भव लोक-प्रयासोंपर ही आश्रित रहे। भारत सरकार अपनी इस नीतिपर दृढ़ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि सरकार लोक-संस्थाओंके प्रबन्धको राज्यशासित शिक्षण संस्थाओंसे अच्छा समझती है वरन् जो परिपाटी चला दी गई है उसका वह इसलिये पालन करना चाहती है कि वह राज्यकी समस्त शक्तियों और सम्पूर्ण प्राप्य साधनोंको प्रारम्भिक शिक्षाके विकास और विस्तारके लिये ही केन्द्रित कर सके।"

इसे हम संक्षेपमें यों कह सकते हैं कि उपर्युक्त प्रबन्ध समितियों-द्वारा सञ्चालित ऐसी लोक-संस्थाओंको सरकार प्रोत्साहन देना चाहती थी जो सरकारी निरीक्षण द्वारा और सरकारी सहायता-द्वारा उपयुक्त रीतिसे चलाई जायँ।

स्थानीय सुविधाओंका विचार

विभिन्न स्थानोंकी विशिष्ट आवश्यकताओं, दशाओं तथा अवस्थाओं-की दृष्टिमें भारत सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके सम्बन्धमें यह नीति अपनाई कि—

क—बी. ए. उत्तीर्ण या शिक्षा-शास्त्र-सम्पन्न (ट्रेण्ड) अध्यापकको वर्तमान सरकारी स्कूलोंमें नियुक्त करके तथा विज्ञान, इतिहास, भूगोल और हस्त कौशलके नवीन शिक्षा-साधन प्रस्तुत करके वर्तमान सरकारी स्कूलोंकी दशा सुधारी जाय।

ख—सहायता-प्राप्त लोक-संस्थाओंकी आर्थिक सहायता इतनी बढ़ा दी जाय कि वे सरकारी विद्यालयोंके साथ साथ चल सकें और जहाँ आवश्यक हो वहाँ नई सहायता-प्राप्त संस्थाएँ स्थापित कर दी जायँ।

ग—शिक्षा-शास्त्र विद्यालयों (ट्रेनिंग कालेजों) की संख्या बढ़ाकर

उनका उन्नयन इस प्रकार किया जाय जिससे सरकारी तथा लोक-संचालित विद्यालयोंको शिक्षा शास्त्रज्ञ (ट्रेण्ड) अध्यापक मिल सकें।

घ—आर्थिक सहायताके नियम इतने ढीले कर दिए जायँ कि यथासम्भव प्रत्येक विद्यालय सहायता पा जाय।

यद्यपि सरकारने यह नीति तो निर्धारित कर दी किन्तु यह नहीं समझा कि भिक्षा माँगनेवालोंकी संख्या उनकी शक्तिसे बाहर बढ़ जायगी। साथ ही, नवीन पद्धतिके नामसे शिक्षा इतनी महँगी और यन्त्राश्रित कर दी गई कि साधारण विद्यालयोंके लिये उसका पार पाना असम्भव हो गया।

शिक्षापर अधिकार करनेके कारण

ऊपर बताया जा चुका है कि शिक्षाको स्वनियंत्रित करनेकी नीतिका कारण पूर्णतः राजनीतिक था किन्तु ब्रिटिश सरकार अपनी दुर्बलताको व्यक्त करना अपने सम्मानके विरुद्ध समझती थी इसलिये उसने शिक्षाको हस्तगत करनेके कुछ आडम्बरपूर्ण तर्क उपस्थित किए और कहा—

१. "मानव-जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया है और वर्त्तमान जीवन-क्षेत्रमें तथा वैज्ञानिक व्यवसायमें प्रवेश पानेके लिये यह आवश्यक है कि माध्यमिक विद्यालयोंमें अनेक प्रकारके पाठ्य विषय अन्तर्भुक्त कर लिए जायँ। ये विषय पढ़ानेके लिये स्थायी और अस्थायी धनकी आवश्यकता भी होगी जिसका भार सरकार ही उठा सकती है, लोक-संस्थाएँ नहीं।

२. सब विद्यालयोंमें शिक्षाशास्त्रज्ञ योग्य अध्यापकोंकी माँग बढ़ती जा रही है और यह माँग तबतक पूरी नहीं होगी जबतक अध्यापकोंको किसी प्रकारका आर्थिक प्रलोभन न हो। उस प्रलोभनकी पूर्ति भी सरकार ही कर सकती है।

३. स्वास्थ्य-विज्ञानके अध्ययनने यह स्पष्ट कर दिया है कि विद्यालयका जीवन अधिक स्वस्थ वातावरणमें चलना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि शारीरिक शिक्षाके लिये पर्याप्त व्यवस्था हो।

इसके लिये भी अधिक धन चाहिए और यह भार भी सरकार ही ले सकती है।

४. स्वल्प आयके मध्यम श्रेणीके लोग कम शुल्क देकर अपने बच्चोंको श्रेष्ठतम शिक्षा दिलाना चाहते हैं। यह भी तबतक सम्भव नहीं है जबतक सरकार स्वयं यह भार अपने सिरपर न ले ले।

५. अतः यह आवश्यक समझा जाता है कि विद्यालयोंकी परीक्षा-प्रणालीका आद्यन्त सुधार किया जाय और यह सुधार तबतक सम्भव नहीं है जबतक कि निरीक्षणका भार सरकार अपने ऊपर न ले ले।

इन कारणोंसे अब माध्यमिक शिक्षा निजी प्रयासोंके हाथसे मुक्त करके सरकारी हाथमें ले ली जाती है।''

शिक्षामें सरकारी हस्तक्षेप

भारतीय शिक्षामें इस प्रकारका सरकारी हस्तक्षेप भारतके लिये और भारतीय विद्यालयोंके लिये भयंकर कुठाराघात सिद्ध हुआ। यह दूसरी बात है कि सरकार अपने राज्यमें स्थित विद्यालयोंके व्यवस्थित विकासके लिये सजग और सचेष्ट रहे किन्तु यह अत्यन्त चिन्ताकी बात है कि पाठ्यक्रम-निर्धारणसे लेकर परीक्षा लेने तकका कार्य सरकार अपने हाथमें ले ले और देश-भरके विभिन्न समाजों और शिक्षा-शास्त्रियोंको विचार-पंगु बना दे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित होना चाहिए और सरकारको यह भी सावधान होकर देखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित होनेकी सुविधा प्राप्त होती है या नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सरकार सम्पूर्ण शिक्षा नीति अपने हाथमें लेकर जनताको अपने डंडेसे हाँकती चले। आजकी शिक्षामें अध्यापककी निष्क्रियता और उदासीनताका सबसे बड़ा कारण यही है कि उसे स्वयं विचार करनेकी, स्वयं पाठ्य-विषय निर्धारण करनेकी किसी प्रकारकी कोई स्वतंत्रता नहीं है। नये-नये शिक्षा-मंत्री, नये-नये शिक्षा-संचालक आए-दिन बदलते रहते हैं जिनकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओंमें भी प्रायः सन्देह ही बना

रहता है। ये केवल अपनी सनक सन्तुष्ट करनेके लिये नई-नई नीति निर्धारित करते हैं, जो पालन तो कम होती है किन्तु अव्यवस्था अधिक उत्पन्न करती है। इसके अतिरिक्त नीतित. भी राजनीतिज्ञोंके हाथमें शिक्षा-कार्य देना अत्यन्त भयंकर है क्योंकि वे अपनी-अपनी नीतिसे अपने दलकी विचार-परम्पराको पुष्ट करनेके लिये शिक्षा-योजना बनाते हैं। शिक्षा तो स्वतन्त्र और उदार होनी चाहिए जिसमें अध्ययन सब कुछ हो, प्रतिबन्ध किसीपर न हो किन्तु जिसमें विवेक इतना प्रौढ़ कर दिया जाय कि शिक्षित युवक, जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें स्वयं अपनी नीति निर्धारित कर सके। विभिन्न देशोंकी शिक्षाका इतिहास अध्ययन करनेपर यही उचित जान पड़ता है कि देशके विचक्षण शिक्षा-शास्त्रियों और विभिन्न शास्त्रोंके विद्वानोंको अपने-अपने विद्यालय खोलने और चलानेकी सुविधा दी जाय और जनताको यह छूट दी जाय कि वे उनमेंसे जिस विद्यालयमें चाहें उसमें अपने बच्चोंको भर्ती करावें। तभी वास्तविक शिक्षाका उद्धार हो सकता है। शिक्षा-सम्बन्धी राज्य-नियंत्रणकी इस विभीषिकासे त्रस्त होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय समीक्षक-मण्डल (कैलकटा यूनिवर्सिटी कमीशन) ने राज्य नियन्त्रण और लोक-प्रयासका मध्यम मार्ग स्थिर करते हुए 'हाइ स्कूल और इन्टरमीजियट-शिक्षाका प्रबन्ध-मण्डल' (बोर्ड ऑफ हाइ स्कूल ऐण्ड इन्टरमीजियट एजुकेशन) बनानेकी सम्मति दी थी।

२०

विश्वविद्यालयोंका विकास

कलकत्ता विश्वविद्यालयके शिक्षणक्रम तथा वहाँकी व्यवस्थाका समीक्षण करनेके लिये सन् १९१७ में जो मण्डल (कमीशन) बैठा उसका विवरण जाननेसे पहले विश्वविद्यालय शिक्षाकी प्रगतिका विवेचन कर लेना आवश्यक है ।

विश्वविद्यालयोंकी स्थापना

पीछे बताया जा चुका है कि कलकत्तेकी शिक्षा-समिति (कैलक्टा काउंसिल ऑफ एजुकेशन) ने सन् १८४५ में सर्वप्रथम भारतमें विश्वविद्यालय स्थापित करनेका प्रस्ताव किया था । किन्तु यह प्रस्ताव उस समय इँगलैण्डमें स्वीकृत नहीं हो पाया और १८५४ तक उसके विषयमें कुछ ज्ञात भी नहीं हो पाया । उसका स्पष्ट कारण यह था कि डलहौज़ीने जो अनेक प्रकारकी कुनीतियाँ चलाईं उनसे लोग इतने उद्विग्न हो उठे कि अन्तमें सन् १८५७ में भारतीयोंको अपने कन्धेसे विदेशी जुआ उतार फेंकनेको विवश होना पड़ा । सन् १८५४ में जब विश्वविद्यालय स्थापित करनेके लिये पार्लियामेण्टने स्वीकृति दे दी तो १८५४के 'वुडके नीतिपत्र' में भी विशेष रूपसे उसका उल्लेख किया गया और तदनुसार विद्रोहके ज्वालामुखीके मुँहपर कलकत्ता, बम्बई, और मद्रासके तीन प्रान्त नगरोंमें सन् १८५७ में लन्दन विश्वविद्यालयके आदर्शपर तीन विश्वविद्यालय खोले गए । ये विश्वविद्यालय, परीक्षाओंमें सम्मिलित होनेवाले परीक्षार्थियोंकी परीक्षा भर लेते थे और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध करते थे अर्थात् ये परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी विश्वविद्यालय थे ।

विश्वविद्यालयोंके प्रकार

जितने विश्वविद्यालय आजकल पाए जाते हैं, वे तीन प्रकारके हैं—

१—परीक्षाकारी और सम्बन्धकारी (एग्ज़ामिनिंग एंड एफ़िलिएटिंग), जो परीक्षा ले और परीक्षार्थी तैयार करनेवाले विद्यालयोंको सम्बद्ध करे।

२—संघ-विश्वविद्यालय (फ़ीडरल युनिवर्सिटी), जो परीक्षा भी लेता हो, सम्बद्ध भी करता हो, शिक्षा भी देता हो एवं जिसके विभिन्न अंगभूत विद्यालय, अन्तर्विद्यालय शिक्षा-प्रणालीसे शिक्षण-कार्यमें सहयोग देते हों। इस प्रकारके संघ विश्वविद्यालयोंसे सम्बद्ध प्रत्येक विद्यालय साझी या साथी समझा जाता है और उसके प्रतिनिधि विश्वविद्यालयके व्यवस्था-मण्डलोंके सदस्य रहते हैं। इन सम्बद्ध विद्यालयोंको अपना पाठ्यक्रम बनाने और अपना शिक्षणक्रम व्यवस्थित करनेकी पूरी स्वाधीनता रहती है।

३—सावास विश्वविद्यालय (रेज़िडेन्शल या यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी)। सावास विश्वविद्यालयसे कोई भी विद्यालय सम्बद्ध नहीं होता। उसमें पढ़ाईकी व्यवस्थाके लिये विभिन्न विषयोंके विभिन्न विभाग होते हैं। पीछे चलकर कुछ सावास विश्वविद्यालयोंसे नीतितः कुछ विद्यालय सम्बद्ध कर दिए गए किन्तु उनकी मूल प्रकृति सावास विश्वविद्यालयकी ही बनी रही। इन सभी सावास विश्वविद्यालयोंमें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय सबसे भिन्न रहा जिसमें विभाग भी रहे, अपने विद्यालय भी रहे और प्रारम्भिक शिक्षासे लेकर उच्चतम शिक्षाका विधान भी बना रहा।

भारत सरकारको इनमेंसे पहले प्रकारका अर्थात् परीक्षाकारी (एग्ज़ामिनिंग) विश्वविद्यालय स्थापित करना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ क्योंकि बिना हर्रे-फिटकरी लगाए चोखा रंग लाना अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं था। सन् १८५७ से लेकर आजतक इस प्रकारके विश्वविद्यालय भारतकी उच्च शिक्षाके शिक्षा-विकासमें जहाँ महत्त्वपूर्ण भाग लेते रहे वहाँ इन विश्वविद्यालयोंमें होनेवाले भ्रष्टाचारोंका परिमाण

भी इतना बढ़ा कि चारों ओरसे उनकी तीव्र आलोचना होने लगी।

परीक्षाकारी विश्वविद्यालयोंकी आलोचना

इन विश्वविद्यालयोंके प्रमुख दोष ये थे कि—

१ यह ऐसे लोगोंका मंच था जो परीक्षाओंके लिये पाठ्यक्रम निश्चित करते थे। परिणाम यह होता था कि इनमें परीक्षाओंके लिये ही विद्यार्थी तैयार किए जाने लगे, अध्यापकका व्यक्तित्व, महत्व और स्वातन्त्र्य समाप्त हो गया, परीक्षार्थियोंको गहरा शुल्क ले-लेकर परीक्षोत्तीर्ण करानेवालोंकी दुकानें खुल गईं जो नियत शुल्क दे देनेपर परीक्षार्थीके बदले भाड़ेके टट्टुओंको परीक्षामें बैठाकर घर बैठे प्रमाणपत्र ला देते थे। जो लोग इस निम्नतातक नहीं उतर सकते थे वे सम्भावित प्रश्नपत्र और उनके उत्तर, संक्षिप्त सूत्र (नोट्स) या पुस्तकों की कुंजियाँ छापकर विद्यार्थियोंको परीक्षामें उत्तीर्ण करानेके लिये सरल मार्ग बना रहे थे। इस प्रकार उच्च शिक्षाके बदले हीन शिक्षाका अकाण्ड ताण्डव हो रहा था।

२ विश्वविद्यालय तो विश्वकी विद्याओंका केन्द्र होना चाहिए, जहाँ विभिन्न शास्त्रों और विद्याओंके विद्वान् सहयोगिताके भावसे प्रेरित होकर मानव समाजको सुशिक्षित करनेके उद्देश्यसे तथा ज्ञान प्रस्तारकी भावना से ब्रह्मदान (विद्यादान) करते हों। ये विश्वविद्यालय विद्वानोंके संघ न होकर शासकोंके संघ और ज्ञान बेचनेवाले वणियोंकी दुकानें थीं। महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें ऐसे लोगोंकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'त ज्ञान पण्यं वणिज वदन्ति'।

३. इन विश्वविद्यालयोंने अनेक विद्यालयोंको सम्बद्ध तो किया किन्तु न तो उनके बौद्धिक साधनोंको समृद्ध करनेका कोई प्रयत्न किया और न अध्यापकों तथा छात्रोंमें स्वतन्त्र समीक्षा तथा स्वतन्त्र विचारकी भावनाको प्रदीप्त करनेका उद्योग किया। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सन् १८५७ के उस प्रलयंकर वर्षमें इससे अधिक कुछ करना

२. सम्बद्ध विद्यालयोंकी पढ़ाई भी तरह-तरहकी ही थी क्योंकि उनमें न तो शिक्षाका ही कोई निश्चित मानदण्ड था, न अध्यापकोंकी ही योग्यतापर कोई प्रतिबन्ध था और न शिक्षाके साधनोंका ही कोई निश्चित विधान था, इसलिये बहुतसे विद्यालय तो परीक्षाकी दूकान खोलकर पैसा कमानेका अड्डा बनाकर बैठ गए।

३. विद्याके प्रसार या उत्तम शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ नहीं किया गया। प्रारम्भसे ही जो ढर्रा चला उसे ही 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' मानकर लोग चलाते रहे। विश्वविद्यालयकी प्रबन्ध-समितियोंके सदस्योंको इतना अवकाश कहाँ था कि वे शिक्षाकी भूमिकापर विस्तृत विचार करें।

इन सब परिस्थितियोंने यह स्पष्ट कर दिया कि विश्वविद्यालय प्रणालीका आद्यन्त परिष्कार होना चाहिए और इसीलिये सन् १९०२के विश्वविद्यालय समीक्षण-मण्डल (यूनिवर्सिटी कमीशन) की स्थापना की गई।

सन् १९०२ का विश्वविद्यालय समीक्षण मण्डल

उपर्युक्त परिस्थितियोंके अतिरिक्त एक और घटना भी इसी बीच घटी जिसने विश्वविद्यालयकी नातिका सुधार करनेके मतको अधिक बल दिया। उन्हीं दिनों भारतीय विश्वविद्यालयोंके आदर्श लन्दन विश्वविद्यालयके भी पुन सघटनकी बात सोची जाने लगी थी अत भारतीय विश्वविद्यालयोंके रूप निर्माणकी चिन्ता करना स्वभावत आवश्यक हो गया। फलत श्री टी. रैलेकी अध्यक्षतामें विश्वविद्यालय समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया गया जिसके अन्य प्रमुख सदस्योंमें सर गुरुदास बनर्जी और नवाब सैयद हुसेन बिलग्रामी भी थे।

इस मण्डलने पाँच सुझाव दिए—

क—विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्था पद्धतिका पुन सघटन किया जाय।

ख—विश्वविद्यालयों द्वारा सम्बद्ध विद्यालयोंका अत्यन्त कठोर और नियमित निरीक्षण किया जाय और सम्बद्धताके अभिसंधानोंका अत्यन्त कड़ाईके साथ पालन कराया जाय।

ग—छात्रोंके निवास और अध्ययनकी परिस्थितियोंपर अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान दिया जाय।

घ—निश्चित सीमातक विश्वविद्यालयोंमें शिक्षणका कार्य किया जाय।

ङ—परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रममें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जायँ।

सन् १९०४ में जब विश्वविद्यालय-विधान (यूनिवर्सिटी ऐक्ट) बना तब इन उपर्युक्त सुझावोंमेंसे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ तो उसमें सम्मिलित कर लिए गए और शेष तृतीय तथा पंचम सुझाव विस्तृत नियमोंमें डालनेके लिये छोड़ दिए गए।

विश्वविद्यालयोंकी शासन-व्यवस्था

सन् १९०४ के विश्वविद्यालय-विधानके अनुसार सभी विश्वविद्यालयोंके शासन-स्वरूपोंमें परिवर्त्तन हो गया और निम्नलिखित व्यवस्था कर दी गई—

१. सीनेट या महासभा, विश्वविद्यालय-व्यवस्थाकी सबसे ऊँची शासन-सभा थी जिसके सब सदस्य पहले जीवन भरके लिये चान्सलर-द्वारा मनोनीत किए जाते थे और प्रायः प्रान्तपति ही चान्सलर होते थे। इस महासभामें अध्यापकोंका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था और इसीलिये लोग इन विश्वविद्यालयोंका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये करनेलगे थे। किन्तु इस नये विधानके द्वारा प्राचीन सदस्योंकी संख्या कम कर दी गई और प्राध्यापकोंको भी प्रतिनिधित्व दिया गया।

२. पहले सब सम्बद्ध विद्यालयोंको सभी विषय पढ़ानेकी छूट थी किन्तु इस विधानके पश्चात् प्राध्यापकोंकी योग्यता तथा अन्य आवश्यक उपादानोंकी परीक्षा करके केवल उन्हीं विद्यालयोंको वे ही विषय पढ़ानेकी आज्ञा विश्वविद्यालय देने लगा जिनके

२. सम्बद्ध विद्यालयोंकी पढ़ाई भी तरह-थाईस ही थी क्योंकि उनमें न तो शिक्षाका ही कोई निश्चित मानदण्ड था, न अध्यापकोंकी ही योग्यतापर कोई प्रतिबन्ध था और न शिक्षाके साधनोंका ही कोई निश्चित विधान था, इसलिये बहुतसे विद्यालय तो परीक्षाकी दूकान खोलकर पैसा कमानेका अड्डा बनाकर बैठ गए।

३. विद्याके प्रसार या उत्तम शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये कुछ नहीं किया गया। प्रारम्भसे ही जो ढर्रा चला उसे ही 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' मानकर लोग चलाते रहे। विश्वविद्यालयकी प्रबन्ध-समितियोंके सदस्योंको इतना अवकाश कहाँ था कि वे शिक्षाकी भूमिकापर विस्तृत विचार करें।

इन सब परिस्थितियोंने यह स्पष्ट कर दिया कि विश्वविद्यालय प्रणालीका आद्यन्त परिष्कार होना चाहिए और इसीलिये सन् १९०२के विश्वविद्यालय समीक्षण-मण्डल (यूनिवर्सिटी कमीशन) की स्थापना की गई।

सन् १९०२ का विश्वविद्यालय समीक्षण मण्डल

उपर्युक्त परिस्थितियोंके अतिरिक्त एक और घटना भी इसी बीच घटी जिसने विश्वविद्यालयकी नीतिका सुधार करनेके मतको अधिक बल दिया। उन्हीं दिनों भारतीय विश्वविद्यालयोंके आदर्श लन्दन-विश्वविद्यालयके भी पुन सघटनकी बात सोची जाने लगी थी अत भारतीय विश्वविद्यालयाके रूप निर्माणकी चिन्ता करना स्वभावत आवश्यक हो गया। फलत श्री टी. रैलेकी अध्यक्षताम विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया गया जिसके अन्य प्रमुख सदस्योंम सर गुरुदास बनर्जी और नवाब सैयद हुसेन बिलग्रामी भी थे।

इस मण्डलने पाँच सुझाव दिए—

क—विश्वविद्यालयाकी व्यवस्था पद्धतिका पुन सघटन किया जाय।

ख—विश्वविद्यालयों द्वारा सम्बद्ध विद्यालयोंका अत्यन्त कठोर और नियमित निरीक्षण किया जाय और सम्बद्धताके अभिसन्धानोंका अत्यन्त कड़ाईके साथ पालन कराया जाय।

ग—छात्रोंके निवास और अध्ययनकी परिस्थितियोंपर अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान दिया जाय।

घ—निश्चित सीमातक विश्वविद्यालयोंमें शिक्षणका कार्य किया जाय।

ङ—परीक्षा-प्रणाली और पाठ्यक्रममें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए जायँ।

सन् १९०४ में जब विश्वविद्यालय-विधान (यूनिवर्सिटी ऐक्ट) बना तब इन उपर्युक्त सुझावोंमेंसे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ तो उसमें सम्मिलित कर लिए गए और शेष तृतीय तथा पंचम सुझाव विस्तृत नियमोंमें डालनेके लिये छोड़ दिए गए।

विश्वविद्यालयोंकी शासन-व्यवस्था

सन् १९०४ के विश्वविद्यालय-विधानके अनुसार सभी विश्वविद्यालयोंके शासन-स्वरूपोंमें परिवर्त्तन हो गया और निम्नलिखित व्यवस्था कर दी गई—

१. सीनेट या महासभा, विश्वविद्यालय-व्यवस्थाकी सबसे ऊँची शासन-सभा थी जिसके सब सदस्य पहले जीवन भरके लिये चान्सलर-द्वारा मनोनीत किए जाते थे और प्रायः प्रान्तपति ही चान्सलर होते थे। इस महासभामें अध्यापकोंका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था और इसीलिये लोग इन विश्वविद्यालयोंका प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये करनेलगे थे। किन्तु इस नये विधानके द्वारा प्राचीन सदस्योंकी संख्या कम कर दी गई और प्राध्यापकोंको भी प्रतिनिधित्व दिया गया।

२. पहले सब सम्बद्ध विद्यालयोंको सभी विषय पढ़ानेकी छूट थी किन्तु इस विधानके पश्चात् प्राध्यापकोंकी योग्यता तथा अन्य आवश्यक उपादानोंकी परीक्षा करके केवल उन्हीं विद्यालयोंको वे ही विषय पढ़ानेकी आज्ञा विश्वविद्यालय देने लगा जिनके

उचित शिक्षणके सम्बन्धमें विश्वविद्यालयको पूर्ण विश्वास हो जाता था।

३. अनेक विद्यालयोंके साथ छात्रावास संलग्न कर दिए गए और सावास प्रणाली प्रारम्भ कर दी गई। छात्रावासोंमें रहनेवाले विद्यार्थियोंके लिये अनेक प्रकारके प्रतिबन्ध लगा दिए गए क्योंकि उन दिनों अन्य नैतिक कारणोंके साथ साथ बंग-भंगके विक्षोभसे उत्पन्न स्वदेशी आन्दोलन भी विराट् रूप धारण कर चुका था।

४. विभिन्न विश्वविद्यालयोंने योरोपीय विश्वविद्यालयोंके अनेक प्रसिद्ध और लोकविश्रुत प्राध्यापकोंको विशिष्ट विषयोंपर व्याख्यान देनेके लिये निमंत्रित किया जैसे बम्बई विश्वविद्यालयने अर्थशास्त्रपर व्याख्यान देनेके लिये प्रो० जेवन्सको, पंजाब विश्वविद्यालयने विज्ञान-पर भाषण देनेके लिये प्रो० मेगरीको और प्रयाग विश्वविद्यालयने इतिहासपर भाषण देनेके लिये रसमुक विलियम्सको।

५ इन परिवर्तनोंके कारण विज्ञान भी प्रमुख रूपमें पाठ्यक्रममें आकर जम गया।

सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण मण्डलका विश्लेषण

सन् १९०२ के विश्वविद्यालय-समीक्षण-मण्डलने यद्यपि अत्यन्त सावधानीके साथ विश्वविद्यालयकी सभी बुराइयाँ दूर करनेका प्रयत्न किया किन्तु फिर भी कुछ बातें ऐसी रह ही गईं जिनपर उस मण्डलने विशेष ध्यान नहीं दिया—

क. मण्डलने प्राध्यापकोंके उचित वेतन मान और उपयुक्त सेवा-अवधिकी निश्चिन्तता (सिक्योरिटी ऑफ़ सर्विस ऐंड टिन्योर) के सम्बन्धमें कोई उपाय नहीं सुझाए।

ख विभिन्न विद्यालयोंमें पढ़ाए जानेवाले विषयोंके आवश्यक सहयोगके सम्बन्धमें कोई सुझाव नहीं दिया जिससे निरर्थक व्यय कम होता और उनकी श्रेष्ठता बढ़ती।

ग—यह सिद्धान्त मान लेनेपर भी कि विश्वविद्यालयको शिक्षा-संघ बना देना चाहिए, यह मण्डल यही मानता रहा कि हमें बी. ए. की कक्षासे नीचेकी शिक्षामें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सच पूछिए तो इन विद्यालयोंमें शिक्षाकी व्यवस्था हो जानेसे ही बी. ए. से नीचेकी कक्षाओंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विश्वविद्यालयोंमें जो शिक्षाकी व्यवस्था हुई वह पर-स्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) वर्गोंके लिये ही की गई। इस प्रकार वास्तवमें उचित विश्वविद्यालय-शिक्षाका संघटन ठीक-ठीक नहीं हो पाया क्योंकि हाइ स्कूलकी शिक्षाका कोई उचित सम्बन्ध विश्वविद्यालयकी शिक्षासे स्थापित नहीं किया गया।

इस प्रकार छात्र बढ़े, प्राध्यापक बढ़े, विद्यालय बढ़े और इन सबको सुसघटित करके इस सेनाकी परीक्षा लेनेकी शिरःपीडा भी बढ़ती चली गई। फलतः अगले बीस वर्षोंमें लोग इस परिपाटीसे भी ऊब गए और अनुभव करने लगे कि विश्वविद्यालय-शिक्षाका पुन:संघटन अवश्य होना चाहिए।

२१

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयका आन्दोलन

इतिहासके जन्मसे बहुत पहलेकी बात है, जब सारे ससारके मनुष्य पेड़ोंके खोखलों और माँदोंमें रात काटते थे, जगली फल और जानवरोंका भोजन करते थे और इङ्गितोंमें बातें किया करते थे, उस समय हिमालयके पवित्र जलसे सिंचे हुए आर्य्यावर्तमें पञ्चनद और गङ्गा यमुनाके कछारमें सामवेदका गान होता था, गौओंका पालन होता था, खेती होती थी, अनेक धान्य उत्पन्न किए जाते थे और इतना ही नहीं, यहाँके लोग सृष्टि रचनेवाले परमेश्वरकी भी खोजमे लगे हुए थे और उसे पा भी चुके थे। हमने ससारकी सभी जातियोंकी सभ्यताका प्रभात देखा पर हमारी सभ्यताका प्रभात किसने देखा? ऋग्वेद हमारी सभ्यताका सबसे पुराना साक्षी है पर जिस सभ्यताका उसमें वर्णन किया गया है वह एक दो सदीकी उपज नहीं है, निरन्तर कई सदियोंके अनवरत प्रकाशने उसे सिद्ध किया था। पके हुए आमको हाटमें देखकर हमें समझ लेना चाहिए कि वह कई महीने पहले रसालकी डालमें भौंरोंसे घिरा हुआ एक फूल रहा होगा। इसी प्रकार वैदिक सभ्यता भी—जिसमें अध्यात्मका पूरा विकास हो चुका था—कई सहस्र वर्षोंकी कमाई रही होगी।

ब्राह्मणोंकी साधना

इस सभ्यताके प्रकाशकी ओर वे सभी देश खिंचे चले आए, जिन्हें हमने ही धोती पहनना, बात करना और हिलमिलकर रहना सिखाया। हमारा देश कला और विद्याओंकी खान था। कुछ नहीं तो चौंसठ कलाओं, सहस्रों उपकलाओं और चौदह विद्याओंका तो पूरा विवरण मिलता ही है। भारत उन दिनों ससारका गुरु बना हुआ था। वह

विद्याका ऐसा फुहारा बन गया था जहाँ सारे संसारके प्यासे लोग आ-आकर अपनी प्यास बुझाते थे पर भारतके सभी शिष्योंने अपने ही गुरुकी पगड़ी उछालनी प्रारंभ कर दी। जिस हँडियामें पानी पिया उसीमें छेद कर दिया। भलमनसाहत क्या इसीका नाम था? जो इसकी महिमा समझते थे उन्होंने इसका भण्डार समेटा और अपने घर उठा ले गए। जिन्होंने इसके विद्याधनका मान नहीं किया वे इसके पुस्तकालयोंमें आग लगा गए। पर धन्य है भारतवासियोंकी वर्णाश्रम-धर्म-प्रणालीको! समाजके एक ब्राह्मण-वर्गने यह काम अपने ऊपर ले लिया और धन-लिप्साको लात मारकर, सन्तोषका बाना पहनकर, सारा ज्ञान पीढ़ी दर-पीढ़ी आजतक बचाए रक्खा। इन्हें लोगोंने 'पाखण्डी' कहा, 'पोप' कहा, 'उन्नतिके विरोधी' कहा और क्या-क्या नहीं कहा पर ये लोग गालियाँ सहकर भी चुपचाप अपना काम करते आए और आज जो हमें इतने ग्रन्थ-रत्न मिल सके हैं उनका एकमात्र श्रेय इन्हीं ब्राह्मणोंको है, जिनकी सम्पत्ति केवल एक जनेऊ और एक धोती है।

विलायती विष!

इनके जनेऊ और इनकी चोटीकी रक्षा करनेवाले क्षत्रिय अपनी तलवारें तोड़ चुके थे। जिनके करवालके सहारे ब्राह्मण, भारतकी सभ्यता सुरक्षित करते आए थे, उनकी जब यह दशा हो गई तो ब्राह्मणकी चोटी और उसके जनेऊ भी कटने लगे। ये ज्ञानके दीप, जिन्होंने भयानक आँधियोंमें भी हिन्दुस्थानमें दीवाली मनाई थी, एक-एक करके बुझने लगे और जिसके चरणोंपर न जाने कितने राजा और विद्यार्थी अपना शिर झुका गए थे, उस गुरुकी पगड़ी उसीके चेलोंने उछाल दी, उसका आसन छीन लिया और इतना ही नहीं, उसे ऐसा मद पिला दिया कि वह अपना ज्ञान भूल बैठा, द्वार-द्वार ज्ञानकी भिक्षाके लिये हाथ पसारने लगा। क्या यह हमारे लिये डूब मरनेकी बात नहीं है कि भारतके विद्यार्थी हिन्दी, संस्कृत, पालि,

अर्थशास्त्र आदि विषयोंके आचार्य (डाक्टर) बननेके लिये लन्दन, बर्लिन और पेरिस विश्वविद्यालयोंकी शरण लें और इससे भी अधिक क्या यह कम आश्चर्य और लज्जाकी बात नहीं है कि हमारे देशके विश्वविद्यालय अपने ही विश्वविद्यालयोंके पढ़े हुए छात्रोंको स्थान न देकर विलायती बिल्ला लगे हुए लोगोंको अध्यापक नियुक्त करें। हम समझते हैं कि इस कलङ्कसे कोई भी भारतीय विश्वविद्यालय नहीं बच सका।

काशी

नालन्दा, विक्रमशीला, तक्षशिला, नदिया, धारा तथा उज्जयिनीके सभी विद्यालय और विश्वविद्यालय समयकी चक्कीमें पिस गए, छिट पुट एकाध पण्डित पुरानी चटाईपर बैठकर पाणिनि और मनु, भास्कराचार्य और पतञ्जलिकी उद्धरणी करते रहे। उसका उद्देश्य भी विद्या प्रचारका उतना नहीं था जितना अपना और अपने कुटुम्बका पेट पालना था। पर फिर भी कुछ स्थान ऐसे बच गए जो दिल्लीकी लोहेकी किल्लीकी भाँति अचल खड़े रहे और जिनमें घनघोर वर्षा होनेपर भी मुर्चा न लग सका। काशी एक ऐसा ही स्थान था।

मनस्वीकी धुन

सन् १८५८ ई० में अंग्रेज़ी राज्यकी नींव ही नहीं पड़ी वरन् यों कहिए कि उसका पूरा दुर्ग तैयार हो गया और जिस समय महारानी विक्टोरियाके घोषणापत्रने उसका उद्‌घाटन किया उस समय हिन्दुस्थानियोंने इतनी जय-जयकार की कि उनके गले बैठ गए, बहुत दिनोंतक वे कुछ भी न बोल पाए। सन् १८८० और ८४ के बीचकी बात है। म्यार सेण्ट्रल कॉलेज् प्रयागमें एक ब्राह्मण छात्रके मनमें यह बात पीड़ा देने लगी कि हमारे देशके विद्यार्थियोंको विदेश क्यों जाना पड़ता है। विद्यार्थियोंका नैतिक पतन देखकर उसके मनमें भावना हुई कि क्यों न पुराने आश्रमके आधारपर नये आश्रम खोले जायँ। उसने बहुतोंसे यह बात कही। किसीने सुना और हँस दिया। किसीने कहा 'पागल हुए हो'। अपने घरमें

दोनों जूनका भोजनका ठिकाना न होनेपर भी जो ऐसी-बात कहे वह पागल नहीं तो और है क्या! पर उस 'पागल' को धुन थी। वह अपने अकेले समयमें कभी उस विश्व-विश्रुत नालन्दा विश्वविद्यालयके स्वप्न देखा करता था जिनमें अध्यापकोंके सौ सौ आसन लगे हुए हैं, गुरु और शिष्य सभी मिलकर अध्ययन और अध्यापनमें दत्तचित्त हैं। कहीं विज्ञान पढ़ाया जा रहा है तो कहीं तर्कशास्त्र, कहीं साहित्य है तो कहीं आयुर्वेद, कहीं दर्शन है तो कहीं ज्योतिष। कभी उस नवयुवककी आखोंके आगे तक्षशिलाका वह ज्ञानपीठ नाच उठता था जहाँ विद्यार्थी और अध्यापक एक ही आश्रममें रहते हैं। कुछ शुल्क देते हैं, कुछ निःशुल्क पढ़ते हैं। कुछ दिनको काम करते और रातको पढ़ते हैं। एक-एक कला या विद्याके विशेषज्ञ एक-एक विद्या पढ़ा रहे हैं।

साकार स्वप्न

यों तो सभी अपने मनके मोदक खाते रहते हैं पर उनमें ऐसे कितने निकलेंगे जिन्होंने अपने मन-मोदकोंका स्वयं स्वाद चखा है? आज हम जिसकी कथा कह रहे हैं वह सचमुच ऐसा ही था। पहले उसने कल्पना की। धीरे-धीरे उस कल्पनामें बनी हुई मूर्त्तिमें प्राण पड़ने लगे। फिर उसका स्वरूप बनना प्रारंभ हुआ और देखते-देखते काशीमें गङ्गाजीके किनारे खेतों और अमराइयोंके बीचसे गेरुआ वस्त्र पहन-पहनकर वह कल्पना विशाल रूप धारण करके निकल आई, तक्षशिला नालन्दा और विक्रमशीलाकी स्मृति लेकर। सभीने आँखें मलकर देखा। क्या स्वप्न है? नहीं स्वप्न कैसे हो सकता है? यही प्रत्यक्ष काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय है। जब सारा ससार अँधेरी रातमें चादर तानकर सो रहा था उस समय रातको अपनी नींद हराम करके अपने पसीनेके गारेसे एक ब्राह्मणने अपने कुछ मित्रोंसे ईंट-चूना माँगकर इसका निर्माण किया है। संसारमें- बहुतसी आश्चर्य-जनक वस्तुएँ हैं पर यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। बहुतसे वनस्पति-विशारदोंका दावा है कि वे

एक दिनमें एक पौधेको एक हाथ बड़ा कर सकते हैं—यन्त्रसे या बिजलीसे। पर जिसके पास यन्त्र भी नहीं हो और पैसा भी पास न हो वह यदि गेहूँ और चनेके खेतोंमेंसे, हरी भरी अमराइयोंमेंसे इतने थोड़े समयमें एक इतना बड़ा विश्वविद्यालय उत्पन्न कर दे उससे भला कौन वैज्ञानिक होड़ कर सकता है ?

भूमिका

सन् १८८२ ई० मे शिक्षा-कमीशन बैठा और लौर्ड रिपनने देखा कि विश्वविद्यालयोंकी सख्या कम है, तो सन् १८८२ ई० में उसने लाहौरमें एक विश्वविद्यालय स्वय स्थापित किया और सन् १८८७ ई० मे उनके उत्तराधिकारी लौर्ड लिटनने प्रयागम विश्वविद्यालय स्थापित कर दिया ।

विश्वविद्यालयका मानचित्र

उसी प्रयाग विश्वविद्यालयके स्नातक पडित मदनमोहन मालवीयजीके मनमें प्रयागसे काशीतक गङ्गाजीके किनारे-किनारे एक ऐसा आश्रम बनानेकी धुन चढ़ी जहाँ भारतीय युवक अपने चरित्रका सुधार कर सकें और विद्या सीख सकें ।

राष्ट्रीय-शिक्षा

वह राष्ट्रीय शिक्षाका युग था । एक राष्ट्रीय शिक्षालयके खोलनके लिये बनारसके रईस मुन्शी माधोलालने तीन लाख रुपया दान दिया था । दक्षिणमें मर्यधी तिलक, देशमुख, वैद्य तथा बीजापुरकरने 'समर्थ विद्यालय' स्थापित किया था । बहुतस लोग राष्ट्रीय शिक्षाके लिये अपनी सेवाएँ अर्पित कर रहे थे । बनारसमें स्थापित होनेवाले राष्ट्रीय शिक्षालयम सेवा करनेके लिये भी बहुतसे लोग तैयार हो चुके थे । पर कौन जानता था कि उस छोटेसे बीजमें इतनी बड़ी सृष्टि छिपी है। नाभाके राजाने अमृतसरके खालसा कौलेजका सुधार करनेके लिये सिक्ख जातिको आमन्त्रित किया । वङ्गालम राँचीके नये कौलेजके लिये अच्छी निधियाँ

दान की गईं। अलीगढ़ कौलेजके संरक्षक अपने कौलेजको सावास विश्वविद्यालयमें परिणत करनेकी सोचने लगे। नवाब रामपुरकी सहायतासे बरेली कौलेजकी भी उन्नति हुई। महाराजा बलरामपुरने एक गुरुकुलके समान नये शिक्षालयके स्थानके लिये तीन लाख रुपये दिए। ताता वैज्ञानिक अन्वेषण-संस्था भी धीरे-धीरे अस्तित्वमें आ रही थी। लौर्ड कर्जनके विधानके अनुसार सरकारी सहयोगसे इन विश्वविद्यालयों अथवा कौलेजोंमें उच्च शिक्षाके कार्यको प्रोत्साहन करना और लाभ पहुँचाना कदापि सम्भव नहीं था।

हिन्दू विश्वविद्यालयका प्रस्ताव

सन् १९०४ ई० में पहले-पहल काशी-नरेश महाराज सर प्रभुनारायणसिंहके सभापतित्वमें काशीके मिण्ट हाउसमें एक सभा हुई जिसमें मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयका सविवरण प्रस्ताव रक्खा। उस सभामें बहुतसे ऐसे लोग थे जो उस प्रस्तावके सफल होनेमें सन्देह करते थे। इनमें उस सभाके सभापति काशी-नरेश स्वयं थे। इस बातको एक बार स्वयं उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कौलेजमें भाषण देते हुए कहा भी था—"जब इस पवित्र कार्यका सूत्रपात करनेवाले हमारे माननीय मित्र पण्डित मदनमोहन मालवीयजीने मुझसे पहले-पहल हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करनेका विचार बताया तब मुझे इस कार्यकी सफलतामें सन्देह था।" मनमें सन्देह करते हुए भी सभीने उस प्रस्तावको स्वीकार कर लिया। अब तो मालवीयजीको बड़ा उत्साह मिला। सन् १९०५ ई० के नवम्बरमें मालवीयजीने हिन्दू विश्वविद्यालयके लिये संन्यास ले लिया। संसारके कल्याणके लिये बुद्ध अपना राज्य और घर छोड़कर निकल पड़े। उसी वर्ष श्रीमान् गोपाल कृष्ण गोखलेकी अध्यक्षतामें दिसम्बरमें राष्ट्रीय महासभा होनेवाली थी। इससे पहले ही अक्तूबरमें 'प्रस्तावित विश्वविद्यालय' का विवरण छपवाकर भारतवर्षके राजा, महाराजा पण्डित, विद्वान् और नेताओंको भेज दिया गया। दिसम्बरमें काशीमें

राष्ट्रीय महासभा हुई और उसी अवसरपर ३१ दिसम्बर सन् १९०५ई० को बरारके श्री वी० एन्० महाजनी एम्० ए० के सभापतित्वमें काशीके टाउनहॉलमें एक बड़ी भारी सभा हुई। सब धर्मोंके प्रतिनिधि, तथा देश भरके प्रसिद्ध शिक्षा-प्रेमियोंके सामने यह योजना रक्खी गई। यहाँ भी हिन्दू विश्वविद्यालयकी योजनाका सबने स्वागत किया। जनवरी सन् १९०६ ई० को वहीं कांग्रेसके पण्डालमें हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी घोषणा हुई।

सनातनधर्म महासभाका प्रस्ताव

उसी समय सन् १९०६ ई० में २० से २९ जनवरीतक प्रयागमें परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु श्री स्वामी शङ्कराचार्यजीके सभापतित्वमें सुप्रसिद्ध साधुओं तथा विद्वानोंकी सनातन धर्म महासभामें यह प्रस्ताव स्वीकार हो गया कि—

"१. भारतीय विश्वविद्यालयके नामसे काशीमें एक हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना की जाय, जिसके निम्नाङ्कित उद्देश्य हों—

(अ) श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्मके पोषक सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये धर्मके शिक्षक तैयार करना।

(आ) संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनकी अभिवृद्धि।

(इ) भारतीय भाषाओं तथा संस्कृतके द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षाके प्रचारमें योग देना।

२—विश्वविद्यालयमें निम्नांकित संस्थाएँ हों—

(अ) वैदिक विद्यालय—जहाँ वेद,वेदाङ्ग, स्मृति, दर्शन, इतिहास तथा पुराणकी शिक्षा दी जाय। ज्योतिष विभागमें एक ज्योतिष-सम्बन्धी तथा अन्तरिक्ष-विद्या सम्बन्धी वेधशाला भी निर्मित की जाय।

(आ) आयुर्वेदिक विद्यालय—जिसमें एक प्रयोग शाला, वनस्पति शास्त्रके अध्ययनके लिये एक उद्यान, एक सर्वोत्कृष्ट चिकित्सालय तथा एक पशु-चिकित्सालयकी स्थापना की जाय।

(इ) स्थापत्यवेद तथा यन्त्रशास्त्रके तीन विभाग हों (१) भौतिक शास्त्र विभाग (२) प्रयोगों तथा अन्वेषणके लिये एक प्रयोगशाला, और (३) मशीन तथा बिजलीका काम सीखनेवाले इञ्जीनियरोंकी शिक्षाके लिये यन्त्रालय।

(ई) रसायन विभाग—जिसमें प्रयोगों और अन्वेषणोंके लिये प्रयोगशालाएँ तथा रासायनिक द्रव्योंके बनवानेकी शिक्षाके लिये यन्त्रालय स्थापित किया जाय।

(उ) शिल्पकला विभाग—जिसमें मशीन द्वारा व्यवहारमें आनेवाली नित्यप्रतिकी वस्तुएँ तैयार की जायँ। इस विभागमें भूगर्भशास्त्र, खनिज तथा धातुशास्त्रकी शिक्षा भी सम्मिलित रहे।

(ऊ) कृषि-विद्यालय—जहाँ प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकारकी शिक्षाएँ कृषिशास्त्रके नवीन अनुभवोंके अनुसार दी जायँ।

(ए) गन्धर्ववेद तथा अन्य ललित कलाओंका विद्यालय।

(ऐ) भाषा-विद्यालय—जहाँ अंग्रेज़ी, जर्मन तथा अन्य विदेशी भाषाएँ इस उद्देश्यसे पढ़ाई जायँ कि उनकी सहायतासे भारतीय भाषाओंका साहित्य-भाण्डार नये रत्नोंसे परिपूर्ण हो तथा विज्ञानकलाके नवीन शोधों द्वारा उनके विकासमें अभिवृद्धि हो।

३—(अ) इस विश्वविद्यालयका धर्म सम्बन्धी कार्य तथा वैदिक कोलेज का कार्य्य उन हिन्दुओंके अधिकारमें रहेगा जो श्रुति, स्मृति तथा पुराणों द्वारा प्रतिपादित सनातनधर्मके सिद्धान्त माननेवाले होंगे।

(आ) इस विश्वविद्यालयमें वर्णाश्रम धर्मके नियमानुसार ही प्रवेश होगा।

(इ) इस विश्वविद्यालयके अतिरिक्त अन्य सब विद्यालयोंमें सब धर्मावलम्बियों तथा सब जातियोंका प्रवेश हो सकेगा तथा संस्कृत भाषाकी अन्य शाखाओंकी शिक्षा, बिना जाति पाँतिका भेद-भाव किए सबको दी जायगी।

४—(अ) निम्नाङ्कित सज्जनोंकी एक समिति बनाई जाय जिन्हें

अपने सदस्योंकी संख्या बढ़ानेका अधिकार हो, जो इस विश्वविद्यालयकी आयोजनाको कार्य्य रूपमें परिणत करनेके लिये आवश्यक उपाय काममें लावें, जिसके मन्त्री माननीय पण्डित मदनमोहन मालवीय हों।

(आ) बनारस टाउन हॉलकी सभामें जो समिति नियुक्त हुई थी उसके सदस्योंसे प्रार्थना की जाय कि वे समितिके भी सदस्य हो जाँय।

५—(अ) विश्वविद्यालयके लिये एकत्र किया हुआ समस्त धन काशीके माननीय मुन्शी माधोलालके पास भेजा जाय जो उसे 'बैङ्क औफ़ बङ्गाल, बनारस' में न्यस्त कर दें, जबतक कि उपर्युक्त समिति इस सबंधमें कोई और आज्ञा न दे।

(आ) इस विश्वविद्यालयके लिये आए हुए रुपयोंमेंसे तबतक कुछ भी धन व्यय न किया जाय जबतक कि विश्वविद्यालय-समिति एक सङ्घटित संस्थाके रूपमें रजिस्टर्ड न हो जाय। जबतक इसके नियम निश्चित न हो जायँ तबतक इसका व्यय सनातनधर्म महासभाके लिये आए हुए धनमेंसे होना चाहिए।

यह भी सोचा गया कि विश्वविद्यालयका शिला-रोपण तीस लाख रुपया एकत्र हो जानेपर अथवा एक लाख रुपया वार्षिक सहायताका वचन मिल जानेपर हो जाय।

इन प्रस्तावोंको पढ़कर यह तो ज्ञात हो ही सकता है कि केवल बी० ए०, एम्० ए० की पढ़ाईके लिये ही विश्वविद्यालयकी योजना नहीं बनी थी, वरन् उसका उद्देश्य यह था कि जहाँ एक विद्यार्थी, शिल्पकला और यन्त्रकला सीखता हो वहाँ वह मशीनको ही सर्वशक्तिमान् न समझ बैठे वरन् मनुष्योंके भाग्यका शासन करनेवाले उस परमात्माका भी स्मरण करे और मन, वचन तथा कर्मसे आदर्श हिन्दू बन जाय। पर उन्होंने व्यावहारिक और विशेषतया औद्योगिक तथा वैज्ञानिक शिक्षाको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। मालवीयजीके शब्दोंमें यह बात और स्पष्ट हो जाती है—"रसायन तथा भौतिक शास्त्रमें योरोप तथा अमेरिकाने पिछले पचहत्तर वर्षोंसे जो उन्नति की है तथा उनकी

(विज्ञानकी) सहायतासे धनोपार्जन करनेके साधनोंमें जो उन्नति हुई है, विशेषतया जो एंजिन, भाप तथा विद्युत्‌की सहायतासे औद्योगिक वस्तुएँ तैयार करनेके कारण उन्नति हुई है उसे देखते हुए भारतवर्ष उन देशोंसे बहुत पीछे रह गया है, जहाँ प्रयोगों-द्वारा सामाजिक हित और सेवाके लिये विज्ञानका अध्ययन हो रहा है।"

बंग-भंग

यह प्रस्ताव स्वीकृत तो हो गया पर सहसा सन् १९०५ ई० में ही भारतमें एक भूकम्प आया। उसने काँगड़ाको ही नहीं हिलाया वरन् देशकी आन्तरिक शान्ति भङ्ग कर दी। भारतमाताके बाएँ हाथके दो टुकड़े कर डाले गए। बेचारी भूखी, दुर्बल, अनाथ और पराधीन माता एक बार तड़प उठी। दीनकी आहसे भगवान्‌की योगनिद्रा भी खुल जाती है। बस वही हुआ। एक बार देशमें ऐसी लहर उठी जैसी साँपके काटनेपर उठा करती है। सन् १९०७ ई० का अभागा वर्ष आया और अपने साथ बहुतसा बवंडर लेता आया। हिन्दू विश्वविद्यालयके कई पक्षपाती हिन्दुस्थानसे बाहर कर दिए गए या जेलोंमें ठूँस दिए गए। राजनीतिक बवंडरमें हिन्दू विश्वविद्यालयका नाम भुला दिया गया।

त्रिवेणी

उन दिनों श्रीमती एनी बेसेण्टके सेण्ट्रल हिन्दू कौलेज्‌की बड़ी धूम थी। बड़े-बड़े त्यागी विद्वान् सेवा-भावसे वहाँ आ-आकर पढ़ा रहे थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट, हिन्दूधर्म और संस्कृतिकी बड़ी पक्षपातिनी थीं। उन्होंने हिन्दू धर्मपर बहुतसी पुस्तकें भी लिखी थीं। धीरे-धीरे उन्होंने उस हिन्दू कौलेज्‌को ऐसी 'युनिवर्सिटी' बनानेका विचार किया, जिसके अन्तर्गत देशके बहुतसे कौलेज रहें और सर्वत्र यहाँकी परीक्षाके केन्द्र रहें। सन् १९०७ ई० में उन्होंने कई प्रभावशाली भारतवासियोंके हस्ताक्षरसे 'रोयल चार्टर' के लिये भारत सरकारके पास एक प्रार्थनापत्र 'युनिवर्सिटी औफ़ इण्डिया' स्थापित करनेके लिये भेज दिया। इधर सनातन-धर्म

महामण्डलने भी दरभङ्गा-नरेश स्वर्गीय महाराजा रामेश्वरसिंहके नेतृत्वमें एक विश्वविद्यालय स्थापित करनेका प्रस्ताव वहाँ उपस्थित किया। ये तीनों धाराएँ अलग-अलग बहती तो रहीं पर तीनों अगजग विश्वनाथजीकी जटाओंमें ही रहना चाहती थीं। सन् १९११ ई० के अक्तूबर मासमें दरभंगा-नरेश महाराजा रामेश्वरसिंह बहादुरने अपने विश्वविद्यालयकी योजना भी हिन्दू विश्वविद्यालयके साथ मिला दी और ये दोनों महानुभाव इस सम्बन्धमें लॉर्ड हार्डिंजसे जाकर मिले। उन्होंने प्रस्तावकी बड़ी सराहना की और भारत सरकारसे पूरी सहायता दिलानेका वचन दिया। बहुत दिनोंतक मालवीयजी और श्रीमती एनी बेसेण्टके बीच इस सम्बन्धके पत्र-व्यवहार होते रहे, पर अप्रैल सन् १९११ ई० में श्रीमती एनी बेसेण्ट, प्रयागमें मालवीयजीसे मिलीं और ये तीनों धाराएँ एक हो गईं। प्रयागके बहुतसे लोगोंने मालवीयजीसे बहुत आग्रह किया कि आप प्रयागके रहनेवाले हैं, प्रयागमें ही विश्वविद्यालय बनाइए, किन्तु उन्होंने कहा कि काशी सिद्धपीठ है, विद्याका केन्द्र है, विश्वविद्यालय वहीं बनना चाहिए और वहीं बनेगा।

श्रीगणेश

हिन्दू कॉलेजके ट्रस्टियोंमें इन्हीं दिनों कृष्णमूर्तिको लेकर एक बखेड़ा खड़ा हो गया था। हिन्दू विश्वविद्यालयकी चर्चा उठकर फिर बैठ चुकी थी। इसी बीच सन् १९०९ ई० में अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी बननेकी बात पक्की-सी हो गई। हिन्दू विश्वविद्यालयकी भनक फिर कानोंमें पड़ने लगी। मालवीयजी उसका नया स्वरूप लेकर फिर प्रकट हुए। उन्होंने अपने पैरोंका सहारा लिया और लक्ष्मीपतियोंके विशाल नगर कलकत्तेमें आ पहुँचे।

सरकारी पक्ष

प्रयागके इस धवल ब्राह्मणकी एक हाँकपर कलकत्तेकी लक्ष्मी दोनों हाथोंमें सोनेका कलश लेकर आई और जिस झोलेमें यह ब्राह्मण अपने

देशकी करुण कथा सुनाकर आँसू बरसा रहा था उसमें उसने सोना उँड़ेलना प्रारंभ किया। उन्हीं दिनों मालवीयजी, उस समयके बड़े लाटके शिक्षामन्त्री हारकोर्ट बटलरसे मिले। उसने बातचीतके क्रममें स्पष्ट कह दिया कि "यदि इस संस्थामें मातृ-भाषा-द्वारा पढ़ानेकी व्यवस्था रही तो सरकारसे आप कोई आशा न रखियेगा। जिस समयतक आप लोग अंग्रेजीमें लिखते, बोलते, पढ़ते, पढ़ाते हैं तबतक तो हमें शान्ति रहती है, क्योंकि उस समयतक हम आपकी सब बातों और चालोंको भली भाँति समझ सकते हैं और उसे सँभाल सकते हैं, पर जिस समय आप अपनी भाषामें काम करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिये कठिन हो जाता है। इसलिये मातृ-भाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी अनुमति सरकारसे किसी दशामें नहीं मिल सकती।" मालवीयजी तत्काल बटलर साहबका संकेत ताड़ गए और मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी बात उस समय पी गए।

आन्दोलन

इन्हीं दिनों श्रीमती एनी बेसेण्टके भी तीन व्याख्यान भारतीय विश्वविद्यालयके सम्बन्धमें कलकत्तेमें हुए। इसके पश्चात् एक सार्वजनिक सभामें हिन्दू विश्वविद्यालयकी घोषणा की गई। कलकत्तेमें जो आर्थिक सहायताका वचन मिला था वह प्रकट किया गया और प्रायः पाँच लाखका वचन और बहुतसा रुपया नगद वहाँ मिला।

देशव्यापी प्रचार

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयकी विजय-दुन्दुभी बजाते हुए मालवीयजी और उनके साथी कलकत्तेसे लाहौरतक घूम आए। इस यात्रामें लगभग बीस-पचीस लाखका वचन भी मिल गया। हिन्दू विश्वविद्यालयका आन्दोलन ब्रह्मपुत्रकी बाढ़के समान वेगसे बह रहा था। उसके आगेका पथ रोकना असम्भव हो चुका था। शिमलेसे मालवीयजीके लिये बुलावा आया। वे शिमले पहुँचे। मालवीयजी उस समयके

वाइसराय लॉर्ड हार्डिंजसे मिलने गए और वहाँसे बड़े प्रसन्न लौटे। लौटकर बाबू शिवप्रसाद गुप्तको बुलाकर उन्होंने कहा कि वाइसरायने विश्वविद्यालयको अपनानेका वचन दे दिया है। गुप्तजी सन्न रह गए और उनके मुँहसे हठात् निकल पड़ा—'दिस इज़ दि डेथ-नैल ऑफ़ दि हिन्दू युनिवर्सिटी' (यह तो हिन्दू विश्वविद्यालयकी मृत्यु घोषणा है।) ये लोग ऊपरसे उतरकर फिर लाहौर लौट आए। लाहौरकी विशाल सभामें पञ्जाबकेसरी परलोकवासी लाला लाजपतरायने कहा कि, "चार्टर और नो चार्टर, हिन्दू युनिवर्सिटी मस्ट एग्ज़िस्ट" (चार्टर मिले या न मिले, हिन्दू युनिवर्सिटी अवश्य बनेगी), जिसके उत्तरमें मालवीयजी बोले कि "चार्टर एण्ड चार्टर, हिन्दू युनिवर्सिटी मस्ट एग्ज़िस्ट" (चार्टर मिलेगा, फिर मिलेगा और हिन्दू युनिवर्सिटी बनकर रहेगी)।

अभूतपूर्व स्वागत

मालवीयजी त्रिवेणी बन गए, हिन्दू विश्वविद्यालय पर्व बन गया और सारे देशने जी खोलकर इस पर्वपर सोना लुटाया। मालवीयजीकी जिह्वा सरस्वती बनी हुई थी। उनकी वाणीपर कितनी स्त्रियोंने अपने आभूषण न्यौछावर किए, कितने लोगोंने अपनी दिनभरकी कमाई लुटा दी। हिन्दू और मुसलमान सभी इस यज्ञमें भाग ले रहे थे। मुरादाबादमें मालवीयजीके व्याख्यानके पश्चात् एक मुसलमान सज्जन आँखोंमें आँसू और हाथमें पाँच रुपये लेकर खड़े हुए और ले जाकर मालवीयजीके चरणोंपर रखकर बोले, "मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, तब भी इस नेक काममें मैं पाँच रुपये देता हूँ।" इस सच्चे मुसलमानके इस दानसे सबकी आँखें डबडबा आईं।

एक करोड़की भीख

इस भिखारीकी झोलीमें भारतने एक करोड़ चालीस लाख रुपयेकी भीख डाल दी और इसे 'भिखारी सम्राट्' (प्रिन्स ऑफ़ बेगर्स) की उपाधि दे दी। गाँधीजीने एक बार कहा था कि "भीख माँगना, मैंने अपने बड़े भाई मालवीयजीसे सीखा है।" मालवीयजीके

इस आत्मत्याग और परिश्रमको देखकर ही श्रीमती एनी बेसेण्टने ३१ जनवरी सन् १९१२ ई० को काशीमें व्याख्यान देते समय कहा था कि "आपने अपना सांसारिक जीवन, अपनी सब शक्ति, अपनी विलक्षण वाणी, क्या कहा जाय—अपना समस्त जीवन और स्वास्थ्यतक इस महत् कार्य्य (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में लगा दिया है।"

हिन्दू विश्वविद्यालय बिल

एक करोड़ रुपया एकत्र हो गया। सन् १९११ ई० में हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटीकी रजिष्ट्री हो ही चुकी थी। इसके एक वर्ष पश्चात् ही भारतके राष्ट्र-मन्त्रीने लौर्ड हार्डिञ्जकी सम्मतिसे 'साधारण विश्वविद्यालय' स्थापित करनेकी स्वीकृति देदी। पहली अक्तूबर सन् १९१५ ई० को 'हिन्दू विश्वविद्यालय बिल' धारा-सभामें स्वीकृत हो गया। श्रीमती एनी बेसेण्टने और सेण्ट्रल हिन्दू कौलेजके ट्रस्टियोंने बड़ी उदारताके साथ सेण्ट्रल हिन्दू कौलेजको हिन्दू विश्वविद्यालयके हाथों सौंप दिया। यह हिन्दू विश्वविद्यालयका बीज समझिए।

शिलान्यास

भारतवर्षके गवर्नर जनरल तथा वाइसराय लौर्ड हार्डिंजने ४ फरवरी सन् १९१६ को इस विश्वविद्यालयका शिलान्यास किया। उस सङ्गमरमरकी शिलाके नीचे रिक्त स्थानमें एक ताँबेका डब्बा है जिसमें भारत-सरकार तथा बहुत-सी देशी रियासतोंके प्रचलित सिक्के, हिन्दू विश्वविद्यालय सोसाइटीका विवरण, उस दिनके लीडर तथा पायोनियर पत्रोंकी एक-एक प्रति तथा एक ताम्रपत्र रक्खा है। ताम्रपत्रपर संस्कृतमें इसका पूरा इतिहास अङ्कित है जिसका भाव यह है—

"सनातन-धर्मको कालके वेगसे पीडित तथा सम्पूर्ण भूमण्डलके प्राणियोंको दुरवस्थ और व्याकुल देखकर, कलियुगके पाँच सहस्र वर्ष बीतनेपर, भारत-भूमिके काशी-क्षेत्रमें, जाह्नवीके पवित्र तटपर, इस सनातनधर्मके बीजको पुनः नवीन रूपसे आरोपण करनेके लिये,

जगदीश्वरकी शुभ पुण्य इच्छा उत्पन्न हुई। अपनी प्राच्य और पाश्चात्य प्रजाको एक सूत्र-बद्ध करके और विशिष्ट विद्वानोंको एक-मत करके विश्वभावन, विश्वरूप, विश्व स्रष्टाने विश्वनाथकी नगरीमें विश्वविद्यालयके संस्थापनकी व्यवस्था की। देशभक्त विप्र मदनमोहन मालवीय, परमेश्वरकी इस इच्छाको पूर्ण करनेके निमित्त मात्र बने। उन्होंने भारतको जगाकर, उसमें वाणीका तेज भरकर, भारतके शासकोंको नम्र बनाकर, इस कार्य्यको सफल करनेमें सबको प्रवृत्त किया। भगवान्‌की इस इच्छाकी पूर्त्तिमें और भी कई महापुरुष निमित्त बने। बीकानेर-नरेश मनस्वी महाराज श्रीगङ्गासिंह बहादुर, कार्य्यकारिणी सभाके सम्मान-वर्द्धक सभापति दरभङ्गा-नरेश श्रीरामेश्वरसिंहजी, मन्त्री एव कोषाध्यक्ष डाक्टर श्रीसुन्दरलालजी, सर गुरुदास बैनर्जी, श्री-आदित्यराम भट्टाचार्य्यजी, विदुषी एनी बेसेण्ट, डाक्टर रासबिहारी घोष तथा अन्य विद्यावयोवृद्ध देशप्रेमी भगवद्दासोंने यथाशक्ति इसकी सेवा की। महारानी विक्टोरियाके पौत्र, महाराज एडवर्डके पुत्र सम्राट् पञ्चम-जार्जके शासन-कालमें मेवाड़, काशी, कश्मीर, मैसूर, अलवर, कोटा, जयपुर, इन्दौर, जोधपुर, कपूर्थला, नाभा, ग्वालियर आदि राज्योंके नृपतियोंको तथा अन्य धनी मानी सज्जनोंको इसकी सहायताके लिये प्रेरणा करके, सब धर्मोंके जन्मदाता सनातन धर्मकी रक्षा एवं उन्नतिके लिये तथा अपनी लीलाके विस्तारके निमित्त उन्हीं परात्पर प्रभुने सम्राट्के प्रतिनिधि (वायसराय) धीर, वीर, प्रजाबन्धु श्री लॉर्ड हार्डिञ्जके द्वारा इस विश्वविद्यालयका शिलान्यास कराया। श्री विक्रम सम्वत् १९७२ की माघ शुक्ल प्रतिपदा शुक्रवारके दिन शुभ मुहूर्त्तमें श्री काशी नगरीमें सम्राट्के प्रतिनिधि (वायसराय) के द्वारा जिस विश्वविद्यालयका शिलान्यास किया गया वह सूर्य्य चन्द्रकी स्थितितक सुशोभित रहे।"

हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना हो गई और सन् १९१८ ई० में हिन्दू विश्वविद्यालयकी पहली परीक्षा हुई। सन् १९२१ में हिन्दू युनिवर्सिटी अपने मूल स्थान कमच्छासे हटकर नगवाके उस नये

क्षेत्रमें चली आई जो महाराजा बनारसने हिंदू विश्वविद्यालयको दे दिया था। अर्द्ध गोलेमें युनिवर्सिटीका निर्माण हुआ जहाँ धनुषाकार समानान्तर सड़कोंके किनारे बड़े क्रमसे विद्यालय, छात्रावास और अध्यापकावासोंके भवन बने हैं। आज यह विश्वविद्यालय छत्तीस बरसका हो गया है। इसका परिवार बढ़ता चला जा रहा है। यहाँ लगभग दस सहस्र विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं और पाँच सौ अध्यापक पढ़ा रहे हैं। यह एक नया ही मालवीयनगर बस गया है, जहाँ अपनी बिजली, अपना पानी, अपना नगर-प्रबन्ध है। जिन्हें रोम, पेरिस, लन्दन और बर्लिनका वैभव चकित न कर सका होगा उन्हें यह नया नगर अवश्य अच्छा लगेगा।

अनेकों कर्मवीरोंके हृदयकी भावनाका फल।
हमारे मालवीका प्राण हिन्दू विश्वविद्यालय॥

यह हिन्दू विश्वविद्यालय, एक दीन ब्राह्मणकी निरन्तर कल्पनाकी सजीव सृष्टि है। कल जो स्वप्न था, वह आज आँखोंके आगे है। हिन्दू विश्वविद्यालय आन्दोलन भारतीय शिक्षाके इतिहासकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा असाधारण घटना है जिसमें एक व्यक्तिने अपनी तपस्या और साधनासे संसारके श्रेष्ठतम विद्याकेन्द्रोंमेंसे यह महान् केन्द्र स्थापित किया। इस दृष्टिसे मालवीयजी युगप्रवर्त्तक, युगस्रष्टा महापुरुष हुए हैं।

२२

सैडलर समीक्षण-मण्डल [१९१७]

विश्वविद्यालयोंकी ह्रासोन्मुख दशामें संक्षुब्ध होकर जनताने विश्वविद्यालयोंके विरुद्ध जो पुकार मचाई उसके परिणाम-स्वरूप भारत सरकारकी ओरसे सर माइकेल सैडलरकी अध्यक्षतामें कलकत्ता-विश्वविद्यालयकी शिक्षा-पद्धतिका समीक्षण करनेके लिये सन् १९१७ ई० में एक मण्डल नियुक्त हुआ जिसके सात सदस्य तो सीधे इँगलैण्डसे आए थे, शेष दो भारतीय थे—सर आशुतोष मुकर्जी और डाक्टर ज़ियाउद्दीन।

प्रारम्भिक कार्य

सन् १९१७ के अक्तूबरमें इस मण्डलकी प्रथम गोष्ठी हुई और लगभग ४०० व्यक्तियोंसे इस मण्डल-द्वारा प्रचारित प्रश्न-मालाका उत्तर प्राप्त करनेके पश्चात् सन् १९१९ के मार्चमें इसने अपना कार्य पूर्ण कर दिया। इस मण्डलने विश्वविद्यालय और माध्यमिक शिक्षाके पारस्परिक सम्बन्धका भी विवेचन किया और यह भी विचार किया कि व्यावसायिक और वैज्ञानिक विद्यालयोंपर विश्वविद्यालयकी शिक्षाका क्या प्रभाव पड़ सकता है या क्या सहयोग प्राप्त हो सकता है। इस मण्डलने जो विवरण प्रस्तुत किया है वह भारतकी माध्यमिक तथा उच्चतर शिक्षाका सबसे अधिक विस्तृत तथा प्रामाणिक समीक्षण माना जाता है।

मण्डलका विवरण

इस विवरणमें मण्डलने प्रारम्भमें ही स्पष्ट रूपसे घोषित किया है कि जबतक विश्वविद्यालयोंकी आधारशिला माध्यमिक शिक्षामें ही आमूल परिवर्तन और सुधार नहीं हो जाते तबतक सामान्यतः सभी

विश्वविद्यालयोंके और विशेषतः कलकत्ता विश्वविद्यालयकी व्यवस्थाका सन्तोषजनक संघटन नहीं हो सकता।

माध्यमिक शिक्षाके दोष

माध्यमिक शिक्षाके दोष गिनाते हुए मण्डल कहता है कि—

"माध्यमिक शिक्षाका—

१. शिक्षा-मान (स्टैंडर्ड) अत्यन्त निम्न कोटिका, अनियमित और अल्पज्ञ अध्यापकों द्वारा संचालित है।

२. शिक्षण-साधन अत्यन्त अपर्याप्त हैं। विज्ञान, भूगोल, हस्तकौशल आदि आधुनिक विषयोंके शिक्षणके लिये व्यापक दारिद्र्य है।

३. सार्वजनिक परीक्षाओं (पब्लिक ऐग्ज़ामिनेशन्स) के लिये एकाग्र होनेके कारण शिक्षा अत्यन्त संकुचित हो गई है।

४. निरीक्षण करने, निर्देश करने और सहायता देनेके उचित प्रबन्धका अभाव है।

५. अधिकांश भाग जो विद्यालयोंमें पढ़ाना चाहिए वह विश्वविद्यालयके महाविद्यालयोंमें पढ़ाया जाता है, जैसे इन्टरमीजिएटमें पढ़ाया जानेवाला पाठ्य-क्रम वास्तवमें स्कूलका ही काम है, जो कालेज-प्रणालीसे पढ़ाया जा रहा है और इसीलिये वह असफल भी हो रहा है। इस श्रेणीके लिये जो साहित्य-निर्माण हो रहा है वह भी अत्यन्त अनुपयुक्त है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि माध्यमिक शिक्षाकी प्रणाली इतनी अपूर्ण, सदोष और निम्न मानकी है कि जो लोग वास्तवमें शिक्षित होना चाहते हैं उन्हें विवश होकर विश्वविद्यालयोंकी शरण लेनी पड़ती है। यह मार्ग उन निरीह व्यक्तियोंको भी ग्रहण करना पड़ता है जिनकी प्रवृत्ति और रुचि विश्वविद्यालयमें पढ़ाए जानेवाले किसी भी विषयसे मेल नहीं खाती।" मण्डलके सदस्योंके शब्दोंमें ही—"विद्यालयोंमें ऐसे आध्यात्मिक जीवनका अभाव है जो बालकोंकी अन्तःप्रकृतिको स्पर्श कर सके, ऐसी सहयोग-भावनाका अभाव है जो छात्रोंकी स्नेहपूर्ण सद्य-

निष्ठाको प्रभावित कर सके और वनाए रख सके, ऐसी नैतिक और बौद्धिक शक्ति-शिखाका अभाव है जिससे वे अपने भावोंको प्रज्वलित रख सकें।"

मण्डलके प्रस्ताव

इन परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए "कलकत्ता विश्वविद्यालय-मण्डल" ने यह सुझाव दिया कि केवल विश्वविद्यालयके सुधारके ही लिये नहीं वरन् वास्तविक राष्ट्रीय विकासके लिये भी माध्यमिक शिक्षामें आमूल सुधार आवश्यक है।

अत: इस मण्डलका सर्वप्रथम प्रस्ताव यही था कि "इन्टरमीजिएट शाखाको विश्वविद्यालयोंसे हटा दिया जाय और विश्वविद्यालयोंमें प्रवेश पानेकी अवस्था मैट्रिक परीक्षाके पश्चात् होनेके बदले वर्तमान इन्टरमीजिएटकी परीक्षाके पश्चात् हो।" इस प्रस्तावका ध्यान रखते हुए कमीशनने निम्नलिखित सुझाव उपस्थित किए—

१. ऐसे इन्टरमीजिएट कालेज खोले जायँ जिनमेंसे कुछको तो चुने हुए हाइ स्कूलोंके साथ सम्बद्ध कर दिया जाय और शेषको अलग संस्थाके रूपमें चलाया जाय। बी० ए० की पाठावधि दो वरसके बदले तीन वरस कर दी जाय।

२. इन्टरमीजिएट विद्यालयोंके पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाए जायँ कि वे बी० ए० कक्षाओंके शास्त्र (आर्टस्), विज्ञान, आयुर्वेद (डाक्टरी), यन्त्रशिल्प (एन्जीनियरिंग), वाणिज्य तथा व्यवसायके पाठ्यक्रमोंको पूर्ण कर सकें अर्थात् इन्टरमीजिएटकी अवस्थामें ही बालकोंको विभिन्न विषयोंका इतना ज्ञान करा दिया जाय कि वे यदि विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक या समर्थ न हों तब भी वे जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रविष्ट होकर कुशलताके साथ कार्य-सञ्चालन कर सकें।

३. इस व्यवस्थाके लिये वर्तमान शिक्षा विभागका भी पुन: संस्कार किया जाय जिससे विद्यालय-प्रणाली भली प्रकार व्यवस्थित

हो। इस उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये एक 'माध्यमिक तथा अन्तराल शिक्षा मण्डल' (बोर्ड औफ़ सेकेण्डरी ऐण्ड इन्टरमीजिएट एजुकेशन) बने, जिसमें केवल सरकारी अधिकारी, शिक्षासे संवद्ध लोग तथा विभिन्न धर्मोंके प्रतिनिधि ही न रहें वरन् वाणिज्य, कृषि और आयुर्वेदादि व्यवसायोंको भी उचित प्रतिनिधित्व मिले। इस प्रकार संघटित मण्डलका कार्य यह हो कि वह हाइ स्कूल और इन्टरमीजिएट कालेजोंके लिये पाठ्यक्रम निश्चित करे, माध्यमिक और इन्टरमीजिएट शिक्षाकी आवश्यकताओंकी ओर सरकारका ध्यान दिलावे और वार्षिक द्रव्यसीमा (बजट) के भीतर ही विभिन्न विद्यालयोंको आर्थिक सहायता बँटवानेकी व्यवस्था करे।

४. एक केन्द्रीय शिक्षण-विश्वविद्यालय (सेन्ट्रलाइज्ड टीचिंग यूनिवर्सिटी) स्थापित की जाय।

उस समयतक जितने भी विश्वविद्यालय थे, वे सम्बन्धकारी थे और इसीलिये उस प्रणालीमें बहुत-सा कार्य दरिद्र प्रकारसे तथा निरर्थक रूपसे अनेक विद्यालयोंमें दुहराया तिहराया जाता था। जिन विद्यालयोंको विश्वविद्यालय संबद्ध कर लेता था उनके अतिरिक्त शेष सब निरर्थक ही बने रहते थे। इसलिये मण्डलने यह प्रस्ताव किया कि "यह केन्द्रीय विश्वविद्यालय सब विषयोंके अध्यापनका कार्य करे अर्थात् 'एकत्र शिक्षण विश्वविद्यालय'(यूनिटरी टीचिंग यूनिवर्सिटी) हो जहाँ विश्वविद्यालयके आचार्यों-द्वारा विश्वविद्यालयकी ओरसे सब विषयोंकी नियमित शिक्षा दी जाय। इसीके साथ साथ ये विश्वविद्यालय सावास (रेज़िडेन्शल) हों और ये आवास कुछ तो ऐसे बड़े खण्डोंमें हों जिन्हें भवन (हॉल) कहा जाय कुछ छोटे खण्डोंमें हों जिन्हें छात्रावास (हॉस्टल) कहा जाय। सम्पूर्ण शिक्षण-कार्य, विभागोंके रूपमें व्यवस्थित किया जाय और प्रत्येक विभाग ऐसे उत्तरदायी अध्यक्षके अधीन हो जो विश्वविद्यालयके सब क्षेत्रोंमें उस विषयके शिक्षणकी पूरी व्यवस्था कर सके।

५. जहाँतक शासन-व्यवस्थाकी बात है, इस संबंधमें प्राचीन प्रणाली तोड़कर एक पूर्णकालिक कुलपति नियुक्त किया जाय और वर्त्तमान कार्यकारिणी तथा शिक्षण-व्यवस्था-समितियोंको तोड़कर नई समितियाँ स्थापित की जायँ, अर्थात् उस वर्त्तमान सीनेट तोड़ दिया जाय जिसमें केवल शिक्षण सबंधी प्रश्नोंका ही नहीं, वरन् विश्वविद्यालयके नीति-संबंधी प्रश्नोंका भी समाधान किया जाता है। इसके बदले दो परिषदें बना दी जायँ—१. अत्यन्त विस्तृत प्रतिनिधित्वसे युक्त महासभा (कोर्ट), जो नीति निर्धारित करे, और २. शिक्षण-व्यवस्थापिका परिषद् (एकेडेमिक कौन्सिल) जिसे अर्थ-सम्बन्धी और शासन-सबधी सब कर्तव्य और अधिकार सौंप दिए जायें।

परिणाम

इस विवरणके प्रकाशित होनेके पश्चात् भी अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए जिनमेंसे कुछ तो पुरानी लकीर पीटते हुए सम्बन्धकारी ही बने रहे और कुछ ऐसे हुए जो शिक्षणकारी अथवा अर्धशिक्षणकारी रूपमें चलाए गए। भारतवर्षमें इस समय निम्नलिखित विश्वविद्यालय केवल सम्बन्धकारी हैं—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पंजाब, पटना, नागपुर, आगरा, कटक (उत्कल), अहमदाबाद, पूना, गोहाटी, कश्मीर, बड़ौदा, तिरुवांकूर (ट्रावङ्कोर) आन्ध्र और राजपूताना (जयपुर)। इनमेंसे पटना और नागपुरमें शिक्षण भी होता है।

निम्नलिखित विश्वविद्यालय शिक्षादातृ-श्रेणीके हैं जहाँ माध्यम बोलीसे शिक्षाका विधान किया जाता है—काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय, प्रयाग, लखनऊ, रुड़की (एंजिनियरिंग), दिल्ली (संबंधकारी भी), सागर, शान्ति-निकेतन, हैदराबाद, अन्नामलाइ और मैसूर।

भारतकी पाकिस्तानी सीमामें दो विश्वविद्यालय हैं—कराँची और ढाका।

इन नये विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके फलस्वरूप पारस्परिक सम्पर्कके उद्देश्यसे सन् १९२४ में एक अन्तर्विश्वविद्यालय मंडल (इंटर-युनिवर्सिटी बोर्ड) बना दिया गया।

विश्लेषण

यद्यपि इस सैडलर समीक्षण-मण्डलने अत्यन्त विस्तारके साथ विश्वविद्यालयकी तत्कालीन शिक्षाका भली प्रकार समीक्षण किया और अत्यन्त उपादेय सम्मति भी प्रदान की किन्तु उसने शिक्षाक्रमके सम्बन्धमें, प्राध्यापकोंके मान, सम्मान और वेतनमानके सम्बन्धमें तथा विद्यार्थियोंकी नैतिक, बौद्धिक और विशेष करके शारीरिक उन्नतिके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी ऐसी चर्चा नहीं की जो व्यावहारिक रूपसे भारतीय विद्यालयोंके लिये उपादेय सिद्ध होती। समीक्षण-मण्डलने विश्वविद्यालयोंके शासन-सूत्रके पुनः संघटनके लिये जो प्रस्ताव किए उससे स्थिति सुलझनेके बदले उलझी अधिक, क्योंकि महासभा (कोर्ट) में प्रतिनिधित्व पाकर बहुतसे तो ऐसे अन्यथा-सिद्ध लोग पहुँच गए जिनका शिक्षासे कोई सम्बन्ध नहीं रहा और सबसे बड़ा दोष तो यह आ गया कि जो प्राध्यापक अभीतक शिक्षण-कार्यमें दत्तचित्त थे वे अब विश्वविद्यालयोंकी शासन-समितियोंमें पद पानेके लिये दौड़ धूप करने लगे। इस मण्डलने छात्रों और प्राध्यापकोंके पारस्परिक सम्बन्ध, उच्चतम बौद्धिक ज्ञान तथा मानसिक संस्कारके लिये ऐसे कोई उपाय नहीं सुझाए जिनके सहारे विश्वविद्यालयके स्नातक, ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंके अद्वितीय पण्डित होकर समाज और राष्ट्रके अभ्युत्थानमें योग देते। यह सब होते हुए भी इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि मण्डल द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह विवरण भारतीय शिक्षाकी तत्कालीन दशाका सबसे अधिक प्रामाणिक विवरण है।

---

५. जहाँतक शासन व्यवस्थाकी बात है, इस सम्बन्धमें प्राचीन प्रणाली तोड़कर एक पूर्णकालिक कुलपति नियुक्त किया जाय और वर्त्तमान कार्यकारिणी तथा शिक्षण-व्यवस्था-समितियोंको तोड़कर नई समितियाँ स्थापित की जायँ, अर्थात् उस वर्त्तमान सीनेट तोड़ दिया जाय जिसमें केवल शिक्षण संबंधी प्रश्नोंका ही नहीं, वरन् विश्वविद्यालयके नीति-सबधी प्रश्नोंका भी समाधान किया जाता है। इसके बदले दो परिषदें बना दी जायँ—१. अत्यन्त विस्तृत प्रतिनिधित्वसे युक्त महासभा (कोर्ट), जो नीति निर्धारित करे, और २. शिक्षण-व्यवस्थापिका परिषद् (एकेडेमिक कौंसिल) जिसे अर्थ-सम्बन्धी और शासन-सबधी सब कर्तव्य और अधिकार सौंप दिए जायँ।

परिणाम

इस विवरणके प्रकाशित होनेके पश्चात् भी अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए जिनमेंसे कुछ तो पुरानी लकीर पीटते हुए सम्बन्धकारी ही बने रहे और कुछ ऐसे हुए जो शिक्षणकारी अथवा अर्धशिक्षणकारी रूपमें चलाए गए। भारतवर्षमें इस समय निम्नलिखित विश्वविद्यालय केवल सम्बन्धकारी हैं—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पंजाब, पटना, नागपुर, आगरा, कटक (उत्कल), अहमदाबाद, पूना, गोहाटी, कश्मीर, बड़ोदा, तिरुवांकूर (ट्रावङ्कोर) आन्ध्र और राजपूताना (जयपुर)। इनमेंसे पटना और नागपुरमें शिक्षण भी होता है।

निम्नलिखित विश्वविद्यालय शिक्षादातृ-श्रेणीके हैं जहाँ सामान्य शैलीसे शिक्षाका विधान किया जाता है—काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय, प्रयाग, लखनऊ, रुड़की (ऐंजिनियरिंग), दिल्ली (सबधकारी भी), सागर, शान्ति-निकेतन, हैदराबाद, अन्नामलाइ और मैसूर।

भारतकी पाकिस्तानी सीमामें दो विश्वविद्यालय हैं—कराँची और ढाका।

इन नये विश्वविद्यालयोंकी स्थापनाके फलस्वरूप पारस्परिक सम्पर्कके उद्देश्यसे सन् १९२४ में एक अन्तर्विश्वविद्यालय मंडल (इंटर-युनिवर्सिटी बोर्ड) बना दिया गया।

विश्लेषण

यद्यपि इस सैडलर समीक्षण-मण्डलने अत्यन्त विस्तारके साथ विश्वविद्यालयकी तत्कालीन शिक्षाका भली प्रकार समीक्षण किया और अत्यन्त उपादेय सम्मति भी प्रदान की किन्तु उसने शिक्षाक्रमके सम्बन्धमें, प्राध्यापकोंके मान, सम्मान और वेतनमानके सम्बन्धमें तथा विद्यार्थियोंकी नैतिक, बौद्धिक और विशेष करके शारीरिक उन्नतिके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी ऐसी चर्चा नहीं की जो व्यावहारिक रूपसे भारतीय विद्यालयोंके लिये उपादेय सिद्ध होती। समीक्षण-मण्डलने विश्वविद्यालयोंके शासन-सूत्रके पुन: संघटनके लिये जो प्रस्ताव किए उससे स्थिति सुलझनेके बदले उलझी अधिक, क्योंकि महासभा (कोर्ट) में प्रतिनिधित्व पाकर बहुतसे तो ऐसे अन्यथा-सिद्ध लोग पहुँच गए जिनका शिक्षासे कोई सम्बन्ध नहीं रहा और सबसे बड़ा दोष तो यह आ गया कि जो प्राध्यापक अभीतक शिक्षण-कार्यमें दत्तचित्त थे वे अब विश्वविद्यालयोंकी शासन-समितियोंमें पद पानेके लिये दौड़ धूप करने लगे। इस मण्डलने छात्रों और प्राध्यापकोंके पारस्परिक सम्बन्ध, उच्चतम बौद्धिक ज्ञान तथा मानसिक संस्कारके लिये ऐसे कोई उपाय नहीं सुझाए जिनके सहारे विश्वविद्यालयके स्नातक, ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंके अद्वितीय पण्डित होकर समाज और राष्ट्रके अभ्युत्थानमें योग देते। यह सब होते हुए भी इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि मण्डल द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह विवरण भारतीय शिक्षाकी तत्कालीन दशाका सबसे अधिक प्रामाणिक विवरण है।

२३

हारटोग शिक्षा-समिति

सन् १९२८ में साइमन-मण्डल (साइमन कमीशन) के नामसे जा भारतीय वैधानिक मण्डल (इण्डियन स्टेचुटरी कमीशन) नियुक्त किया गया उसे ही यह अधिकार भी दिया गया कि वह भारतके राष्ट्र सचिव (सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फ़ॉर इण्डिया) से परामर्श करके एक या अनेक व्यक्तियोंको विचार-विमर्शके लिये सहायक नियुक्त कर ले, जो अपने-अपने सुझाव मण्डलको दें। फलत. साइमन मण्डलने मई सन् १९२८ में भारतीय शिक्षाके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत करनेके लिये एक शिक्षासमिति नियुक्त की। इस समितिके अध्यक्ष थे सर फ़िलिप हारटोग और अन्य सदस्य थे पटनाके सर सैयद अहमद, पंजाबके राजा नरेन्द्रनाथ और मद्रासकी श्रीमती मुट्ठू लक्ष्मी रेड्डी। इस समितिको शिक्षाके सम्पूर्ण क्षेत्र तथा उसकी विभिन्न शाखाओंके व्यापक परीक्षणका काम ही नहीं, वरन् उसे यह भी काम सौंपा गया कि वह राजनीतिक और वैधानिक परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर ऐसे व्यापक विकासके साधन सुझावे जिससे ब्रिटिश भारतमें शिक्षा और उसकी व्यवस्थाका उचित सघटन किया जा सके।

उद्देश्य

इस समितिने स्पष्ट रूपसे यह निर्देश किया कि शिक्षाका कार्य यह है कि वह जनताको ऐसी नागरिकताकी शिक्षा दे, जिससे जनता विवेकके साथ अपना प्रतिनिधि चुन सके, मत-दानकी प्रणाली समझ सके और कुछ गिने चुने लोगोंको नेतृत्व करनेकी शिक्षा दे सके। अत इस समितिने सामूहिक शिक्षा और विश्वविद्यालय शिक्षाकी सम्भावनाओंका विशेष

रूपसे परीक्षण किया। इस कार्यके लिये यह समिति देश भरमें लोगोंका मत संग्रह करती हुई घूमती रही। इस समितिकी ओरसे एक प्रश्नावली प्रचारित की गई जिसमें शिक्षा सम्बन्धी सभी अंगों और समस्याओंके समाधानकी जिज्ञासा की गई थी। इस समितिने एक सौ साठ शिक्षा-विशेषज्ञोंके वक्तव्य लिए, जिनमेंसे चौहत्तर सरकारी कर्मचारी थे। समितिने लगभग डेढ़ वर्षतक शिक्षाकी समस्याओंपर विचार करके सितम्बर सन् १९२९ में अपना विवरण प्रकाशित किया।

समितिका निष्कर्ष

विशद रूपसे विचार-विमर्श करनेके उपरान्त समितिने यह निष्कर्ष निकाला कि—

१. वर्त्तमान शिक्षाके विकाससे भारतवर्षके राजनीतिक भविष्यके सम्बन्धमें अनेक विचित्र बातें प्रतीत होती हैं। प्रारम्भिक विद्यालयोंमें विद्यार्थियोंकी बढ़ती हुई संख्या यह घोषित करती है कि प्रारम्भिक शिक्षाके प्रति लोगोंकी जो दुर्भावनाएँ थी वे अब दूर होती चली जा रही हैं यहाँतक कि अब तो लोग स्त्री-शिक्षा और सामाजिक सुधारके लिये भी अत्यन्त उत्सुक प्रतीत हो रहे हैं। जिस मुस्लिम-वर्गने प्रारम्भमें अँगरेज़ी शिक्षाके प्रति अनादर और उदासीनता व्यक्त की थी उनमें तथा देशकी अन्य पिछड़ी जातियोंमें शिक्षाके प्रति तीव्र अभिरुचि बढ़ रही है। सामाजिक तथा राजनीतिक नेताओंके मनमें भी यह भावना उद्दीप्त हो रही है कि राजनीतिके साथ-साथ शिक्षाकी जटिल समस्याओंका समाधान भी निकालते चलें। विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-मन्त्रियोंने अपने-अपने प्रान्तकी व्यवस्थापिका-सभासे शिक्षाके लिये जब जब धनकी माँग की है तब तब धारा-सभाओंने अत्यन्त प्रसन्नता-पूर्वक वे माँगें स्वीकार की हैं।

२. यह सब होते हुए भी सम्पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणालीमें नीरसता और अपचय या अपनयन (वेस्टेज अर्थात् पाठ्यक्रम पूरा होनेसे पूर्व किसी भी समय बच्चोंको स्कूलसे हटा लेना) व्याप्त है। विद्यार्थियोंमें इतनी साक्षरता और समर्थता अवश्य आ जानी चाहिए कि

वे विवेकसे साथ अपना प्रतिनिधि चुननेके लिये मतदान कर सकें। किन्तु इसके अभावमें देशम बड़ी विभीषिका उत्पन्न हो रही है। जिस ढंग प्रारम्भिक पाठशालाएँ बढ़ रही है, उस अनुपातमें साक्षरताका विकास नहीं हो रहा है क्योंकि प्रारम्भिक पाठशालाओंमें पढ़नेवाले बहुत बालक ऐसे हैं जो साक्षरताकी एक साधारण अवधि मानी जानेवाली चौथी श्रेणीतक पहुँच पाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि ग्राम-जीवनकी वर्तमान व्यस्त परिस्थितिमें और उचित ग्राम साहित्य अभावमें बालकको पाठशाला छोड़नेके अनन्तर साक्षरता ग्रह करनेका कोई साधन नहीं मिल पाता, यहाँतक कि पढ़े हुए बालकों के लिये भी यह भय बना रहता है कि कहीं वे भी धीरे धीरे निरक्षर न बन जायँ।

३ यह अपचय या शक्ति क्षय कन्याओंके सम्बन्धम तो और भी अधिक बीहड़ है। बालकों और बालिकाओंकी शिक्षाके अनुपातमें जो विषमता है वह घटनेके बदले बढ़ती जा रही है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस वेग और सख्यामें बालक शिक्षा प्राप्त करते जा रहे हैं उस वेग और सख्याम बालिकाएँ अग्रसर नहीं हो रही हैं।

४ माध्यमिक शिक्षाके क्षेत्रम कुछ दिशाओंमें विशेष प्रगति हुई है विशेषत अध्यापकोंकी दशाओंमतो बहुत ही सुधार हुआ है। विद्यालयोंम अधिकाधिक शिक्षा शास्त्र-सपन्न अध्यापक नियुक्त किए जा रहे हैं और विद्यालय जीवनकी सामान्य प्रवृत्तियोंम भी विशेष विस्तार हो रहा है। किन्तु यह सब होनेपर भी माध्यमिक शिक्षा अत्यन्त अव्यवस्थित रूपसे चलाइ जा रही है। सपूर्ण माध्यमिक शिक्षा आज भी इस आदर्शपर चलाइ जा रही है कि माध्यमिक शिक्षामें प्रविष्ट होनेवाला प्रत्येक छात्र विश्वविद्यालयके लिये तैयार किया जाय और मैट्रिकुलेशन परीक्षा तथा अन्य सार्वजनिक परीक्षाओंमें जो भयानक सख्यामें छात्र अनुत्तीर्ण हो रहे हैं वे इस बातके प्रमाण हैं कि शिक्षाकी अधिकाश शक्तिका अपव्यय ही हो रहा है। उसका स्पष्ट कारण यह है कि व्यावसायिक तथा विशेष वृत्तियोंकी

शिक्षाका हमारी शिक्षापद्धतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसीलिये उसका कोई सफल परिणाम नहीं निकल रहा है। बहुतसे विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंने अपनी मौलिकताओं और शिक्षा-पद्धतियोंमें विशेष चमत्कार और विकास प्रदर्शित किया है। उनमेंसे अधिकांशमें निश्चित रूपसे पहलेकी अपेक्षा अधिक सहयोगपूर्ण जीवनकी शिक्षा दी जा रही है। किन्तु दुःखकी बात यह है कि आज भी हमारे विश्वविद्यालय इसी उद्देश्यसे स्थापित हैं कि वे विद्यार्थियोंको परीक्षाओंमें पार करते रहें। चाहिए तो यह कि हमारे विश्वविद्यालय ऐसे शिक्षण-केन्द्र बनें, जहाँसे उदारचेता, सहनशील, विवेकशील, स्वावलम्बी, आत्माभिमानी तथा मनस्वी नागरिक उत्पन्न हों। विश्वविद्यालयोंका काम विद्यार्थियोंकी भीड़से बहुत अव्यवस्थित हो चला है। इनमेंसे अधिकांश छात्र ऐसे हैं जो विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाके लिये तो अत्यन्त अयोग्य हैं किन्तु यदि वे जीवनके दूसरे क्षेत्रोंमें पहुँच जायँ तो अधिक सफल हो सकते हैं।

५. शिक्षाका विकास और विस्तार केवल धनपर ही अवलम्बित नहीं होता। यद्यपि धनकी आवश्यकता सदा रहती ही है फिर भी शिक्षाकी नीति ऐसी सुसंचालित होनी चाहिए कि सुव्यवस्था करके सब प्रकारका (शक्ति, समय धन और श्रमका) अपव्यय रोका जा सके।

सरकारका उत्तरदायित्व

६. हम लोगोंसे यह कहा गया था कि हम शिक्षाकी व्यवस्थापर अपना विवरण दें। हमने यह परिणाम निकाला है कि शिक्षाकी व्यवस्थापर पुनः विचार होना चाहिए और उसमें नई शक्ति लानी चाहिए। भारतीय सरकारको व्यापक प्रारम्भिक शिक्षाके उत्तरदायित्वसे अपनेको मुक्त नहीं समझना चाहिए। वास्तवमें यह केन्द्रका ही कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण भारतवर्षकी शिक्षा-सम्बन्धी सूचनाओंकी केन्द्र-भूमि बने और विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवोंके सम्यक् संयोगकी स्थली बने।

प्रान्तीय सरकारोंका कर्त्तव्य है कि वे स्थानीय संस्थाओं

(नगरपालिकाओं और जनपद-मण्डलों) पर प्रान्तीय मन्त्रियों द्वारा अधिक नियन्त्रण रक्खें । निरीक्षण-अधिकारियोंकी संख्या बढ़ाई जाय और बालकोंकी शिक्षाकी अपेक्षा कन्याओंकी शिक्षापर अधिक ध्यान दिया जाय ।

विश्लेषण

साइमन-मण्डल जब नियुक्त हुआ तभी उसका घोर विरोध किया गया क्योंकि उसमें भारतका कोई प्रतिनिधि नहीं था। फलतः स्थान-स्थानपर इस मण्डलको काले झण्डे दिखाए गए और लाहौरमें तो पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय जैसे महापुरुषको इस मण्डलके विरोधका नेतृत्व करनेके फलस्वरूप एक अँगरेज पुलिस अधिकारीके हाथ दण्डाघात खाना पड़ा जिसकी चोटसे उनका अवसान भी हो गया। परिणाम यह हुआ कि जो दशा साइमन-मण्डल की हुई वही उसकी शिक्षा-समितिकी भी हुई। अपनी स्वतन्त्रताके लिये व्यग्र भारतको यह कुसमयकी रागिनी अच्छी नहीं लगी और यह सम्पूर्ण योजना वहीं समाधिस्थ कर दी गई। इसमें सन्देह नहीं कि इस समितिने माध्यमिक शिक्षाके सम्बन्धमें यह अत्यन्त उचित सुझाव दिया कि वह स्वतःपूर्ण होनी चाहिए और केवल विश्वविद्यालयोंमें प्रवेश पानेके इच्छुक छात्रोंको तैयार करनेकी दूकान नहीं बननी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी उसका यह प्रस्ताव अत्यन्त उचित है कि उसका सम्पूर्ण भार और उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकारको ले लेना चाहिए क्योंकि जिस गतिसे स्थानीय संस्थाएँ—नगरपालिका और जनपद-मंडल—प्रारम्भिक शिक्षा चला रही हैं वह अत्यन्त हास्यास्पद और लज्जाजनक है। इसकी आलोचना हम पीछे कर भी आए हैं। विश्वविद्यालयोंके स्वरूपके सम्बन्धमें भी जो इस समितिने विचार व्यक्त किए हैं वे अत्यन्त विचारणीय हैं। विश्वविद्यालयोंके अधिकारियोंको तदनुरूप विश्वविद्यालयोंकी स्वरूप-योजना स्थिर करनी चाहिए।

इस समितिने बहुतसे निरीक्षक बढ़ानेकी और स्थानीय संस्थाओं

तथा प्रान्तीय मन्त्रियों-द्वारा शिक्षा-संचालनकी जो बात सुझाई है, वह बहुत मान्य नहीं हो सकती क्योंकि शिक्षा जैसे कार्यके लिये राजनीतिक व्यक्तियोंका स्पर्श सदा घातक सिद्ध होता रहा है। अतः शिक्षा-नीतिका भार देशके प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियोंके हाथमें सौंपकर सरकारको केवल उनके पोषणका प्रबन्ध भर करना चाहिए। इस समितिने कन्या-शिक्षाका महत्त्व तो स्वीकार किया किन्तु उसके स्वरूपका ठीक-ठीक निर्धारण नहीं किया। यदि व्यापक रूपसे देखा जाय तो इस समितिने भी लगभग वैसी ही बातें कहीं जैसी दस वर्ष पहले कलकत्ता विश्वविद्यालयके शिक्षा-समीक्षण-मण्डल (कैलकटा यूनिवर्सिटी कमीशन) ने सुझाई थीं।

युक्त-प्रान्तीय सरकारका निश्चय

सन् १९३० और ३१ में भारतीय स्वतन्त्रताका आन्दोलन इतने उग्र रूपसे चला कि सरकार उसीके दमनमें व्यस्त रही। उसके पश्चात् जब लन्दनमें गोलमेज़ सम्मेलन हुआ और वहाँका समझौता भंग हो जानेके पश्चात् भारतके सब प्रमुख नेता कारागारमें डाल दिए गए तब सरकारको कुछ शान्ति मिली। तब युक्तप्रान्तकी सरकारने साइमन शिक्षा-समितिके सुझावोंके आधारपर ८ अगस्त सन् १९३४ को अपने *शिक्षा-विभागके द्वारा अपनी शिक्षा-नीतिमें निम्नलिखित परिवर्तनोंका* निश्चय घोषित किया—

१. हाइ स्कूलकी पाठनावधि एक वर्ष कम कर दी जाय।

२. सब विषयोंके शिक्षणका माध्यम मातृ-भाषा कर दी जाय।

३. इण्टरमीजिएटकी पाठनावधि एक वर्ष बढ़ा दी जाय जिससे वह स्वयं अपनेमें पूर्ण हो जाय।

४. इस पाठनावधिका नाम उच्चतर प्रमाणावधि (हायर सर्टीफ़िकेट कोर्स) रक्खा जाय और यह चार रूपोंमें चलाई जाय—

क. वाणिज्य-सम्बन्धी (कौमर्शल)

ख. व्यवसाय-सम्बन्धी (इण्डस्ट्रियल)।

ग. *कृषि-सम्बन्धी (ऐग्रिकल्चरल)।*

५. शास्त्र तथा विज्ञान (आर्ट्स एण्ड साइन्स) पढ़ानेवाली।

वास्तवमें यह देखनेको तो चार रूपोंमें है किन्तु है यह द्विमुखी ही। इनमेंसे एक तो वह है जो वाणिज्य, व्यवसाय, और कृषिके पाठ्यक्रमने पूर्णता प्राप्त करनेका प्रमाण दे और दूसरी वह है जिसके द्वारा शास्त्र और विज्ञानका अध्ययन करके विश्वविद्यालयमें प्रविष्ट होकर शिक्षा चलाते रहनेकी योग्यताका प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाय।

५. माध्यमिक विद्यालयोंकी निम्नतर कक्षाओंमें हस्त कौशल तथा कारीगरीके विषय भी प्रारम्भ कर दिए जायँ जिससे कि छात्रोंकी क्रियावृत्तिका परीक्षण हो सके और उनमें स्वतन्त्र व्यावसायिक कार्य करनेकी वृत्ति प्रारम्भसे ही उद्बुद्ध होती चले।

सप्रू बेकारी-समिति

उपर्युक्त प्रस्तावके परिणामस्वरूप युक्त-प्रान्तके समन्त्रिमण्डल गवर्नरने ५ अक्तूबर सन् १९३४ को शिक्षित युवकोंमें फैली हुई बेकारीकी जाँच करने तथा उसे दूर करनेके व्यावहारिक सुझाव देनेके लिये महामाननीय सर तेजबहादुर सप्रूकी अध्यक्षतामें एक समिति नियुक्त की जिसमें निम्नलिखित सदस्य थे—छतारीके नवाब, राजा ज्वालाप्रसाद, डी० गविन जोन्स, राधास्वामी सम्प्रदायके साहबजी महाराज, डा० सिद्दीकी, डा० ताराचन्द और डा० हिगिनबॉटम। इस समितिने भी शिक्षा-प्रणाली और बेकारीके पारस्परिक सम्बन्धकी परीक्षा करके यही निष्कर्ष निकाला कि—

१. माध्यमिक शिक्षाका लक्ष्य स्पष्ट नहीं है इसलिये अधिकांश विद्यार्थी भावी वृत्ति निर्धारित किए बिना ही स्कूलमें पढ़ने लगते हैं।

२. विभिन्न नौकरियोंमें परीक्षाका प्रमाणपत्र ही प्रामाणिक माना जाता है इसलिये परीक्षामें उत्तीर्ण होना ही सबका लक्ष्य होता है।

३. अभिभावक भी नौकरीके लिये ही अपने पुत्रोंको पढ़ाते हैं।

४. माध्यमिक शिक्षामें ऐसा कोई पाठ्यक्रम नहीं है जिसके आधारपर बालक अपना भावी जीवन-क्रम स्थिर कर सकें।

५. बालकोंमें प्रत्येक छोटे-से छोटे व्यवसायका सम्मान करनेकी वृत्तिका अभाव है।

परिणाम

इस समितिने सुझाव दिया कि विद्यालयोंमें शिक्षा अधिक व्यावहारिक हो, छात्रोंकी भावी वृत्ति पहलेसे ही निश्चित हो जाय और पाठ्यक्रममें ऐसे विषय रक्खे जायँ जिनका भावी जीवनमें उपयोग किया जा सके।

विश्लेषण

इस समितिने भी लगभग वैसी ही बातें कहीं जैसी साइमन शिक्षा-समिति कह चुकी थी और उसका परिणाम भी यह हुआ कि ये सब सुझाव रद्दीकी टोकरीमें पड़े रहे। इसके अनन्तर सन् १९३७ में जब सात प्रान्तोंमें भारतीय मन्त्रिमण्डल बन तब गाँधीजीके नेतृत्वमें नये सिरेसे शिक्षाकी समस्यापर विस्तारसे विचार किया गया।

२४

व्यावसायिक शिक्षाका श्रीगणेश

सन् १९३६-३७ में भारत सरकारने इंगलैण्डके दो प्रधान शिक्षा-शास्त्री ए. ऐबट और एस्. एच्. वुडको निमन्त्रण देकर भारतमें बुलवाया और उन्हें यह कार्य सौंपा कि वे भारतकी आर्थिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियोंकी जाँच करके यह सुझाव दें कि भारतमें व्यावसायिक शिक्षाकी क्या सम्भावनाएँ हैं और ये सम्भावनाएँ किस प्रकार पूर्ण हो सकती हैं। इन लोगोंने भारतकी शिक्षा व्यवस्थाका भली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करके सन् १९३७ के मई मासमें अपने सुझाव दिए।

वुडका मत

व्यावसायिक शिक्षाकी सम्भावनाओंको पूर्ण करनेके साधन बताते हुए वुडने साधारण शिक्षाके सम्बन्धमें भी सुझाव देते हुए कहा कि—

१. शिशु-कक्षाएँ केवल महिलाओंके ही हाथमें रक्खी जायँ।

२ बालकोंकी शिक्षा, उनके स्वाभाविक कुतूहलके विषयों और उनकी साधारण प्रवृत्तियोंके आधारपर हो, पुस्तकोंके आधारपर नहीं।

३. पाठ्यक्रम पूर्णत. बालकोंके चारों ओरके वातावरणसे सम्बद्ध हो।

४. देशी भाषाओंके माध्यमसे ही सब विषयोंकी शिक्षा हो किन्तु अँगरेजी अनिवार्य रहे।

५. अँगरेज़ीकी शिक्षा घरेलू और व्यावहारिक अधिक हो, पण्डिताऊ कम।

६. कला-कौशल तथा कारीगरीकी शिक्षा भी दी जाय।

७. शारीरिक शिक्षा भी केवल सैन्य-गति (ड्रिल) तक ही परिमित न रहे, वह अधिक मनोरंजक और हितकर हो।

८. कुछ ऐसे विद्यालय खोले जायँ जिनमें थोड़ेसे पाठ्यक्रमके साथ भावी वृत्तिके लिये तैयारी करनेकी शिक्षा दी जा सके।

९. विद्यालयोंका प्रबन्ध कठोरतापूर्वक शासित हो।

१०. विद्यालयोंके निरीक्षणका कार्य अधिक व्यवस्थित कर दिया जाय।

ऐबटका मत

ऐबटने अपने अनुभवके आधारपर ये सुझाव उपस्थित किए—

१. प्रत्येक प्रान्तको चाहिए कि वह अपने प्रान्तकी आवश्यकता, सुविधा और स्थितिके अनुसार व्यावसायिक शिक्षाके प्रकारोंकी जाँच करे और उनका स्वरूप निश्चित करे।

२. दो प्रकारके विद्यालय खोले जायँ—एक साधारण, दूसरे व्यावसायिक। देशकी व्यावसायिक तथा वाणिज्य-संस्थाओंसे भी शिक्षा-संचालनमें पूर्ण सहयोग लिया जाय।

३. व्यावसायिक विद्यालयोंकी शिक्षाके अन्तिम दो वर्षोंमें व्यावसायिक आधार स्पष्ट करके तदनुसार शिक्षा दी जाय।

४. कुछ ऐसे विद्यालय खोले जायँ जिनमें लोग भावी वृत्तिके लिये अभ्यास कर सकें। (प्री-एप्रेंटिस स्कूल्स)

५. व्यापार विद्यालय खोले जायँ जिनमें व्यापार करनेके सब विधान और कौशल सिखाए जायँ।

६. चित्रकला आदि कलाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय।

७. व्यावसायिक विद्यालयोंमें ऐसी अल्पकालिक तथा अतिरिक्त कक्षाएँ प्रारम्भ की जायँ जहाँ अन्य स्थानोंमें काम करनेवाले कारीगर और कर्मकार भी आकर शिक्षा प्राप्त कर सकें।

८. सरकारको अपनी शिक्षा-पद्धतिमें थोड़ा-सा हेर-फेर करके यह क्रम रखना चाहिए—

क—एक व्यावसायिक शिक्षा-शास्त्र-विद्यालय (वोकेशनल ट्रेनिंग कॉलेज) खोला जाय जो अन्य शिक्षा-शास्त्र-विद्यालयों (ट्रेनिंग कॉलेजों)के साथ मेल खाता चले ।

ख—लघु व्यावसायिक विद्यालय (जूनियर टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

ग—उच्च व्यावसायिक विद्यालय (टेकनिकल स्कूल) खोले जायँ।

घ—कला-कौशलके लिये और घरेलू उद्योग-धन्धोंके लिये एक विद्यालय खोला जाय।

बहुशिल्प विद्यालय (पॉलिटेकनिक इन्स्टीट्यूट)

इन सुझावोंके अनुसार दिल्लीमें एक प्रथम श्रेणीका बहुशिल्प विद्यालय (पॉलिटेकनिक इंस्टीट्यूट) खोला गया जिसके दो विभाग हैं—एक निम्न विभाग और दूसरा उच्च विभाग । निम्न विभागका शिक्षा-क्रम तीन वर्षका है । इस विद्यालयकी विशेषता यह है कि इसमें पुस्तक-ज्ञानतक शिक्षा परिमित नहीं है और रटनेकी वृत्ति भी कड़ाईसे रोकी जाती है । इसीलिये यहाँ पाठ्य-पुस्तकोंका अत्यन्त अभाव है। प्रत्येक मासके अन्तिम शनिवारको सब छात्र कोई न कोई मनोहर स्थान देखने निकल जाते हैं जहाँ वे ऐतिहासिक भवनोंकी बनावट और कारीगरीका अध्ययन करते हैं और कभी जाकर ऐसी ही बातोंका ब्यौरा एकत्र करते हैं।

अन्य क्रियाएँ

यहाँके बच्चे समय-समयपर अखिल भारतीय आकाशवाणी (औल इण्डिया रेडियो) पर जाकर कुछ गाते-बजाते, कहते-सुनते हैं अन्यथा वे निम्नलिखित सुव्यसनोंमेंसे किसी न किसीमें समय लगाते हैं—फ़ोटोग्राफ़ी, ज्योतिष, मानचित्र, गत्तेका काम, एकत्रीकरण (टिकट, सिक्के, चित्र आदि), भोजन बनाना, स्काउटिंग आदि । इनके अतिरिक्त नाटक, वाद-विवाद, संगीत-गोष्ठी आदिका भी आयोजन होता रहता है। बच्चोंके लिये आकाशवाणीपर जो कार्यक्रम चलता है उसे सुननेके लिये

रेडियो लगा हुआ है और चित्र प्रदर्शक-यन्त्रके साथ व्याख्यान आदिका प्रबन्ध भी होता रहता है। उसके साथ-साथ शारीरिक व्यायाम और खेतीकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें प्रत्येक छात्रको विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार सुसज्जित प्रयोग-शालाएँ हैं। प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घण्टे यन्त्रशालामें काम करनेके लिये जाना ही पड़ता है।

उच्च विभाग

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी सन्ध्याको शिल्पकला सिखानेका प्रबन्ध किया गया है।

विश्लेषण

भारतकी वर्तमान आर्थिक स्थितिको देखते हुए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके विद्यालय भारतके प्रत्येक प्रदेशमें खोले जायँ क्योंकि व्यवसायोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके साथ-साथ शिक्षित शिल्पियोंकी बड़ी आवश्यकता पड़ रही है। यदि इस प्रकारके विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए जायँ तो स्थानीय व्यवसायियोंको भी नये व्यवसाय प्रारम्भ करनेकी प्रेरणा मिलती रहे और उन्हें यह भी विश्वास बना रहे कि यदि कोई यान्त्रिक व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया जाय तो यन्त्र मँगाने या ठीक करानेके लिये इन शिल्प-विद्यालयोंसे हमें निरन्तर समय-समयपर कुशल शिल्पी भी मिलते रहेंगे। इन विद्यालयोंसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि यहाँके शिक्षित शिल्पी स्वयं अपने व्यवसाय खड़े कर लेंगे, बेकारीकी संख्या घटने लगेगी, श्रम तथा श्रमसाध्य व्यवसायोंका मान बढ़ेगा और यहाँ भी व्यावसायिक निर्देशके लिये प्रयोगशालाएँ खोलना आवश्यक हो जायगा।

रेडियो लगा हुआ है और चित्र प्रदर्शक-यन्त्रके साथ व्याख्यान आदिका प्रबन्ध भी होता रहा है। उसके साथ-साथ शारीरिक व्यायाम और खेलोंकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें प्रत्येक छात्रको विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार सुसज्जित प्रयोग-शालाएँ हैं। प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घण्टे यन्त्रशालामें काम करनेके लिये जाना ही पड़ता है।

उच्च विभाग

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी सन्ध्याको शिल्पकला सिखानेका प्रबन्ध किया गया है।

विश्लेषण

भारतकी वर्त्तमान आर्थिक स्थितिको देखते हुए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके विद्यालय भारतके प्रत्येक प्रदेशमें खोले जायँ क्योंकि व्यवसायोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके साथ-साथ शिक्षित शिल्पियोंकी बड़ी आवश्यकता पड़ रही है। यदि इस प्रकारके विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए जायँ तो स्थानीय व्यवसायियोंको भी नये व्यवसाय प्रारम्भ करनेकी प्रेरणा मिलती रहे और उन्हें यह भी विश्वास बना रहे कि यदि कोई यान्त्रिक व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया जाय तो यन्त्र मँगाने या ठीक करानेके लिये इन शिल्प-विद्यालयोंसे हमें निरन्तर समय-समयपर कुशल शिल्पी भी मिलते रहेंगे। इन विद्यालयोंसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि यहाँके शिक्षित शिल्पी स्वयं अपने व्यवसाय खड़े कर लेंगे, बेकारोंकी संख्या घटने लगेगी, श्रम तथा श्रमसाध्य व्यवसायोंका मान बढ़ेगा और यहाँ भी व्यावसायिक निर्देशके लिये प्रयोगशालाएँ खोलना आवश्यक हो जायगा।

२५

वर्धा शिक्षा-योजना

२२ और २३ अक्तूबर सन् १९३७ ई० को वर्धाके मारवाड़ी हाइ स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) के वार्षिकोत्सवके अवसरपर महात्मा गाँधीके सभापतित्वमें भारतके शिक्षाशास्त्रियोंकी एक सभा निमन्त्रित की गई जिसमें गाँधीजीने अपनी शिक्षा-योजना उपस्थित की। इस सभामें इस विषयपर विचार किया गया कि भारतके कुछ गिने-चुने अतिशिक्षित लोगों और अधिकांश अशिक्षित जनताके बीच अँगरेजोंने अपनी शिक्षा-नीतिसे क्यों विभेद उत्पन्न किया ? इस प्रसंगमें कहा गया कि वर्तमान शिक्षा किसी प्रकारकी जीविका-वृत्तिके लिये मार्ग प्रदर्शित नहीं करती, इसमें किसी प्रकारकी भी उत्पादनशील कार्यकी क्षमता नहीं है। इस शिक्षापद्धतिसे शारीरिक ह्रासके साथ साथ नैतिक ह्रासको भी प्रोत्साहन मिलता है और सबसे बड़ी बात यह है कि जिन कर-दाताओंके धनसे यह पद्धति चलाई जा रही है उन्हें इसका तनिक भी प्रतिदान नहीं मिल रहा है। अतः ऐसी योजना बनानी चाहिए कि प्रारम्भिक शिक्षा मैट्रिकुलेशनके मानतक अनिवार्य कर दी जाय और उसका आधार कोई जीविका-वृत्ति (कला कौशल) हो। उच्चतर शिक्षाको लोगोंकी रुचि और शक्तिपर छोड़ दिया जाय।

योजनाकी रूपरेखा

इस योजनाकी विशेषता यह है कि इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा उस मूल हस्त-कौशलपर अवलम्बित तथा उसमें सम्बद्ध रहती है (अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित सबका सम्बन्ध उस मूल हस्त-कौशलसे स्थापित किया जाता है) जो बालकने स्वीकार किया हो। इन

मूल हस्तकौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगिरी इत्यादि अनेक हस्तकौशल आ सकते हैं। यह योजना पेस्टालौज़ी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तों तथा प्रयोग-प्रणालीका रूपान्तर मात्र है।

योजनाके उद्देश्य, सिद्धान्त और अंग

जब सन् १९३७ में भारतके सात प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई थी उस समय तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीको बदलनेकी व्यवस्था भी की गई और प्रत्येक प्रान्तमें भारतके इन चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे वर्धा-शिक्षा-योजना अपनाई गई—१. दरिद्रता, २. निरक्षरता, ३. परतंत्रता और ४. स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलम्बित करके बनाई गई—१. स्वयं-शिक्षा (ऑटो-एजुकेशन), २. करके सीखना (लर्निंग बाइ डुइंग), ३. आवयविक शिक्षा (सेन्स ट्रेनिंग) तथा ४. श्रमका आदर (डिग्निटी ऑफ लेबर)। इनको ध्यानमें रखते हुए इस प्रणालीके चार अंग निर्धारित किए गए—

१. अनिवार्य शिक्षा, २. मातृ-भाषाके द्वारा, ३. किसी हस्तकौशलपर अवलम्बित तथा ४. स्वावलम्बी।

हस्त-कौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया कि केवल वे ही हस्तकौशल शिक्षाके आधार बनाए जायँ जिनमें शिक्षाकी अधिकसे अधिक सम्भावनाएँ (मैक्सिमम एजुकेटिव पौसिबिलिटीज़) निहित हों अर्थात् जिनके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी या अधिकसे अधिक विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य-विषय

पाठ्य-क्रममें *निम्नलिखित विषय निर्धारित किए गए*—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र), संगीत, *हस्त-कौशल तथा व्यायाम*। मानव-मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें हो गया। किन्तु पाठन-समयकी जो अवधि बताई गई वह इतनी विषम

थी कि आधे समयमें हस्तकौशल रक्खा गया और आधेमें कममें शेष अन्य विषय। इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलम्बी नहीं बनाया जा सकता। इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने मात्रसे ही कार्य सम्पन्न नहीं हुआ क्योंकि तीन घंटे बीस मिनट तक चरखा चलाना या अन्य हस्त कौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञान और बालकके चंचल स्वभावके प्रतिकूल था। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसी लिये उत्तर प्रदशमें-आधार-शिक्षा या बुनियादी तालीम और मध्यप्रान्तम विद्यामन्दिर-योजनाके नामसे जब वर्धा प्रणाली चलाई गई तो उसमें हस्त-कौशलके दैनिक अभ्यासकी अवधि कम कर दी गई।

वर्धा-योजनाका मौलिक रूप

वर्धा-योजना जिस मौलिक रूपमें प्रस्तुत हुई थी वह उस समितिके संयोजक डाक्टर ज़ाकिर हुसेनके विवरणके साथ सूक्ष्म रूपमें दी जाती है—

पहिला हिस्सा

बुनियादी उसूल, आजकलकी तालीमका तरीक़ा, महात्मा गाँधीकी रहनुमाई, स्कूलोंमें हाथका काम, दो ज़रूरी शर्तें, नागरिकताका वह स्थान, जो इस योजनामें सामने रक्खा गया है और अपना ख़र्च आप निकालना इस योजनाकी बुनियाद है।

दूसरा हिस्सा

मक़सद या ध्येय, बुनियादी दस्तकारी, मातृभाषा, गणित, समाजका इल्म, साधारण विज्ञान, ड्राइंग, संगीत और हिन्दुस्तानी।

तीसरा हिस्सा

अध्यापकोंकी ट्रेनिंगका पूरा कोर्स और अध्यापकोंकी ट्रेनिंगका छोटा कोर्स।

चौथा हिस्सा

(क) निगरानी और (ख) इम्तिहान ।

पाँचवाँ हिस्सा

कताई और बुनाईका सात सालका कोर्स, हर विद्यार्थीकी पाँच सालकी आमदनी, बुनाईका खाता, नेवाड़ और दरीकी बुनाई, सात सालकी कुल आमदनी, आम हिदायतें, सामानकी फ़िहरिस्त (कताई खातेकी) तथा (बुनाई खातेकी), कताई, धुनाई और बुनाईके सामानकी फिहरिस्त जो सात दरजोंके पूरे स्कूलके लिये (जिसके हर दर्जेमें ३० लड़के हों) चाहिए।

पहला हिस्सा

बुनियादी उसूल, आजकलकी तालीमका तरीका

हिन्दुस्तानका हर निवासी शिक्षाकी मौजूदा प्रणालीको बुरा समझता है क्योंकि इससे बजाय उन्नति होनेके देश और समाज अवनति कर रहा है। इस शिक्षाकी बदौलत समाजमें जाल-फरेब, बेईमानी, स्वार्थपरता आदि बढ़ गई हैं जिससे समाज सड़ गया है और इस युगमें क्यूँकि एक नये समाजकी ज़रूरत हमें है अतः हमारे लिये यह लाज़िमी है कि एक नवीन शिक्षा-पद्धति क़ायम हो जिसकी बुनियाद अहिंसापर खड़ी हो।

महात्मा गाँधीकी रहनुमाई

सयासतकी तरह इस क्षेत्रमें भी महात्मा गाँधीने पथप्रदर्शन किया। सारे राष्ट्रकी तालीमके लिये 'हरिजन' एवं वर्धाकी 'शिक्षा कान्फ्रेंस', में उन्होंने अपना विचार प्रकट किया कि तालीम हमें ऐसी देनी चाहिए जिसका जीवनमें कोई उपयोग हो सके और इसके लिये दस्तकारीकी शिक्षा लाज़िमी होनी चाहिए क्योंकि इससे शिक्षाका खर्च भी निकल आवेगा जो देशकी हालत देखते हुए मौजूदा सरकारके लिए वहन करना मुश्किल है।

स्कूलोंमें हाथका काम

वर्तमान ज़मानेके तालीमी विशेषज्ञोंकी राय है कि बच्चोंको दस्तकारी के ज़रिये शिक्षा देनी चाहिए। क्योंकि हाथसे काम करनेवाले बच्चे दिमाग़ी शिक्षासे बहुत घबराते हैं और इससे लाभ यह है कि इसमें दिमाग़ी और रूहानी दोनों शिक्षा हो जाती है। भारतमें वर्तमान तालीमने जो असमानताकी खाई तैयार कर दी है वह पट जायेगी तथा ख़ाली समयमें लोग काम करने लगेंगे जिससे मुल्ककी आर्थिक दशा उन्नत होगी।

दो ज़रूरी शर्तें

इन फ़ायदोंको प्राप्त करनेके लिये दो बातोंका ध्यान रखना लाज़िमी है—दस्तकारीका चुनाव ऐसा हो जो तालीमके लिये मुनासिब हो, इन्सानके आवश्यक कामों और दिलचस्पियोंसे प्राकृतिक तौरपर जिसका लगाव हो और शिक्षाके पूरे कोर्समें लागू हो। जो दस्तकारी सिखाई जाय उसके फ़ायदे आदि लड़के जानते जायें, यह नहीं कि मशीनकी तरह हाथसे काम ही करते चलें।

नागरिकताका वह ख़याल जो इस स्कीममें सामने रक्खा गया है

चूँकि नये भारतकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और तहज़ीबी ज़िन्दगीमें प्रजातन्त्रका बोलबाला रहेगा और यही औलाद उसकी कर्णधार होगी अतः यह ज़रूरी है कि उनको ऐसी तालीम दी जाय जिससे वे सच्चे नागरिक बन सकें और ईमानदारीसे मुल्क तथा समाजकी ख़िदमत कर सकें। तालीमके अनुसार ही हर शख़्स जीवनमें कार्य करता है अतः हमारी बुनियादी शिक्षा ऐसी हो जो आपसमें मुहब्बत एवं मिलजुलकर काम करनेका ख़याल पैदा करे तथा मुल्क एवं समाजके हितको अपने निजी लाभसे ऊँचा समझे।

अपना ख़र्च आप निकालना

वैसे तो यह तालीम अपना ख़र्च आसानीसे निकाल सकती है किन्तु ज़रूरी यह है कि स्कूलोंमें तैयार हुई दस्तकारोंकी चीज़ोंकी सरकार

ख़रीद ले और बेचनेका इन्तज़ाम करे जैसा कि ३१ जुलाई सन् १९३७ के 'हरिजन' में महात्माजीने लिखा था—"हर स्कूल अपना ख़र्च आप निकाल सकता है, इस शर्तपर कि हुकूमत, स्कूलमें बनाई हुई चीज़ोंको ख़रीद ले।"

लेकिन इसके यह मानी नहीं कि लड़के आमदनीका ज़रिया बना दिए जायँ, उनसे अधिकसे अधिक चीज़ें तैयार कराई जायँ और दस्तकारी शिक्षाके दिमाग़ी, समाजी और नैतिक पहलूको भूल जायँ।

दूसरा हिस्सा

मक़सद या ध्येय

चूँकि समय बहुत थोड़ा है अतएव इतने कम वक़्तमें सात सालका पूरा कोर्स नहीं तैयार हो सकता फिर भी हम एक सिफ़ारिश करेंगे कि हर सूबेके तालीमी विभागमें एक ऐसा कुशल आदमी रहे जो बोर्डको सातों सालका कोर्स बनाकर दे।

बुनियादी शिक्षाके सात सालके कोर्सका खाका

१. बुनियादी दस्तकारी

दस्तकारी ऐसी होनी चाहिए जो शिक्षा ख़त्म करनेपर जीवन-यापनका ज़रिया हो सके। विभिन्न स्कूलोंमें निम्नांकित दस्तकारियाँ रक्खी जा सकती हैं—

(क) कताई-बुनाई, (ख) बढ़ईगिरी, (ग) खेती, (घ) फल और साग-सब्ज़ी पैदा करना, (ङ) चमड़ेका काम, (च) दूसरी कोई भी दस्तकारी, जो भौगोलिक और मुक़ामी हालतोंको देखते हुए उचित हो और पहले दी गई बातें उसमें आती हों।

वैसे तो कोई एक ही दस्तकारी सिखाई जावेगी, फिर भी अपने यहाँकी अन्य दस्तकारियोंका ज्ञान रखना ज़रूरी है।

२. मातृभाषा

सब तरहकी तालीमका माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए क्योंकि

इससे अपने विचार व्यक्त करनेमें सहूलियत होती है। सात सालके कोर्समें निम्नलिखित बातें हासिल होनी चाहिएँ—

(अ) बालक इस योग्य हो जाय कि अपने नित्य जीवनमें आनेवाली चीज़ोंकी बाबत बात कर सके और किसी बातपर विचार ज़ाहिर कर सके।

(आ) वह अख़बार आदि आसानीसे पढ़ और समझ सके।

(इ) वह नज़्म (पद्य) और नस्र (गद्य) को पढ़कर आनन्द उठा सके।

(ई) उसे डिक्शनरी वग़ैरह देखना आ जाय।

(उ) वह साफ़, सही और तेज़ रफ़्तारसे किसी घटनाका बयान लिख और कह सके।

(ऊ) अपनी चिट्ठी पत्री लिख पढ़ सकनेके अलावा वह नामी लेखकों और कवियोंकी रचनाएँ पढ़ और समझ सके।

३ गणित

इसका मक़सद लड़कोंको अपने जीवनमें, चाहे घरेलू हों या बाहरी, आनेवाले हिसाब किताबका हल करने लायक़ बनाना है। इसके लिये सादा जोड़, गुणा, भाग, दशमलव, त्रैराशिक, ब्याज, क्षेत्रफल, अमली ज्यामितिकी जानकारी काफ़ी है।

४ समाजका इल्म

इसके उद्देश्य ये हैं—

(१) भारतीय तरक़्क़ीको मद्दे नज़र रखते हुए मनुष्यमात्रकी उन्नति करना।

(२) छात्र अपनी भौगोलिक परिस्थिति समझकर तदनुसार तबदीली कर सकें।

(३) मुहब्बत एवं सचाई पूर्वक मिलकर देशकी भलाई कर सकें।

(४) नागरिकोंके कर्त्तव्य और अधिकारका ज्ञान कर सकें।

(५) विश्वासी पड़ोसी बनाना।

(६) धार्मिक सहिष्णुता।

इस मक़सदकी पूर्तिके लिये इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्रकी शिक्षाएँ लगभग एक-सी हैं। अपनी ज़रूरतोंको पूरा करनेके तरीक़ोंका ज्ञान इस प्रकार हो सकता है—

(१) बच्चोंको दुनियाका ख़ाका दिखाया जाय। उसमें पहले महापुरुषोंकी जीवनी पढ़ाई जाय और पीछे सामाजिक-सांस्कृतिक उथल-पुथल एवं तरक्क़ी। ऐसी शिक्षा न दी जाय कि किसीके प्रति घृणा पैदा हो और पिछली तरक्क़ीके ही गर्वमें भूले रह जायँ।

(२) लड़कोंको पंचायत, ज़िलाबोर्ड, नगरपालिका आदि जनसंस्थाओं-का ज्ञान कराया जाय।

(३) भूगोलके सिलसिलेमें दुनियाके नक़शेमें भारतकी स्थिति एवं अन्य देशोंसे उसका सम्बन्ध बताया जाय। इसके लिये कुछ बातें ज़रूरी हैं—

क—भारत एवं अन्य मुल्कोंके पेड़-पौदों, जानवरों और मनुष्योंका वर्णन।

ख—जलवायुका वर्णन।

ग—नक़शा एवं ग्लोब देखने लायक होना।

घ—सम्वाद-वाहन एवं आने-जानेके ज़रियेकी जानकारी।

च—विभिन्न प्रकारकी खेती और उद्योगधन्धोंकी जानकारी।

५. साधारण विज्ञान

इसका मक़सद है कि—

१. बच्चे अपने आस-पासकी दुनियाको जान सकें।
२. सामने आई चीज़ोंका सही तजर्बा हासिल करें।
३. वैज्ञानिक उसूलोंको समझने लायक बन सकें।
४. मशहूर वैज्ञानिकोंका जीवन-चरित बताना।

कोर्समें विज्ञानके निम्नलिखित विषय शामिल होने चाहिएँ—

क—प्रकृतिका पढ़ना

वनस्पति, चिड़ियाँ एवं जानवरोंकी जानकारी और मुख्तलिफ़ फ़स्लोंका ज्ञान ।

ख—वनस्पतियोंका ज्ञान

पौधोंके अगभेद, उनका उगना, बढ़ना और फैलना । स्कूलकी फुलवारी एवं बागका निरीक्षण ।

ग—पशु-विज्ञान

मुख्तलिफ़ प्रकारके कीड़े-मकोड़ों, जानवरों और पक्षियोंका ज्ञान हासिल करना कि इसमें कौन मनुष्यके दोस्त और कौन दुश्मन हैं ।

घ—शरीर विज्ञान

इन्सानका शरीर, उसके अंग और कार्य ।

ङ—आरोग्य और सफ़ाई

(क) मुख्तलिफ़ इन्द्रियों और त्वचा आदिकी सफ़ाई । (ख) घर और गाँवकी सफ़ाई । (ग) छूआछूतकी बीमारियाँ और उनसे बचनेके उपाय । (घ) दूसरोंकी सहायता तथा कसरत-द्वारा तन्दुरस्ती बढ़ाना ।

६. ड्राइंग

इसमें शक्लोंकी जानकारी एवं विभिन्न रंगोंका प्रयोग । इसके लिये ज़रूरी है कि लड़के देखकर एवं सोचकर शक्लें बनावें ।

७. संगीत

बच्चे अच्छे और सुन्दर गीत याद करें और लय तथा तालके साथ गा सकें । सामूहिक गान अच्छा है ।

८. हिन्दुस्तानी

इसको पढ़ानेका मक़सद है कि बच्चे हर सूबेके साथ एक ज़बानमें सम्बन्ध रख सकें और एक दूसरेके भावोंको जान सकें ।

तीसरा हिस्सा

अध्यापकोंकी तालीम

मुदर्रिस ट्रेन्ड हों और ट्रेनिंगके लिये आवश्यक हो कि वह किसी

स्कूलमें पढ़ा हो और कमसे कम दो वर्ष अध्यापन-कार्य कर चुका हो।

अध्यापकोंकी तालीमका पूरा कोर्स

(तीन सालका)

१ कपासकी बुआई, बुनना और धुनना, चर्खेका ज्ञान, विभिन्न प्रकारके मिस्त्रीके कार्य।

२. कोई एक उद्योग सीखना।

३. *तालीमका उसूल कुछ पैदा करना हो अर्थात् तालीम ऐसी हो जिससे कुछ पैदा हो।* इसके लिये पहले ही खाका तैयार कर लेना चाहिए।

४. शरीर-विज्ञान—स्वास्थ्य एव सफ़ाईका ज्ञान।

५. जो कुछ समाजका इल्म बुनियादी तालीममें पढ़ाया गया हो उसे दुहराना चाहिए और पिछले ५० वर्षके भारत एवं दुनियाके हाल जानना।

६ मादरी ज़बानका ज्ञान ताकि उसके ज़रिए हर चीज़ पढ़ाई जा सके।

७ हिन्दुस्तानी इल्म— भारतके हर भागमें फारसी और नागरी ख़तोंको पढ़ना।

८. बोर्डपर लिखना और ड्राइंग बनाना।

९ शारीरिक व्यायाम और खेल।

१०. *ट्रेनिंग स्कूलोंसे सम्बन्धित स्कूलोंमें* पढ़ाना ठीक है। इस तरहसे होशियार, समझदार तथा ईमानदार अध्यापक पैदा हो सकेंगे।

अध्यापकोंकी तालीमका छोटा कोर्स

इसके लिये ज़रूरी है कि एक सालका कोर्स हो और पढ़ानेवाले हर तरहसे क़ाबिल हों। इस कोर्समें—धुनाई, कताई लाज़िम होगी। कोई एक ऐसी दस्तकारी रहेगी जो समाजके लिये लाभदायक हो। थोड़ा इतिहास-भूगोल भी रहेगा।

चौथा हिस्सा

निगरानी और इम्तहान

क—निगरानी

निगरानीके लिये हमदर्द और योग्य अध्यापक होने चाहिएँ।

ख—इम्तहान

प्रचलित तरीका नितान्त ग़लत है। एक दर्जेसे दूसरेमें तरक्की कामके हिसाबपर होनी चाहिए।

पाँचवाँ हिस्सा

इन्तज़ाम

१. दूसरे हिस्सेमें कहे हुए मक़सदके लिये सात वर्षतक स्कूलमें रहना ज़रूरी है। शिक्षा सात सालसे १४ वर्ष तक हो। हाँ, लड़कियों-की शिक्षा १२ वर्षसे भी शुरू हो सकती है।

२. हमने जो सात वर्षकी उम्र रक्खी है उसमें जीवनका वह महत्वपूर्ण हिस्सा छूट जावेगा जो गरीब माँ-बापके बीच कटता है।

३. कोर्स पढ़ानेमें ५॥ घण्टे लगेंगे। दस्तकारीके लिये स्कूलमें २८८ दिन और महीनेमें २४ दिन पड़ता है।

४. अन्तिम दो दर्जोंमें कई दस्तकारियोंका प्रबन्ध हो।

५. स्कूलका अपना बाग और खेलका मैदान हो।

६. लड़कोंको स्कूलके घण्टेके बीचमें एक हल्का नाश्ता मिलना चाहिए।

७ अध्यापकका वेतन २५) और कम से कम २०) होना चाहिए।

८. प्रारम्भमें योग्य अध्यापक हों और उनको अधिक वेतन दिया जाय।

९. दर्जेमें ३०से अधिक छात्र न हो।

१०. हो सके तो जिस हल्केमें स्कूल हो वहींके लोग अध्यापक चुने जायँ।

११. औरतें मनचाही तालीम चुनें और उन्हें ट्रेनिंगमें सहूलियत दी जाय।

१२. ट्रेनिंग स्कूलमें क़ाबिल व्यक्ति ही लिए जाने चाहिएँ क्योंकि इस पेशेमें आनेवाला हर शख्स योग्य एवं पेशेमें रुचि रखनेवाला नहीं होता।

१३. ट्रेनिंग स्कूलमें हर वर्ग, धर्म और जातिके लोग हों और साथ-साथ रहें।

१४. दस्तकारी सिखानेके लिये कुशल कारीगर होने चाहिएँ, भले ही तैयार माल बेचने आदिके लिये अध्यापकोंसे मदद ले ली जाय।

१५. ट्रेनिंग कालेजों और स्कूलोंमें बड़े पैमानेपर कोर्स रक्खे जायँ ताकि छुट्टीके दिनोंमें अध्यापक-वर्ग कार्य करके अपनी क़ाबलियत ताज़ी रख सकें।

१६. हर ट्रेनिंग स्कूलके साथ ऐसे बुनियादी स्कूल रहने चाहिएँ जहाँ ट्रेनिंग पानेवालोंको असली तालीम दी जा सके।

१७. स्कूलोंमें जो कोर्स रक्खे जायँ उनमें विभिन्न विषयोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध होना चाहिए। अध्यापकोंके लिये उचित लाइब्रेरी और पुस्तकें होनी चाहिएँ। पुस्तकें जो लिखी जायँ वे उपर्युक्त बातोंको ध्यानमें रखकर।

१८. परीक्षाके लिये हर सूबेके शिक्षा बोर्डको कुछ ऐसे मास्टर रखने चाहिएँ जो स्कूली लड़कोंके कामकी जाँच करें और अगले दर्जेमें तरक्क़ी दें।

१९. सरकारी तालीमी संघके अलावा कुछ ग़ैरसरकारी संस्थाएँ भी होनी चाहिएँ जिनका कार्य हो—

क. शिक्षाकी पौलिसीमें उचित सलाह देना।

ख. भारत एवं अन्य देशोंके शिक्षा-प्रयोगोंका अध्ययन करना तथा इत्तिला देना।

ग. तालीमी कार्यकी सूचना इकट्ठी करना।

घ. शैक्षणिक रिसर्चका कार्य।

ङ. छोटी-छोटी किताबें और पत्रिका निकालना।

२०. सरकारके विभिन्न महकमों (खेती, स्वास्थ्य, राजस्व आदि) का शिक्षासे सम्बन्ध होना चाहिए।

वर्धा शिक्षा-योजनाका विश्लेषण :-

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें बहुत अन्तर आगया है। नीरस, कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके चित्र और बेल-बूटे बने दीख पड़ते हैं। उसमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। उसके प्रति ममता और रुचि पैदा होती है। अपने स्वनिर्मित चित्रोंको देखकर बच्चोंमें स्वाभिमान जागरित होता है। घोखने और रटनेकी प्राचीन दूषित प्रणाली इससे दूर हो जाती है। शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो जानेसे शिक्षामें पर्याप्त प्रगति हुई है। अध्यापकोंको भी विश्राम मिल गया है।

किन्तु इस योजनाका दूसरा पक्ष भी कुछ कम महत्वका नहीं। इस प्रणालीसे विनय और शील, जो मानव शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं, अत्यन्त निर्दयतापूर्वक ढहाए जा रहे हैं। छात्र उद्दण्ड एवं उच्छृंखल हो रहे हैं। वैसे तो वे दस्तकारी सीखते हैं किन्तु उधर उनकी विशेष रुचि नहीं। भारत गाँवोंका देश है। घरसे गोबर-पानी करके आया हुआ लड़का चरखेके चरखेसे ऊबेगा नहीं तो क्या होगा? इतना ही नहीं, प्रत्येक घंटेमें वही चरखा-चक्र उसके सिरपर सवार मिलता है क्योंकि प्रत्येक विषयकी पढ़ाई उसीसे प्रारम्भ होती है एवं उसीमें अन्त पाती है। कहनेके लिये इसके प्रवर्तक कहते हैं कि हम इस ढंगसे प्रत्येक विषयका एक दूसरेसे सहयोग (कोरिलेशन) *स्थापित करते हैं किन्तु उन्हें "अति सर्वत्र वर्जयेत्"की नीति स्मरण नहीं* रहती। इतना ही नहीं, पारस्परिक अन्तर्योगका अर्थ है एक विषयकी सहायतासे दूसरे विषयको अधिक स्पष्ट करना। किन्तु यहाँ तो इसका उल्टा होता है और इस प्रकार नितान्त भ्रमात्मक एवं हास्यास्पद शिक्षण-पद्धति चलाई जाती है। कहनेके लिये तो देशके कोने कोनेमें पुकार आती है कि 'पाई-पाई बचाओ' 'कुछ नष्ट न करो' किन्तु स्वयं इस प्रकारके विद्यालयोंमें सामग्री (रूई, लकड़ी आदि) का इतना अपव्यय होता है कि दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है

और इन केन्द्रोंमें जानेपर 'भारत निर्धन है' यह विचार छूमन्तर हो जाता है। इस प्रणालीमें दो-तीन मासमें जो अध्यापक शिक्षित होकर निकलते हैं, वे कितना ज्ञानार्जन कर पाते होंगे? वे सामान तो बिगाड़ते ही हैं किन्तु जो तश्तरी, सिगरेटका डब्बा, गिरजानुमा घर आदि विभिन्न प्रकारका सामान बनाना सीखकर लड़कोंको सिखाते हैं, उनका भारतीय जीवनमें क्या उपयोग है? हमें तो झोपड़ी, खचिया आदि लाभदायक वस्तुओंका निर्माण सिखाना चाहिए जिनका हमारे जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और जिससे हमारे व्यावसायिक जीवनके चुनावमें भी सहायता मिल सकती है। शिक्षामें भी परीक्षाका भूत हमारे सिरपर सवार है। शिक्षा-विभाग चाहता है कि अधिकसे अधिक छात्र परीक्षामें सम्मिलित हों। अध्यापकोंकी योग्यता-अयोग्यताकी कसौटी भी यही परीक्षा है, क्योंकि जितने ही अधिक छात्र जिस स्कूल या अध्यापकके उत्तीर्ण होंगे वह उतना ही योग्य गिना जायगा चाहे वे किसी प्रकार भी उत्तीर्ण हों। अतः जबतक इस परीक्षारूपी कृत्याका अन्त नहीं होता तबतक हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता। इससे भी अधिक महत्वकी बात यह है कि इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका अत्यन्त अभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा होनी चाहिए उसीका आद्यन्त अभाव इसमें खटकता है। यदि हम नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सके तो फिर हमारी शिक्षा जीवरहित देहमात्र ही रह जायगी।

वर्धा शिक्षा-योजनामें परिवर्तन

गाँधीजीके सभापतित्वमें वर्धामें जो शिक्षा योजना बनी उसमें चार मुख्य आधार माने गए थे—

१. शिक्षा अनिवार्य हो।
२. मातृभाषाके माध्यमसे हो।
३. किसी हस्त-कौशलपर अवलंबित हो।

और इन केन्द्रोंमें जानेपर 'भारत निर्धन है' यह विचार छूमन्तर हो जाता है। इस प्रणालीसे दो-तीन मासमें जो अध्यापक शिक्षित होकर निकलते हैं, वे कितना ज्ञानार्जन कर पाते होंगे? वे सामान तो बिगाड़ते ही हैं किन्तु जो तश्तरी, सिगरेटका डब्बा, गिरजानुमा घर आदि विभिन्न प्रकारका सामान बनाना सीखकर लड़कोंको सिखाते हैं, उनका भारतीय जीवनमें क्या उपयोग है? हमें तो झोपड़ी, खचिया आदि लाभदायक वस्तुओंका निर्माण सिखाना चाहिए जिनका हमारे जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और जिससे हमारे व्यावसायिक जीवनके चुनावमें भी सहायता मिल सकती है। शिक्षामें भी परीक्षाका भूत हमारे सिरपर सवार है। शिक्षा-विभाग चाहता है कि अधिकसे अधिक छात्र परीक्षामें सम्मिलित हों। अध्यापकोंकी योग्यता-अयोग्यताकी कसौटी भी यही परीक्षा है, क्योंकि जितने ही अधिक छात्र जिस स्कूल या अध्यापकके उत्तीर्ण होंगे वह उतना ही योग्य गिना जायगा चाहे वे किसी प्रकार भी उत्तीर्ण हों। अतः जबतक इस परीक्षारूपी कृत्याका अन्त नहीं होता तबतक हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता। इससे भी अधिक महत्त्वकी बात यह है कि इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका अत्यन्त अभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा होनी चाहिए उसीका आद्यन्त अभाव इसमें खटकता है। यदि हम नैतिकता उत्पन्न नहीं कर सके तो फिर हमारी शिक्षा जीवरहित देहमात्र ही रह जायगी।

वर्धा शिक्षा-योजनामें परिवर्तन

गाँधीजीके सभापतित्वमें वर्धामें जो शिक्षा-योजना बनी उसमें चार मुख्य आधार माने गए थे—

१. शिक्षा अनिवार्य हो।
२. मातृभाषाके माध्यमसे हो।
३. किसी हस्त-कौशलपर अवलंबित हो।

४ वर्धा शिक्षा-योजनाका विश्लेषण

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें बहुत अन्तर आगया है। नीरस, कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके चित्र और बेल-बूटे बने दीख पड़ते हैं। उसमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। उसके प्रति ममता और रुचि पैदा होती है। अपने स्वनिर्मित चित्रोंको देखकर बच्चोंमें स्वाभिमान जागरित होता है। घोखने और रटनेकी प्राचीन दूषित प्रणाली इससे दूर हो जाती है। शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो जानेसे शिक्षामें पर्याप्त प्रगति हुई है। अध्यापकोंको भी विश्राम मिल गया है।

किन्तु इस योजनाका दूसरा पक्ष भी कुछ कम महत्त्वका नहीं। इस प्रणालीसे विनय और शील, जो मानव शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं, अत्यन्त निर्दयतापूर्वक ढहाए जा रहे हैं। छात्र उद्दण्ड एवं उच्छृंखल हो रहे हैं। वैसे तो वे दस्तकारी सीखते हैं किन्तु उधर उनकी विशेष रुचि नहीं। भारत गाँवोंका देश है। घरसे गोबर पानी करके आया हुआ लड़का चरखेके चरखेसे ऊबेगा नहीं तो क्या होगा? इतना ही नहीं, प्रत्येक घंटेमें वही चरखा-चक्र उसके सिरपर सवार मिलता है क्योंकि प्रत्येक विषयकी पढ़ाई उसीसे प्रारम्भ होती है एवं उसीमें अन्त पाती है। कहनेके लिये इसके प्रवर्तक कहते हैं कि हम इस ढंगसे प्रत्येक विषयका एक दूसरेसे सहयोग (कोरिलेशन) स्थापित करते हैं किन्तु उन्हें "अति सर्वत्र वर्जयेत्"की नीति स्मरण नहीं रहती। इतना ही नहीं, पारस्परिक अन्तर्योगका अर्थ है एक विषयकी सहायतासे दूसरे विषयको अधिक स्पष्ट करना। किन्तु यहाँ तो इसका उलटा होता है और इस प्रकार नितान्त भ्रमात्मक एवं हास्यास्पद शिक्षण पद्धति चलाई जाती है। कहनेके लिये तो इसके कोने कोनेसे पुकार आती है कि 'पाई-पाई बचाओ' 'कुछ नष्ट न करो' किन्तु स्वयं इस प्रकारके विद्यालयोंमें सामग्री (रुई, लकड़ी आदि) का इतना अपव्यय होता है कि दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है

२. केवल मौखिक रटन्त कार्यके बदले विविध प्रकारका रचनात्मक शारीरिक कार्य होने लगा है।

३. छात्रोंको अपनी रचनात्मिका प्रतिभाके विकासके लिये उन्मुक्त अवसर प्राप्त होने लगा है।

४. अध्यापक भी कक्षाकी नीरस पढ़ाई और दोष-सुधार करनेकी निर्जीव पद्धतिके बदले अब पथ-प्रदर्शक और आदेष्टा बन गए हैं।

५. कक्षा-प्रकोष्ठकी भीतोंपर छात्रोंकी कलात्मक कृतियोंका रंग-बहुल प्रदर्शन होने लगा है और कक्षाएँ हँसने लगी हैं क्योंकि जिन दीवारोंपर कभी भूलसे भी चूना नहीं पोता जाता था, वे भी चित्र-निर्माण और चित्र-रक्षाके लिये सुरूप रक्खी जा रही हैं।

६. छात्रोंमें परिश्रमके प्रति आदर उत्पन्न हुआ है और उन्हें किसी प्रकारका काम या व्यवसाय करनेमें सकोचके बदले गर्व होता है।

७ भावी जीवनमें जो व्यवसाय छात्र अपनाना चाहते हैं उसका वे पहलेसे निर्धारण कर सकते हैं (यद्यपि करते नहीं)।

८. स्वयं अपने हाथकी रचनासे छात्रोंकी सौन्दर्य-वृत्तिका विकास होता है, उन्हें अपनी कृतिमें आनन्द आता है और इस प्रकार उनमें अध्यवसाय (लगन), सटीकता, एकाग्रता, नियमितता और स्वच्छताका भाव बढ़ता चलता है।

९. एक प्रकारका कार्य करनेवाले सहयोगी कारीगरकी भावनासे साथ-साथ काम करनेके कारण धनी और कंगाल बालकोंके बीच परस्पर भ्रातृत्व-भावनाका सम्वर्द्धन होता है।

वर्धा शिक्षा-योजनाकी त्रुटियाँ

यद्यपि ऊपर हमने इस योजनाकी आलोचना कर दी है किन्तु वह इसका बाह्य विश्लेषणमात्र है। यदि हम क्रमसे चलें तो प्रतीत होगा कि—

(१) महात्मा गान्धी शिक्षाशास्त्री नहीं थे। उन्होंने अपने आश्रममें कताई-बुनाईका प्रयोग करके जो परिणाम निकाले थे, वे

४. आत्म-निर्भर हो।

किन्तु इस नीतिकी विस्तृत योजना बनानेके लिये डाक्टर ज़ाकिर हुसैनकी अध्यक्षतामें जो समिति शिमलामें बैठी उसने इसके चतुर्थ आधार अर्थात् आत्मनिर्भरताको निकाल दिया। इस योजनाके मुख्य प्रवर्त्तकों तथा अनुयायियोंका यह विश्वास है कि आत्मनिर्भरता ही वास्तवमें इस योजनाका मूल तत्त्व है जिसे अलग करना इस शिक्षाकी हत्या करना है। सावास आश्रमोंमें तथा त्यागी, देशभक्त, उदारचेता महापुरुषोंके गुरुकुलोंमें यह योजना अपने चतुर्थ आधार अर्थात् आत्म-निर्भरताकी साधना भी अवश्य कर सकती है जैसा कि आज भी सेवाग्राममें उसका परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु इस आत्म-निर्भरताके सिद्धान्तको व्यापक लोक-शिक्षाकी योजनामें डाल देनेसे उसकी असफलता निश्चित और असंदिग्ध है क्योंकि स्वार्थ बुद्धिसे अथवा व्यावसायिक बुद्धिसे काम करनेवाले लोग इस प्रकारकी योजनाका न तो सात्त्विक महत्त्व समझ सकते हैं न उदारतापूर्वक सात्त्विक भावनासे उसे कार्यान्वित कर सकते हैं। इसलिये ज़ाकिर हुसैन समितिने व्यापक शिक्षा-योजनाकी दृष्टिसे आत्म निर्भरताका आधार निकालकर बुद्धिमत्ताका ही परिचय दिया। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि आत्म-निर्भरता-का आधार निकाल देना इस योजनाके मौलिक सिद्धान्तका विरोध करना और उसकी हत्या करना ही है क्योंकि यह योजना विशिष्ट प्रकारके सात्त्विक, विरक्त तथा निश्चिन्त महात्माओंके द्वारा ही उसी वृत्तिके छात्रोंके लिये प्रयुक्त की जा सकती है, विभिन्न वृत्तियोंके अध्यापकों और छात्रोंके द्वारा नहीं।

वर्धा शिक्षा-योजनाके गुण

वर्धा-योजनाके प्रसारसे हमारी शिक्षापद्धतिके बाह्य रूपमें कुछ विशेष स्वस्थ परिवर्त्तन दिखाई देने लगे हैं—

१. विद्यालय-कक्षाओंकी पुरानी नीरसता समाप्त हो गई है।

२. केवल मौखिक रटन्त कार्यके बदले विविध प्रकारका रचनात्मक शारीरिक कार्य होने लगा है।

३. छात्रोंको अपनी रचनात्मिका प्रतिभाके विकासके लिये उन्मुक्त अवसर प्राप्त होने लगा है।

४. अध्यापक भी कक्षाकी नीरस पढ़ाई और दोष-सुधार करनेकी निर्जीव पद्धतिके बदले अब पथ-प्रदर्शक और आदेष्टा बन गए हैं।

५. कक्षा-प्रकोष्ठकी भीतोंपर छात्रोंकी कलात्मक कृतियोंका रंग-बहुल प्रदर्शन होने लगा है और कक्षाएँ हँसने लगी हैं क्योंकि जिन दीवारोंपर कभी भूलसे भी चूना नहीं पोता जाता था, वे भी चित्र-निर्माण और चित्र-रक्षाके लिये सुरूप रक्खी जा रही हैं।

६. छात्रोंमें परिश्रमके प्रति आदर उत्पन्न हुआ है और उन्हें किसी प्रकारका काम या व्यवसाय करनेमें संकोचके बदले गर्व होता है।

७ भावी जीवनमें जो व्यवसाय छात्र अपनाना चाहते हैं उसको वे पहलेसे निर्धारण कर सकते हैं (यद्यपि करते नहीं)।

८. स्वयं अपने हाथकी रचनासे छात्रोंकी सौन्दर्य-वृत्तिका विकास होता है, उन्हें अपनी कृतिमें आनन्द आता है और इस प्रकार उनमें अध्यवसाय (लगन), सटीकता, एकाग्रता, नियमितता और स्वच्छताके भाव बढ़ता चलता है।

९. एक प्रकारका कार्य करनेवाले सहयोगी कारीगरकी भावनासे साथ-साथ काम करनेके कारण धनी और कंगाल बालकोंके बीच परस्पर भ्रातृत्व-भावनाका सम्वर्द्धन होता है।

वर्धा शिक्षा-योजनाकी त्रुटियाँ

यद्यपि ऊपर हमने इस योजनाकी आलोचना कर दी है किन्तु वह इसका बाह्य विश्लेषणमात्र है। यदि हम क्रमसे चलें तो प्रतीत होगा कि—

(१) महात्मा गान्धी शिक्षाशास्त्री नहीं थे। उन्होंने अपने आश्रममें कताई-बुनाईका प्रयोग करके जो परिणाम निकाले थे, वे

एकदेशीय ही नहीं बल्कि एकआश्रमीय थे, जहाँका प्रत्येक सदस्य सेवा, त्याग और आत्मसंयमके भावसे काम करता था। अतः ऐसे एक प्रकार और एक संकल्पके लोगोंके प्रयोगको सारे देशके लिये प्रयुक्त करना अत्यन्त अनुचित और भ्रमपूर्ण बात थी।

(२) इन विद्यालयोंसे जो यह आशा की गई थी कि इनसे निकलनेवाले लोग परस्पर सहयोग करनेवाले समाजकी नींव डालेंगे, यह भी सिद्ध नहीं हुआ। उल्टे ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने लड़ना-खाना प्रारम्भ किया और समाजको कलंकित किया।

(३) विद्यालयोंसे विद्यालयका व्यय निकल आनेका विरोध तो प्रारम्भसे ही होता रहा, यहाँतक कि शिमलेमें जो इस योजनापर विचार हुआ उसमें स्वावलम्बी होनेकी बात छोड़ ही दी गई।

(४) हाथ के कामपर इतना बल दिया गया और इतना समय निश्चित किया गया कि बौद्धिक ज्ञान ठण्डा पड़ गया और यह परिणाम हुआ कि जिन प्रारम्भिक विद्यालयोंसे गणितके अच्छे कुशल छात्र निकलते थे, वहाँसे निकम्मे निकलने लगे और छात्रोंका सुलेखन अभ्यास नष्ट हो गया।

(५) विद्यालयोंमें छात्रोंने जो हाथका काम किया, वह न तो छात्रोंके काम आया, न सरकारने ही उसे मोल लिया। सब रद्दी करके फेंक दिया जाता रहा, जिससे राष्ट्रकी बड़ी क्षति होती रही।

(६) हस्तकौशलके द्वारा जो अन्य विषयोंकी शिक्षा देनेकी बात चली वह अत्यन्त अतिकृत, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक, असमनोवैज्ञानिक, आडम्बरपूर्ण तथा हास्यास्पद बनी रही।

(७) इससे नैतिक या सामाजिक सहयोगके बदले अनैतिक और असामाजिक भावनाएँ उद्दीप्त हुईं और परस्पर असहयोग तथा अविश्वास बढ़ा। यहाँतक कि जात-पाँतिके जो बन्धन यह प्रणाली तोड़ना चाहती थी वे अधिक कटु होकर दृढ़ होते गए। वर्त्तमान ग्राम-जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है।

(८) इससे समाज-सेवाकी भावनाके बदले स्वार्थ-साधनकी वृत्ति ही बढ़ी।

(९) जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह पाँच वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ होना चाहिए और उसमें चार वर्षसे अधिक नहीं लगने चाहिएँ। कारीगरों और किसानोंके बच्चे तो यह सब काम चार-पाँच महीनेमें ही आदिसे अन्ततक सीख सकते हैं।

(१०) खेती और फलबाग-सब्ज़ी उत्पन्न करना कोई हस्त-कौशल नहीं। यह तो शुद्ध व्यवसाय-वृत्ति है जो गाँवोंमें स्वभावतः होती है और नगरोंके लिये, जहाँ भूमि प्राप्त नहीं है वहाँके लिये व्यर्थ है।

(११) बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सबको सिखाकर उस स्थानके बढ़इयों और मोचियोंकी जीविकामें बाधा देना है और व्यर्थमें उनके मनमें गाँठ उत्पन्न करके समाजकी संयुक्त भावनाको छिन्न-भिन्न करके अनावश्यक रूपसे अस्वास्थ्यकर प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करना है। इसके अतिरिक्त जिन विद्यालयोंमें बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सिखाया जाता रहा है, वहाँके पाँच प्रतिशत छात्रोंने भी उसे व्यवसायवृत्तिके रूपमें स्वीकार नहीं किया, केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होने भरके लिये वे उसका प्रयोग करते रहे।

(१२) पाठ्य-क्रममें समाजके इलमके लिये जो विवरण दिया गया है वह इतना विस्तृत, अव्यावहारिक और शिक्षा-विरोधी रख दिया गया है कि वह छात्रके लिये भारस्वरूप ही होगा। शिक्षाके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलना चाहिए अर्थात् अपने देशसे प्रारम्भ करना चाहिए, किन्तु इस योजनामें प्रारम्भसे ही संसारका इतिहास पढ़ानेकी कष्टकल्पना की गई है और इसी अवस्थामें म्यूनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदिके नियम भी सिखानेकी निरर्थक योजना बना दी गई है। यह तो हाइ स्कूलके पश्चात् सिखानी चाहिए जब वे वयस्क होने लगें, जब उन्हें लोककार्यमें संलग्न होना पड़े। उनके कच्चे मस्तिष्कपर यह भार क्यों डाला जाय।

(१३) इसी प्रकार साधारण विज्ञानमें बहुत सा ज्ञान तो गाँवके बालकको इस पाठ्यक्रमसे अधिक होता है, विशेषतः प्रकृति, वनस्पति और पशु-विज्ञान। शरीर-विज्ञान, रसायन शास्त्र और वैज्ञानिकोंकी कहानियाँ सीखकर वे क्या करेंगे।

(१४) ड्राइंग और संगीत सबके लिये नहीं है। उसके लिये रुचि और प्राकृतिक साधन—उँगली और कण्ठ चाहिए। ऐसे व्यक्तिको ड्राइंग सिखानेसे क्या लाभ जो करेलेको कटहल और बगनको लौकी बना दे और ऐसे व्यक्तिको संगीत सिखानेमें समय क्यों नष्ट किया जाय जो सदा गर्दभ स्वरमें रेंकता हो एवं फटे बाँससे स्वर मिलाता हो। ये विषय अनिवार्य न रखकर ऐच्छिक रखने जा सकते हैं। हाँ, सामूहिक गान या भजनके अभ्यासमें कोई दोष नहीं है।

(१५) हिन्दुस्तानीकी अनिवार्यता इस योजनाकी सबसे बड़ी भूल थी, विशेषत दो लिपियोंके साथ। यह अच्छा हुआ कि राष्ट्रने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको राष्ट्रीय व्यवहारके लिये स्वीकार कर लिया।

(१६) परीक्षाका पाप अभीतक बना हुआ है जो शिक्षाका सबसे भयकर घुन है।

(१७) अध्यापकोंके वेतनके सम्बन्धमें जो बीस और पचीस रुपये मासिकका विधान किया गया है वह अत्यन्त लज्जाजनक है। जान पड़ता है इसके विधायकोंने यह समझ लिया है कि अध्यापक वेदान्ती सन्यासी होता है जिसके पास न परिवार होता है न अन्य कोई आवश्यकता।

(१८) केवल हस्त-कौशलपर अधिक एकाग्र होनेसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, और मनन-शक्ति शिथिल होने लगती है।

(१९) हस्त-कौशलमें रचना-शक्तिके विकासके लिये अत्यन्त परिमित क्षेत्र है।

(२०) भारत जैसे दरिद्र देशमें रुई, रग, दफ्ती और लकड़ी जैसे आवश्यक पदार्थोंका अत्यन्त विनाश श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि शिक्षा

तो ऐसी होनी चाहिए कि 'हल्दी लगे न फिटकिरी, रंग चोखा आवे'।

(२१) एक ही आकार-प्रकार तथा रूपकी सामग्री विद्यालयमें अधिक बना देनेसे उनकी खपत नहीं होती और इस प्रकार प्रोत्साहनके अभावमें छात्रोंमें निरुत्साहिता और नीरसता व्याप्त हो जाती है।

(२२) साथ साथ काम करनेपर भी ऊँच नीचका भेद बना ही रहता है।

(२३) एक ही प्रकारके या कुछ गिने चुने प्रकारके हस्त कौशलके साथ माथा पच्ची करते करते धीरे धीरे विराग हो जाता है क्योंकि नई वस्तुमें ही कुतूहल होता है, एक ही वस्तु दिन रात देखते देखते मनुष्यका मन ऊबने लगता है।

(२४) विद्यालयके पाठ्य क्रमके अन्तर्गत सभी विषय हस्त कौशलके आधारपर नहीं सिखाए जा सकते और यदि सिखाए भी जायँ तो वे कृत्रिम आधार ग्रहण करनेके कारण अस्वाभाविक, सटीकताके अभावमें अवैज्ञानिक, और उचित वातावरणमें उपस्थित न किए जानेके कारण असंगत या अमनोवैज्ञानिक होंगे। हस्त कौशलपर इतना अधिक बल देनेसे राष्ट्रीय बौद्धिक चेतनाके कुण्ठित हो जानेकी अधिक सम्भावना है क्योंकि व्यवसायमें फँसे रहनेवाले व्यक्तिको राष्ट्र धर्म तथा राष्ट्रीय आत्म सम्मानकी भावना उतनी प्रस्फुरित नहीं होती जितनी व्यापक और उदार शिक्षा पाए हुए व्यक्तिमें।

(२५) शिक्षासे विषयोंके अन्तर्योगका तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक रूपसे पाठ्य विषयोंमें पारस्परिक एकात्मता स्थापित हो। किन्तु वर्धा शिक्षा योजनामें हस्त कौशलके साथ पाठ्य क्रमके विभिन्न विषयोंका अन्तर्योग कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है।

(२६) अध्यापकके व्यक्तित्वका कोई महत्त्व नहीं रह गया और वे पुतलीघरोंके फ़ोरमैन भर बने रह गए हैं।

(२७) इस शिक्षा योजनामें धार्मिक, नैतिक तथा शारीरिक शिक्षाके लिये किसी प्रकारका कोई विधान नहीं है।

(१३) इसी प्रकार साधारण विज्ञानमें बहुत सा ज्ञान तो गाँवके बालकको इस पाठ्यक्रमसे अधिक होता है, विशेषतः प्रकृति, वनस्पति और पशु-विज्ञान। शरीर-विज्ञान, रसायन-शास्त्र और वैज्ञानिकोंकी कहानियाँ सीखकर वे क्या करेंगे।

(१४) ड्राइंग और संगीत सबके लिये नहीं है। उसके लिये रुचि और प्राकृतिक साधन—उँगली और कण्ठ चाहिए। ऐसे व्यक्तिको ड्राइंग सिखानेसे क्या लाभ जो करेलेको कटहल और बैगनको लौकी बना दे और ऐसे व्यक्तिको संगीत सिखानेमें समय क्यों नष्ट किया जाय जो सदा गर्दभ स्वरमें रेकता हो एव फटे बाँससे स्वर मिलाता हो। ये विषय अनिवार्य न रखकर ऐच्छिक रखे जा सकते हे। हाँ, सामूहिक गान या भजनके अभ्यासमें कोई दोष नहीं है।

(१५) हिन्दुस्तानीकी अनिवार्यता इस योजनाकी सबसे बड़ी भूल थी, विशेषत दो लिपियोंके साथ। यह अच्छा हुआ कि राष्ट्रने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको राष्ट्रीय व्यवहारके लिये स्वीकार कर लिया।

(१६) परीक्षाका पाप अभीतक बना हुआ है जो शिक्षाका सबसे भयकर घुन है।

(१७) अध्यापकोंके वेतनके सम्बन्धमें जो बीस और पचीस रुपये मासिकका विधान किया गया है वह अत्यन्त लज्जाजनक है। जान पड़ता है इसके विधायकोंने यह समझ लिया है कि अध्यापक वेदान्ती सन्यासी होता है जिसके पास न परिवार होता है न अन्य कोई आवश्यकता।

(१८) केवल हस्त-कौशलपर अधिक प्रकाश होनेसे बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, और मनन-शक्ति शिथिल होने लगती है।

(१९) हस्त-कौशलमें रचना-शक्तिके विकासके लिये अत्यन्त परिमित क्षेत्र है।

(२०) भारत जैसे दरिद्र देशमें रूई, रग, दफ्ती और लकड़ी जैसे आवश्यक पदार्थोंका अत्यन्त विनाश श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि शिक्षा

तो ऐसी होनी चाहिए कि 'हल्दी लगे न फिटकिरी, रंग चोखा आवे'।

(२१) एक ही आकार-प्रकार तथा रूपकी सामग्री विद्यालयोंमें अधिक बना देनेसे उनकी खपत नहीं होती और इस प्रकार प्रोत्साहनके अभावमें छात्रोंमें निरुत्साहिता और नीरसता व्याप्त हो जाती है।

(२२) साथ साथ काम करनेपर भी ऊँच-नीचका भेद बना ही रहता है।

(२३) एक ही प्रकारके या कुछ गिने-चुने प्रकारके हस्त-कौशलके साथ माथा पच्ची करते करते धीरे-धीरे विराग हो जाता है क्योंकि नई वस्तुमें ही कुतूहल होता है,एक ही वस्तु दिन-रात देखते देखते मनुष्यका मन ऊबने लगता है।

(२४) विद्यालयके पाठ्य-क्रमके अन्तर्गत सभी विषय हस्त-कौशलके आधारपर नहीं सिखाए जा सकते और यदि सिखाए भी जायँ तो वे कृत्रिम आधार ग्रहण करनेके कारण अस्वाभाविक, सटीकताके अभावमें अवैज्ञानिक, और उचित वातावरणमें उपस्थित न किए जानेके कारण असंगत या अमनोवैज्ञानिक होंगे। हस्त-कौशलपर इतना अधिक बल देनेसे राष्ट्रीय बौद्धिक चेतनाके कुण्ठित हो जानेकी अधिक सम्भावना है क्योंकि व्यवसायमें फँसे रहनेवाले व्यक्तिको राष्ट्र-धर्म तथा राष्ट्रीय आत्म-सम्मानकी भावना उतनी प्रस्फुरित नहीं होती जितनी व्यापक और उदार शिक्षा पाए हुए व्यक्तिमें।

(२५) शिक्षासे विषयोंके अन्तर्योगका तात्पर्य यह है कि स्वाभाविक रूपसे पाठ्य विषयोंमें पारस्परिक एकात्मता स्थापित हो। किन्तु वर्धा-शिक्षा योजनामें हस्त कौशलके साथ पाठ्य-क्रमके विभिन्न विषयोंका अन्तर्योग कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है।

(२६) अध्यापकके व्यक्तित्वका कोई महत्त्व नहीं रह गया और वे पुतलीघरोंके फ़ोरमैन भर बने रह गए हैं।

(२७) इस शिक्षा-योजनामें धार्मिक, नैतिक तथा शारीरिक शिक्षाके लिये किसी प्रकारका कोई विधान नहीं है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण गुणों और दोषोंका भली भाँति परीक्षण कर लेनेपर यह समझनेमें तनिक भी सन्देह न रहेगा कि यह शिक्षा योजना व्यापक रूपसे प्रयोग करनेपर तो सफल नहीं हो सकती किन्तु कुछ विशिष्ट अध्यापकोंके द्वारा इसका सफल प्रयोग अवश्य किया जा सकता है। इसमें यदि उचित सुधार न हुआ और इसे ठीक रूपसे व्यवस्थित न किया गया तो बचा-खुची शिक्षा भी चौपट हो जायगी।

यह योजना बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर प्रदेश), आसाम और उड़ीसाकी सरकारोंने कुछ थोड़ा हेरफेर करके चलाई। उत्तरप्रदेश सरकारने तो प्रयागमें बेसिक ट्रेनिंग कालेज भी खोल दिया। मद्रास, बंगाल, पंजाब और सीमाप्रान्त तथा सिन्ध (अब पाकिस्तानमें) ने यह आधार-योजना नहीं स्वीकार की, यद्यपि निजी विद्यालयोंको इसका प्रयोग करनेके लिये छूट अवश्य दी। उड़ीसा सरकारने तो दो वर्षमें ही कन्धा डाल दिया और ६ फ़रवरी १९४१ का आधार विद्यालय बन्द करनेका निश्चय भी घोषित कर दिया। सन् १९४१ के अप्रैलमें जब दिल्लीमें द्वितीय आधार शिक्षा-सम्मेलन (सकेंड बेसिक एजुकेशन कॉनफ़्रेन्स) हुआ तो उसमें इस योजनाके बड़े गीत गाए गए और सबसे अधिक घातक निर्णय यह किया गया कि इसमें कोई हेरफेर न किया जाय। यह हठवादिता शिक्षाके क्षेत्रमें असत्य है क्योंकि शिक्षाके क्षेत्रमें तो सदा अच्छेका ग्रहण और बुरेका त्याग मान्य होना चाहिए।

२६

सार्जेण्ट शिक्षा-योजना

ब्रिटिश शिक्षा पद्धतिके युद्धोत्तर प्रसारके सम्बन्धमे पालियामण्टके सम्मुख प्रस्तुत किए हुए श्वेतपत्रका प्रारम्भ इन शब्दोंसे हुआ है—

'इस देश (भारत) का भाग्य इस देशकी जनताकी शिक्षापर अवलम्बित है।"

"और यदि ग्रेट ब्रिटेन देशका उद्धार चाहता है तो वह जहाँ अपने देशमें एक व्यक्तिपर तैंतीस रुपये दो आने प्रतिवर्ष व्यय कर रहा है और उसकी तुलनामें भारतमें जहाँ एक व्यक्तिपर आठ आने नौ पाई प्रतिवर्ष व्यय करता है वहाँ उसे भारतीय शिक्षापर अधिक व्यय करना चाहिए।"

विचारणीय विषय

सन् १९३५ में भारतका केन्द्रीय शिक्षा परामर्श मण्डल (सेंटल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ एजुकेशन) पुनः सघटित हुआ और उसने शिक्षाके निम्नलिखित विषय अध्ययन करने और उनपर अपना अध्ययन विवरण प्रस्तुत करनेका संकल्प किया—

१ बेसिक एजुकेशन या आधार शिक्षा

२ एडल्ट एजूकेशन या प्रौढ़ शिक्षा

३ फिज़िकल वेलफेयर ऑफ स्कूल चिल्डरन या विद्यालयके छात्रोंकी स्वास्थ्य रक्षा

४ स्कूल बिल्डिंग या विद्यालय भवन

५ सोशल सर्विस या समाज सेवा

६ प्रारम्भिक मिडिल और हाई स्कूलोंके अध्यापकोंकी शिक्षा और सेवाके अभिसंधान।

७. शिक्षाधिकारियोंकी भरती।

८ टेकनिकल एजुकेशन या व्यावसायिक शिक्षा जिसके अन्तर्गत वाणिज्य और कला भी हैं।

सदस्य

इस केन्द्रीय शिक्षा परामर्श-मण्डलके अध्यक्ष सरदार जोगेन्द्रसिंह थे जो उस समय वाइसरायकी कार्य-कारिणी समितिके शिक्षा, स्वास्थ्य तथा भूमि-विभागोंके सदस्य थे। भारत सरकारके शिक्षा-परामर्श-दाता जौन सार्जेण्ट पदेन इसके सदस्य थे। अन्य सदस्योंमें कुछ भारत-सरकार द्वारा मनोनीत थे, कुछ सामन्त-सभा द्वारा, कुछ व्यवस्थापिका सभा द्वारा, कुछ भारतके अन्तर्विद्यालय-मण्डल द्वारा।

शेष सदस्य विभिन्न प्रान्तोंके शिक्षा सचिव और शिक्षा-सचालक थे। इसके मन्त्री थे श्री डॉ० एन्० सेन, भारत सरकारके सहायक शिक्षा-परामर्श दाता। यह योजना मुख्य रूपसे जौन सार्जेण्टने ही प्रस्तुत की थी इसलिये यह उनके ही नामसे प्रसिद्ध है।

प्रस्ताव

भारतके इस केन्द्रीय शिक्षा-परामर्श-मण्डल (सेण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन) ने १९ जनवरी सन् १९४४ को भारतीय शिक्षाका पूर्ण पर्यवेक्षण करके एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की जो सार्जेण्ट योजनाके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें मुख्य बातें ये कही गई कि—

१. छ से चौदह वर्षतकके अवस्थावाले सब बच्चा (बालक-बालिकाओं) को अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

२. शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो।

३. सर्वबोध्य भारतीय भाषा हिन्दुस्तानीको हिन्दी (नागरी) और उर्दू लिपिके माध्यमसे पढ़ाया जाय।

४ सांस्कृतिक विषय स्वतन्त्र रूपसे पढ़ाए जायँ।

५. अध्यापकोंका सामाजिक मान बढ़ाया जाय।

६. कोई अध्यापक तीस रुपये मासिकसे कम वेतन न पावे।

७. प्रारंभिक कक्षाओंमें महिला अध्यापिकाओंकी संख्या बढ़ा दी ाय विशेषतः पूर्व प्रारंभिक कक्षामें नि.शुल्क शिशु शिक्षाके लिये ेवल ऐसी अध्यापिकाएँ ही रक्खी जायँ जो सामाजिक शिष्टाचार सेखा सकें।

८. पाठ्यक्रमका पुनः संस्कार किया जाय।

९. धार्मिक शिक्षा ऐच्छिक हो, अनिवार्य न हो।

१०. जूनियर या उत्तर प्रारम्भिक अवस्थामें अँगरेजी न पढ़ाई जाय केन्तु उच्च माध्यमिक अवस्था (सीनियर स्टेज) में प्रान्तीय शिक्षा-वेभाग आवश्यकतानुसार उसका संयोजन करें।

११. किसी प्रकारकी सार्वजनिक परीक्षाएँ (मिडिल या हाइ स्कूल) ा ली जायँ।

विस्तृत योजना

सार्जेण्ट शिक्षा समितिने भारतीय समाजकी आवश्यकताओंका ध्यान रखते हुए जो विस्तृत योजना बनाई उसमें उन्होंने शिक्षाकी सभी अवस्थाओंपर विचार किया।

१. शिशुशाला (नर्सरी स्कूल)

उनका कहना है कि ६ वर्षसे कम अवस्थाके बालकोंके लिये शिशु-विद्यालय खोले जायँ जिनमें बाल-शिक्षाशास्त्रमें निष्णात केवल महिलाएँ ही अध्यापन-कार्य करें और ये केवल शिष्टाचारकी शिक्षा दें। इस पूर्व-प्रारंभिक अवस्थामें जो शिक्षा दी जाय वह देशव्यापी, नि शुल्क और अनिवार्य हो।

२. आधार-शिक्षा (बेसिक एजुकेशन : प्राइमरी तथा मिडिल)

छ से १४ वर्षकी अवस्थाके बालकों और बालिकाओंको यथाशीघ्र व्यापक, अनिवार्य तथा नि शुल्क शिक्षा देनेकी व्यवस्था की जाय।

जब बालक छः वर्षके हो जायँ तब उन्हें प्रारम्भिक (प्राइमरी) अथवा लघ्वाधार (जूनियर बेसिक) पाठशालामें भरती किया जाय जहाँ वे कम-से-कम पाँच वर्षतक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करें। लघ्वाधार पाठशाला (जूनियर बेसिक स्कूल) पार कर चुकनेपर वे उच्चाधार (सीनियर बेसिक या मिडिल) श्रेणीकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उच्च आधार विद्यालयों (सीनियर बेसिक स्कूलों) में तीन वर्ष तक (ग्यारहसे चौदह वर्षकी अवस्थातक) अध्ययन करें।

३. प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय (पोस्ट प्राइमरी स्कूल)

प्रारम्भिक या लघ्वाधार (प्राइमरी या जूनियर बेसिक) पाठशालाके पाठ्यक्रमके पश्चात् उच्चाधार (सीनियर बेसिक या मिडिल) विद्यालयोंके अतिरिक्त एक और भी प्रकारके प्रारम्भिकोत्तर विद्यालय हों जिनमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके बालक भरती किए जायँ और जिनमें पाँच वर्षतक अनेक प्रकारके विषयोंकी शिक्षा दी जाती रहे जिससे कि वे व्यवसाय और वाणिज्यमें भी सीधे प्रवेश कर सकें या उसमेंसे निकलकर विश्वविद्यालयोंमें भी प्रवेश पा सकें। ऐसा भी विशेष प्रबन्ध किया जाय कि उच्चाधार विद्यालय (सीनियर बेसिक या मिडिल-स्कूल) में पढ़नेवाले या पढ़े हुए विद्यार्थी भी इन प्रारम्भिकोत्तर विद्यालयोंमें भरती किए जा सकें।

४. उच्चाधार कन्या विद्यालय (सीनियर बेसिक गर्ल्स स्कूल)

लघ्वाधार (जूनियर बेसिक) अथवा प्रारम्भिक अवस्थामें तो बालक और बालिकाओंकी शिक्षा समान हो किन्तु उच्चाधार (सीनियर बेसिक) अवस्थामें कन्याओंके पाठ्यक्रममें निम्नलिखित विषय बढ़ा दिए जायँ—पाकशास्त्र (भोजन बनाना), धुलाई-रँगाई, सीने पिरोने तथा कसीदेका काम, बुनाई, गृहस्थी, बच्चोंकी देखभाल और आकस्मिक चिकित्सा।

५. उच्च विद्यालय (हाइ स्कूल)

उच्च विद्यालयोंमें ग्यारह वर्षकी अवस्थाके बालक चुनकर भरती

किए जायँ जो वास्तवमें शिक्षासे लाभ उठा सकें। इन विद्यालयोंकी शिक्षावधि छः वर्षकी हो और इनमें विभिन्न प्रकारके पाठ्यक्रमोंकी योजना की जाय। इस प्रकार इन विद्यालयोंके निम्नलिखित रूप हों—

क—शास्त्रीय उच्च विद्यालय (एकेडेमिक हाइ स्कूल)

ख—व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक विद्यालय (टेकनिकल हाइ स्कूल)

ग—उच्च कन्या विद्यालय (गर्ल्स हाइ स्कूल)

६. विश्वविद्यालयकी शिक्षा

विश्वविद्यालयोंमें उपाधि (डिग्री अथवा बी० ए० के समकक्ष) परीक्षाके लिये दो वर्षके बदले तीन वर्ष लगाए जायँ। इन्टर कक्षाएँ तोड़ दी जायँ और अभी उस इन्टरका पहला वर्ष हटाकर विद्यालयमें जोड़ दिया जाय और दूसरा विश्वविद्यालयमें जिससे विश्वविद्यालयमे पढ़नेवाले छात्रको कम-से-कम तीन वर्षतक विश्वविद्यालयका सम्पर्क प्राप्त हो सके।

७. व्यावसायिक शिक्षा

व्यवसाय (इण्डस्ट्री), वाणिज्य (कॉमर्स) और कला (आर्ट)के सम्बन्धमें सार्जेण्ट-समितिने वे ही सुझाव दिए जो ऐबट और वुडने व्यावसायिक शिक्षाके सम्बन्धमें प्रस्तुत किए थे। किन्तु सार्जेण्ट-समितिने बहुशिल्पीय विद्यालयों (पौलिटेकनिकल) के बदले एक-शिल्पीय (मोनो टेकनिकल) विद्यालय खोलना अधिक श्रेयस्कर बताया।

८. सयानोंकी शिक्षा (एडल्ट एजूकेशन)

सरकारको चाहिए कि अगले बीस बरसोंतक वह साक्षरता-आन्दोलन चलावे और इस कार्यको स्वयं अपने हाथमें लेकर शिक्षा-संस्थाओंके सहयोगसे इसे समृद्ध तथा शक्तिशाली बनावे।

९. अध्यापकोंकी शिक्षा

अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये जो आजकल क्रम चल रहा है उसमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके यह व्यवस्था की जाय कि शिशुशालाकी अध्यापिकाओंको दो वर्ष, लघु तथा उच्चाधार पाठशालाओंके अध्यापकोंको तीन वर्ष, जो बी० ए० उत्तीर्ण न हों उन्हें दो वर्ष और बी० ए० उत्तीर्ण अध्यापकोंको एक वर्षतक विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंकी आवश्यकताके अनुरूप शिक्षाशास्त्रका अध्ययन कराया जाय।

१०. स्वास्थ्य

विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्रों तथा छात्राओंके स्वास्थ्यवर्धन तथा स्वस्थ वातावरणमें उनके पोषणकी व्यवस्थाका प्रबन्ध सरकारको करना चाहिए।

११. जड़ तथा विकलांगोंकी शिक्षा

हमारे देशमें जो असंख्य जड़, पागल, विकलांग (अन्धे, लँगड़े, लूले आदि) हैं उनकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध करना सरकारका परम धर्म है। विशेषत. बहरे और अन्धे बालकोंके लिये विदेशोंमें जो नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ चल निकली हैं उनका प्रयोग सरकारको तत्काल करना चाहिए।

१२. मनोरंजन तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ

विभिन्न प्रान्तके शिक्षा-विभागोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यालयोंको ऐसी मनोरजनात्मक तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके संयोजनके लिये प्रेरित करें जिनसे युवकोंमें उत्साह भरे और उन्हें नेतृत्वकी शिक्षा मिले।

१३ वृत्ति विमर्श-केन्द्र (एम्प्लोयमेंट ब्यूरो)

सरकारको स्थान-स्थानपर ऐसे वृत्ति-विमर्श-केन्द्र खोल देने चाहिएँ जहाँ पहुँचकर विद्यालयोंसे निकले हुए छात्र अपनी योग्यताके अनुरूप

वृत्ति, व्यवसाय या स्थान प्राप्त कर सकें और आवश्यक आदेश, निर्देश और परामर्श प्राप्त कर सकें ।

इन सुझावोंके अतिरिक्त सार्जेण्ट-समितिने विस्तारसे यह समझानेका प्रयत्न किया है कि विद्यालयोंकी देखभाल और उनका निरीक्षण किस प्रकार किया जाना चाहिए। अपनी योजनाका उपसंहार उन्होंने इस चीनी कहावतसे किया है—

यदि एक वर्षकी योजना बनानी हो तो अनाज बोओ।
दस वर्षकी बनानी हो तो पेड़ लगाओ।
सौ वर्षकी बनानी हो तो मनुष्य लगाओ।

सार्जेण्ट योजनाका विश्लेषण

भारतवर्षमें अभीतक जितनी शिक्षा-योजनाएँ बनीं, उन सबमें सर्वांगपूर्ण, व्यवस्थित तथा शिक्षासे सम्बद्ध सब क्षेत्रोंको स्पर्श करनेवाली यदि कोई योजना बनी तो वह सार्जेण्ट योजना ही थी। किन्तु इस योजनामें भी सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें अनेक प्रकारके ऐसे विद्यालय खोलनेका सुझाव दे दिया गया जिनकी व्यवस्था करना सरकार और जनता दोनोंकी शक्तिसे बाहर है। दूसरी त्रुटि यह रह गई कि शिक्षाको व्यावसायिक बनानेके फेरमें नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाकी पूर्णतः उपेक्षा की गई। शारीरिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी कोई ठीक योजना प्रस्तुत नहीं की गई और सबसे मुख्य बात तो यह है कि अध्यापकोंके वेतन-मानके सम्बन्धमें इस समितिने भी अत्यन्त कृपणताका परिचय दिया है। अध्यापकोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें भी जो दो-दो तीन-तीन वर्षका पाठ्य-क्रम रक्खा है, वह भी निरर्थक है क्योंकि अध्यापकके लिये शिक्षा-कला और शिक्षा-शास्त्रका जितना आवश्यक अंग है वह तो छः मासमें ही पूरा हो सकता है। ध्यान केवल यही रखना चाहिए कि ऐसे ही व्यक्ति अध्यापन-कार्यके लिये लिए जायँ जिनमें शिक्षणकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो। इस समितिने जड़ तथा

९. अध्यापकोंकी शिक्षा

अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये जो आजकल क्रम चल रहा है उसमें थोड़ा-सा परिवर्त्तन करके यह व्यवस्था की जाय कि शिशुशालाकी अध्यापिकाओंको दो वर्ष, लघु तथा उच्चाधार पाठशालाओंके अध्यापकोंको तीन वर्ष, जो बी० ए० उत्तीर्ण न हों उन्हें दो वर्ष और बी० ए० उत्तीर्ण अध्यापकोंको एक वर्षतक विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंकी आवश्यकताके अनुरूप शिक्षाशास्त्रका अध्ययन कराया जाय।

१०. स्वास्थ्य

विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्रों तथा छात्राओंके स्वास्थ्यवर्धन तथा स्वस्थ वातावरणमें उनके पोषणकी व्यवस्थाका प्रबन्ध सरकारको कराना चाहिए।

११. जड़ तथा विकलांगोंकी शिक्षा

हमारे देशमें जो असंख्य जड़, पागल, विकलांग (अन्धे, लँगड़े, लूले आदि) हैं उनकी शिक्षाका विशेष प्रबन्ध करना सरकारका परम धर्म है। विशेषतः बहरे और अन्धे बालकोंके लिये विदेशोंमें जो नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ चल निकली हैं उनका प्रयोग सरकारको तत्काल करना चाहिए।

१२. मनोरंजन तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ

विभिन्न प्रान्तके शिक्षा-विभागोंका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने विद्यालयोंको ऐसी मनोरंजनात्मक तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके संयोजनके लिये प्रेरित करें जिनसे युवकोंमें उत्साह भरे और उन्हें नेतृत्वकी शिक्षा मिले।

१३ वृत्ति-विमर्श-केन्द्र (येम्प्लोयमेंट ब्यूरो)

सरकारको स्थान-स्थानपर ऐसे वृत्ति-विमर्श-केन्द्र खोल देने चाहिएँ जहाँ पहुँचकर विद्यालयोंसे निकले हुए छात्र अपनी योग्यताके अनुरूप

२७

विश्वविद्यालय शिक्षा-समीक्षण मण्डल [१९४८]

स्वतन्त्र भारत सरकारने ४ नवम्बर १९४८को डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णनकी अध्यक्षतामें निम्नलिखित विषयोंपर विचार करनेके लिये एक शिक्षा-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया—

विचारणीय विषय

१. भारतमें विश्वविद्यालय-शिक्षा और अन्वेषणके उद्देश्य।

२ भारतीय विश्वविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी समितियोंमें आवश्यक परिवर्तन और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारसे उनका सम्बन्ध।

३. विश्वविद्यालयोंकी आर्थिक योजना।

४. विश्वविद्यालयों और उनके अधीन महाविद्यालयोंमें शिक्षा तथा परीक्षाके उच्चतम मान , स्टैण्डर्ड) की स्थापना।

५. मानव वृत्तियों और विज्ञानोंके बीच तथा शुद्ध विज्ञान और शिल्प-शिक्षाके बीच उचित सन्तुलनकी स्थापनाको दृष्टिमें रखते हुए विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रम।

६. अनुचित भेद-भावको दूर रखते हुए और विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका परीक्षाके स्वतन्त्र औचित्यकी दृष्टिसे विश्वविद्यालयके पाठ्य क्रममें प्रविष्ट होनेका मान (स्टैंडर्ड)।

७. विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाका माध्यम।

८. भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, भाषा, दर्शन तथा ललित कलाओंके उच्चतम अध्ययनकी व्यवस्था।

९. प्रादेशिक अथवा अन्य आधारोंके अनुसार अधिक विश्वविद्यालयोंकी आवश्यकता।

१०. विश्वविद्यालयों तथा उच्चतम अन्वेषणकी संस्थाओंमें ज्ञानकी

विकलांग व्यक्तियोंकी शिक्षाके लिये जो सुझाव दिया है वह अवश्य श्लाघ्य है और वृत्ति विमर्श केन्द्र खोलनेकी भी जो सम्मति दी है वह यदि सद्भावनाके साथ कार्य रूपमें परिणत की जाय तो देशकी बेकारी घटानेमें यह अवश्य सहायक हो सकती है। व्यापक रूपसे देखा जाय तो यह योजना अपने ढंगकी नई, पूर्ण, व्यापक तथा सर्वांग स्पर्शी है।

२७

विश्वविद्यालय शिक्षा-समीक्षण मण्डल [१९४८]

स्वतन्त्र भारत सरकारने ४ नवम्बर १९४८को डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्की अध्यक्षतामें निम्नलिखित विषयोंपर विचार करनेके लिये एक शिक्षा-समीक्षण-मण्डल नियुक्त किया—

विचारणीय विषय

१. भारतमें विश्वविद्यालय-शिक्षा और अन्वेषणके उद्देश्य।

२ भारतीय विश्वविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी समितियोंमें आवश्यक परिवर्तन और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारसे उनका सम्बन्ध।

३. विश्वविद्यालयोंकी आर्थिक योजना।

४. विश्वविद्यालयों और उनके अधीन महाविद्यालयोंमें शिक्षा तथा परीक्षाके उच्चतम मान (स्टैण्डर्ड) की स्थापना।

५. मानव वृत्तियों और विज्ञानोंके बीच तथा शुद्ध विज्ञान और शिल्प-शिक्षाके बीच उचित सन्तुलनकी स्थापनाको दृष्टिमें रखते हुए विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रम।

६. अनुचित भेद-भावको दूर रखते हुए और विश्वविद्यालयकी प्रवेशिका परीक्षाके स्वतन्त्र औचित्यकी दृष्टिसे विश्वविद्यालयके पाठ्यक्रममें प्रविष्ट होनेका मान (स्टैंडर्ड)।

७. विश्वविद्यालयोंकी शिक्षाका माध्यम।

८. भारतीय संस्कृति, इतिहास, साहित्य, भाषा, दर्शन तथा ललित कलाओंके उच्चतम अध्ययनकी व्यवस्था।

९. प्रादेशिक अथवा अन्य आधारोंके अनुसार अधिक विश्वविद्यालयोंकी आवश्यकता।

१०. विश्वविद्यालयों तथा उच्चतम अन्वेषणकी संस्थाओंमें ज्ञानकी

समस्त शाखाओंके सम्बन्धकी श्रेष्ठतम खोजका कार्य ऐसी सुसंबद्ध रीतिसे व्यवस्थित करना कि जिससे शक्ति और साधनोंका अपव्यय न हो।

११. विश्वविद्यालयोंमें धार्मिक शिक्षा।

१२ अखिल भारतीय रूपके काशी, अलीगढ़, दिल्ली आदि विश्वविद्यालयों तथा विद्यापीठोंकी विशेष समस्याएँ।

१३ अध्यापकोंकी योग्यता, सेवाके अभिसंधान, वेतन मान, अधिकार तथा कर्तव्य और अध्यापकोंके द्वारा मौलिक खोजके लिये प्रोत्साहन।

१४ छात्रोंका विनय और शील, छात्रावास, शिक्षा-व्यवस्था तथा अन्य ऐसे सभी विषय जो विश्वविद्यालय शिक्षा तथा भारतमें अभ्युन्नत खोजकी पूर्ण तथा व्यापक जिज्ञासाके लिये आवश्यक हों।

सदस्य

डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌के अतिरिक्त इस मण्डलके अन्य नौ सदस्योंमें डा० ताराचन्द, सर जेम्स डफ, डा० ज़ाकिर हुसैन, डा० आर्थर ई० मौर्गन, डा० ए लक्ष्मणस्वामी मुदालियर, डा० मेघनाद साहा, डा० कर्मनारायण बहल, डा० जौन० जे० टिगर्ट तथा श्री निर्मलकुमार सिद्धान्त थे। इस मंडलने अनेक शिक्षा शास्त्रियोंसे विचार-विमर्श करके, अनेक विश्वविद्यालयों और विद्यालयोंमें घूमकर, सबका विवरण लेकर, अनेक विद्वानोंसे अपनी प्रश्नमालाका उत्तर लेकर, सन् १९४९ में ६०० पृष्ठका एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

मंडलका निष्कर्ष

इस मण्डलने विश्वविद्यालय शिक्षाकी समस्त शाखाओंका भली प्रकार निरीक्षण करके यह सुझाव दिया कि—

१ उच्च श्रेणीकी व्यापक, व्यावसायिक तथा जीविका योग्य शिक्षापर ही लोकतंत्र अवलम्बित है अत सामाजिक उद्देश्योंके आधारपर ही हमें अपनी नीति स्थापित करनी चाहिए। यदि हम आत्माको भूखा रखकर

केवल व्यावसायिक और शिल्पीय शिक्षा देंगे तो ऐसा राक्षस-राज्य बनेगा जिसके वैज्ञानिकोंमें अध्यात्म-चेतना नहीं होगी तथा यांत्रिकोंमें नैतिक शून्यता व्याप्त होगी। अतः सभ्य होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अपने समाजमें दीनोंके लिये दया, महिलाओंके लिये आदर, मनुष्य-मात्रके लिये भ्रातृत्व, शान्ति और स्वातंत्र्यके लिये प्रेम, निर्दयताके लिये घृणा और न्याय-प्राप्तिके लिये अनवरत भक्तिकी भावनाको समृद्ध करना होगा। अतः विश्वविद्यालयोंका काम यह है कि इन आदर्शोंका पालन करे और अधिकाधिक संरक्षक लोगोंको शिक्षित करनेके उचित साधन प्रस्तुत करके उन्हें उचित रीतिसे शिक्षा दे।

२. अध्यापकोंका महत्त्व, उत्तरदायित्व तथा वेतनमान बढ़ा दिया जाय और चार प्रकारके प्राध्यापक हों—आचार्य (प्रोफ़ेसर), महाध्यापक (रीडर), प्रवक्ता (लेक्चरर) और प्राध्यापक (इंस्ट्रक्टर); खोज करनेके लिये कुछ विद्ववृत्तियाँ दी जाय; योग्यताके आधारपर वेतनमान बढ़ाया जाय; उचित प्राध्यापकोंके चुनावपर विशेष ध्यान दिया जाय; ६० वर्षकी अवस्थापर अवकाश दिया जाय (किन्तु आचार्योंकी अवधि ६४ वर्षतक भी बढ़ाई जा सकती है); और पोषण-कोष (प्रोविडेंट फण्ड), छुट्टी तथा शिक्षण-अवधिके सम्बन्धमें निश्चित नियम बना दिए जायँ।

३. विश्वविद्यालयोंमें इन्टरमीजिएट परीक्षाके पश्चात् ही छात्र भरती किए जायँ; छात्रोंको विभिन्न व्यवसायोंकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये व्यावसायिक विद्यालय खोले जायँ; हाइ स्कूल और इन्टरमीजिएटके अध्यापकोंका ज्ञान अभिनव बनानेके लिये पुनर्नवक-पाठ्यक्रम (रिफ्रेशर कोर्स) चलाया जाय; विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयोंके शास्त्र-(आर्टस्) विभागमें ३००० और विज्ञान-विभागमें १५०० से अधिक छात्र न लिए जायँ; वर्षमें परीक्षाके दिन छोड़कर कम-से-कम १८० दिन अवश्य पढ़ाई हो; ग्यारह-ग्यारह सप्ताहके तीन सत्र हों; केवल व्याख्यानोंके बदले व्यक्तिगत शिक्षा, पुस्तकालय-प्रयोग तथा लिखित अभ्यासोंकी प्रधानता हो; किसी भी विषयके लिये निर्धारित

पाठ्य-पुस्तकें न हों; छात्रोंकी उपस्थिति अनिवार्य हो; निजी रूपसे परीक्षा देनेकी आज्ञा गिने-चुने विशिष्ट लोगोंको ही दी जाय; विभिन्न प्रकारके कार्यालयोंमें काम करनेवाले लोगोंके लिये सान्ध्य विद्यालय चलाए जायँ और प्रयोग-शालाएँ सम्पन्न की जायँ।

४. एम् ए. और एम् एस्-सी. उपाधिके लिये समान नियम हों तथा विज्ञानोंकी पढ़ाईके लिये विशेष व्यवस्था हो।

५. चिकित्सा-विद्यालयोंमें सौ विद्यार्थी भरती किए जायँ; व्यवसाय-शिक्षाके लिये विशेष व्यावसायिक कौशलकी शिक्षा दी जाय, सरकारी नौकरीके लिये विशेष शिक्षाका प्रबन्ध किया जाय; व्यावसायिक शिक्षा, मजदूरोंकी समस्या तथा बाज़ारके सम्बन्धमें अन्य ज्ञातव्य बातोंकी शिक्षा देनेके लिये एक अलग पाठ्य-क्रम बनाया जाय।

६. धार्मिक शिक्षाके लिये शान्त ध्यान, धार्मिक नेताओंके जीवन-चरित, धर्मग्रन्थ तथा धर्मदर्शनकी क्रमशः शिक्षा दी जाय।

७. राष्ट्र-भाषामें वे सब शब्द लिए जायँ जो विभिन्न स्रोतोंसे चल पड़े हैं किन्तु वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दोंके लिये अन्तारार्ष्ट्रीय शब्द लेकर उन्हें भारतीय ध्वन्यनुकूल रीतिसे लिखा जाय। उच्च शिक्षाके लिये भारतीय भाषा ग्रहण की जाय (किन्तु संस्कृत नहीं)। उच्च विद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके छात्रोंको प्रादेशिक भाषा, राष्ट्रभाषा और अँगरेज़ी जाननी चाहिए। राष्ट्रभाषा केवल देवनागरी लिपिमें ही लिखी जाय। नवीनतम ज्ञानसे परिचित रहनेके लिये हाइ स्कूलों और विश्वविद्यालयोंमें अँगरेज़ी पढ़ाई जाय किन्तु राष्ट्र-भाषाके शिक्षणके लिये तत्काल उपाय किए जायँ।

८. सार्वजनिक परीक्षा बन्द करके विभिन्न नौकरियोंके लिये सरकार अपनी परीक्षा ले; एक तिहाई अंक वर्ष भरके कामपर दिए जायँ, परीक्षाएँ छोटे-छोटे खंडोंमें और एक-एक विषयके अनुसार अलग-अलग समयपर ली जायँ, इकट्ठी नहीं और जब कोई छात्र एक पाठ्य-क्रमके सब विषयोंमें उत्तीर्ण हो जाय तब उसे उपाधि दी जाय। सब विश्वविद्यालयोंमें उत्तीर्ण

होनेके अंक समान हों और मौखिक परीक्षा केवल परस्नातक (पोस्ट ग्रेजुएट) तथा व्यावसायिक परीक्षाओंमें ही ली जाय।

९. योग्यताके आधारपर छात्रोंकी भरती हो; योग्य, तथा वास्तवमें दीन छात्रोंको ही छात्रवृत्ति दी जाय; छात्रोंके स्वास्थ्यका ध्यान रक्खा जाय और ऐसे सब उपाय किए जायँ जिनसे उनके शारीरिक वैभवका विकास हो; राष्ट्रीय सैन्यमण्डल (नेशनल केडेट कोर) में सभी छात्र और छात्राओंको भरती किया जाय; समाज-सेवाकी भावना छात्रोंमें भरी जाय; छात्रावासोंसे जातीयता हटाकर शिक्षित भोजन-शास्त्रियोंके अधीन पाक-शालाएँ चलाई जायँ; अध्यापकोंके साथ छात्रोंका संपर्क बढ़ाया जाय; अत्यन्त सुशील तथा मेधावी छात्र ही अग्रणी (मॉनीटर) बनाए जायँ; छात्र-संघोंकी प्रवृत्तियाँ यथासंभव राजनीतिक प्रवृत्तियोंसे दूर हों और उनमें विश्वविद्यालयोंके अधिकारियोंका कोई हस्तक्षेप न हो; छात्रोंको दलगत राजनीतिसे दूर रखकर उन्हें स्वशासनके कार्यमें प्रवृत्त किया जाय और अध्यापक, अभिभावक, राजनीतिक नेता, जनता और समाचार-पत्रोंका भी सहयोग लिया जाय और छात्र-सुविधा-मंडल (एडवाइज़री बोर्ड ऑफ स्टूडेंट्स वेलफेयर) स्थापित किया जाय जो निरन्तर छात्रोंकी सुविधाओंके उपाय सोचे।

१०. महिलाओंकी शिक्षाके सम्बन्धमें अधिक ध्यान देकर उन्हें शिक्षाकी अधिक सुविधाएँ दी जायँ; शिक्षाके तत्वोंमेंसे कुछ तो महिला और पुरुष दोनोंके लिये समान हों किन्तु दोनोंकी पूरी शिक्षा एक सी न हो और महिला अध्यापकोंको पुरुषोंके समान ही वेतन दिया जाय।

११. शुद्ध सम्बन्धकारी विश्वविद्यालय बन्द कर दिए जायँ और सभी सरकारी महाविद्यालय किसी न किसी विश्वविद्यालयसे सम्बद्ध कर दिए जायँ, महाविद्यालयोंकी प्रबन्धकारिणी-समितियाँ सुधार दी जायँ और विश्वविद्यालयमें निम्नलिखित अधिकारी हों—(क) संप्रेक्षक (विज़िटर, जो गवर्नर जनरल ही होंगे), (ख) महाकुलपति (चांसलर, प्रायः

प्रान्तीय प्रान्तपति), (ग) कुलपति (वाइस चासलर) जो सर्वकालिक अधिकारी होंगे, (घ) महासभा (सीनेट या कोर्ट), (ङ) कार्यकारिणी समिति (एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल या सिण्डिकेट), (च) शिक्षा विधान-समिति (एकेडेमिक कौंसिल), (छ) शास्त्रीय संघ (फ़ैकल्टीज़), (ज) शिक्षा मण्डल (बोर्ड्स ऑफ़ स्टडीज़), (झ) अर्थसमिति (फाइनेंस कमेटी) और (ञ) चुनाव-समितियाँ (सिलेक्शन कमिटीज़)।

१२ केन्द्रीय सरकारको उच्चतर शिक्षाका भार अपने ऊपर लेकर भवन निर्माण तथा उपकरण (इक्विपमेंट)के लिये धन देना चाहिए।

१३. बनारस, अलीगढ़ और देहली विश्वविद्यालय भी सम्बन्धकारी और शिक्षणकारी हों, इन विश्वविद्यालयोंका शिक्षा-माध्यम राष्ट्रभाषा हो और इनका जातीय स्वरूप दूर करके इनकी प्रबन्ध-समितियोंमें अन्य जातियोंके लोग भी लिए जायँ।

१४. शान्ति-निकेतनकी विश्वभारती और दिल्लीके पास जामिया नगरकी जामिया मिल्लियाको भी विश्वविद्यालय मान लिया जाय।

१५. ग्राम-प्रदेशोंमें उच्चतम शिक्षाका विकास करनेके लिये विशेष उद्योग किया जाय।

विश्लेषण

इस मण्डलने शिक्षाके विभिन्न पक्षोंपर विचार करके यद्यपि विशेष रूपसे विश्वविद्यालयकी शिक्षाके सम्बन्धमें ही अपने सुझाव दिए हैं किन्तु वे सभी प्रकारकी भारतीय शिक्षा नीतिके लिये भी अधिक सहायक सिद्ध होंगे। किन्तु इस मण्डलने पाठ्य-क्रम और परस्पर संयुक्त विषयोंकी सीमा और परिधिका न तो ठीक सम्बन्ध सुझाया और न उनके क्रमिक संयोगका विधान ही बताया। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस मण्डलने परीक्षाकी आवश्यकता समझी और इस सम्बन्धमें जो सुझाव दिए वे भी उस सम्पूर्ण नीतिके लिये घातक हैं जो अपने व्यापक विवरणके प्रारम्भमें मण्डलने आदर्श रूपमें उपस्थित किए हैं। इस मण्डलने छात्रोंको समाज सेवा और स्वशासन सचालक बनानेकी

सम्मति तो दी, किन्तु कोई ऐसी व्यवस्था नहीं सुझाई जिससे समाज-सेवा और स्वशासनका स्वरूप स्पष्ट हो सके। छात्रोंके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें भी मंडलने बहुतसे चलते सुझाव दिए हैं जिनमेंसे अधिकांश या तो अस्वाभाविक हैं (जैसे सबके लिये अनिवार्य सैन्य-शिक्षा) या अप्रयोजनीय। धार्मिक शिक्षाके सम्बन्धमें भी जो नीति निर्धारित की है वह मध्यम मार्गी है जिससे न कोई उद्देश्य सिद्ध होगा न प्रयोजन, क्योंकि महापुरुषोंके जीवनचरित्त तो छात्र यों ही अनेक रूपोंमें पढ़ और सुन लेते हैं किन्तु व्यवस्थित धर्म-शिक्षासे आचार-विचार, नैतिकता और ईश्वरभीरुताके जो सात्विक भाव प्रदीप्त होते हैं वे इस चलती धर्म शिक्षासे संभव नहीं हो सकते। इसी प्रकार कन्याओंकी शिक्षाके सम्बन्धमें कोई स्पष्ट शिक्षा नीति प्रतिपादित नहीं की गई। अधिक आश्चर्य इस बातका है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयको निर्ज्ञाति बनानेका जो सुझाव दिया गया है वह कैसे और क्यों दिया गया क्योंकि ये विश्वविद्यालय स्पष्ट रूपसे दो विभिन्न संस्कारोंके धार्मिक स्वरूपको शिक्षा-द्वारा सम्पन्न करनेके लिये बनाए गए थे। यह नैतिक दृष्टिसे कहाँतक उचित है कि एक उद्देश्यसे जनताके माँगे हुए धनका उपयोग किसी दूसरे उद्देश्यके लिये किया जाय? विश्वविद्यालयोंकी व्यवस्थाके लिये भी जो बहुत-सी प्रबन्ध-समितियाँ बना दी गई हैं, वे भी निरर्थक ही हैं। एक समिति, नीति निर्धारित करनेके लिये और दूसरी समिति प्रबन्धके लिये बना देना ही इसके लिये पर्याप्त होता। अधिक समितियाँ बनानेसे संघर्ष अधिक बढ़ता है और शिक्षण-कार्यमें बाधा पड़ती है। प्राध्यापकोंकी कई श्रेणियाँ बनाना भी न तो नैतिक दृष्टिसे ठीक है, न सामाजिक दृष्टिसे। प्राध्यापकोंकी भी एक ही श्रेणी होनी चाहिए और विभागके अध्यक्ष-पदका भार योग्यता, अनुभव तथा वयोवृद्धताके आधारपर बारी बारीसे दिया जाया करे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस मण्डलने बहुतसे अत्यन्त महत्वके

सुझाव भी दिए हैं जिनमें सबसे बड़ी बात है आध्यात्मिक शिक्षाका महत्त्व बढ़ाना, सार्वजनिक परीक्षा बन्द कर देना, सम्बन्धकारी विद्यालय बन्द करके शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयोंको प्रोत्साहन देना तथा ग्रामीण प्रदेशोंमें उच्चतम शिक्षाके विकासका उद्योग करना।

परिणाम

अभी यह योजना नई ही है किन्तु फिर भी विश्वविद्यालयोंका रूप इनके अनुसार धीरे-धीरे ढाला जा रहा है और विश्वास है कि निकट भविष्यमें ही इसके उपादेय प्रस्ताव व्यापक रूपसे मान लिए जायँगे।

२८

शिक्षाके नये प्रयोग

हमारे देशमें नवीन अँगरेज़ी शिक्षाके ऊपरसे अनेक शिक्षाचार्यों तथा महापुरुषोंने कुछ तो प्राचीन शैलीके विद्यालय खोले जिनमें गुरुकुल और ऋषिकुल प्रमुख रूपसे उल्लेखनीय हैं, कुछने प्राचीन और नवीनका सामञ्जस्य स्थापित करके अथवा अपनी नई शैलीपर ही नये प्रयोग किए जिनमेंसे मुख्य मुख्यका परिचय यहाँ दिया जाता है।

विश्वभारती

सन् १८३३ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोरने साधकोंके लिये बंगालमें बोलपुरके पास जो शान्तिनिकेतन स्थापित किया था, उसीमेंसे विश्वभारतीकी उत्पत्ति हुई। सन् १९०१ ई०में कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोरने गिने चुने बच्चोंके विद्यालयके रूपमें इसे स्थापित किया, जिसका उद्देश्य यह था कि बच्चोंको ऐसी शिक्षा दी जाय जो प्रकृतिसे विलग न हो, जहाँ बच्चे परिवारके वातावरणका अनुभव करें अर्थात् संस्थाको आत्मीय समझें, जहाँ वे स्वतन्त्रता, पारस्परिक विश्वास और उल्लासके साथ अध्ययन करें और रहें। ६ मई सन् १९२२ ई०को अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयके रूपमें विश्वभारतीकी स्थापना हुई जिसके उद्देश्य थे—

१. पूर्वकी विभिन्न संस्कृतियोंको उनकी मौलिक एकताके आधारपर सन्निकट लाना,

२. इसी एकताके आधारपर पश्चिमके विज्ञान और संस्कृतिके समीप पहुँचना; और,

३. अध्ययन तथा मानवीय चेतनाके सर्वसाधारण सहबन्धुत्वका अनुभव करना, पूर्व और पश्चिमका समन्वय करना और इस प्रकारसे

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिससे विश्व बन्धुत्व और विश्व एकता सम्भव हो सके।

शान्ति निकेतन

कलकत्तेसे लगभग १०० मीलपर नगरके कोलाहलसे दूर खुले मैदानमें शान्तिनिकेतन स्थित है, जहाँ अध्यापकों और छात्रोंमें परस्पर स्नेह और आदरकी भावना विद्यमान है, जहाँ ऋतुके पर्व, उत्सव, समाज और नाट्य प्रयोग तथा पास पड़ोसके सुधार कार्यके लिये सब लोग मिलते हैं और बाहरसे आनेवाले अनेक महापुरुषोंके संसर्गमें आते हैं।

विश्वभारतीका व्यापक रूप

विश्वभारतीमें पाठ भवन, विद्या भवन, चीना भवन, कला-भवन, संगीत भवन, श्री निकेतन (हस्तकौशल तथा ग्रामोद्योग विभाग), पुस्तकालय और विभागीय पुस्तकालय हैं। यहाँ सबसे बड़ी सुविधा यही है कि विद्यार्थी चाहे जिस विभागमें अध्ययन कर सकते हैं। छोटे बच्चों, बड़े बच्चों, युवक छात्रों, खोज विभागके छात्रों और महिलाओंके लिये अलग अलग छात्रावास हैं। यहाँका कार्यक्रम इस प्रकार है—

जागरण	४॥ बजे
आवास झाड़ना	४.५०
व्यायाम	४ ५५
स्नान	५ ३०
कलेवा	५.५५
वैतालिक तथा समवेत उपासना	६.१५
अध्ययनाध्यापन	६ ३० से १०.३० तक
प्रक्षालन	१०.३०
मध्याह्न भोजन	१० ५०
विश्राम दोपहर	१२ १५
व्यक्तिगत अध्ययन	१ ५ से २ तक

अध्ययनाध्यापन	२ से ४ तक
आवास-शुद्धि	४.१५
जलपान	४.२५
उपस्थिति-लेखन	४.४०
खेल	४.५५ से ५.५५
प्रक्षालन-संध्या	६ बजे
समवेत उपासना	६.२०
अध्ययन और व्याख्यान	६.२० से ७.४५ तक
संध्या-भोजन	८ बजे
विश्राम	९ बजे

विश्वभारतीका विश्लेषण

विश्वभारतीकी स्थापनाके समय जो महान् उद्देश्य दृष्टिमें रक्खे गए थे और जिस विश्वबन्धुत्वकी उस समय कल्पना की गई थी उसकी कुछ सिद्धि तो अवश्य हुई है, किन्तु उस भावनाके पीछे कवीन्द्र रवीन्द्रका व्यक्तित्व इतना प्रमुख था कि उसके अभावमें उसका उद्देश्य आज शिथिल पड़ गया है। इतने महान् उद्देश्य वास्तवमें धन-बलपर नहीं, व्यक्तित्वके बलपर चलते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस संस्थाके द्वारा भारतीय कलाओंका बड़ा प्रचार हुआ; किन्तु विश्वबन्धुत्व और सांस्कृतिक एकताकी जिस उदात्त भावनाके साथ विश्वभारतीका जन्म हुआ था वह अभीतक पूरी नहीं हो पाई और अब पूरी होगी भी नहीं क्योंकि यह संस्था भी विश्वविद्यालयोंका पाठ्यक्रम पूरा करनेके फेरमें पड़ गई है। वास्तवमें इसमेंसे ऐसे सांस्कृतिक दूत उत्पन्न किए जा सकते थे जो संसार भरके विभिन्न देशोंमें पहुँचकर सांस्कृतिक विनिमय करके इस संस्थाके मूल उद्देश्यकी पूर्त्ति कर सकते। अब तो वह शुद्ध रूपसे अन्य विश्वविद्यालयोंके समान केन्द्रीय सरकारके अधीन सांस्कृतिक विश्वविद्यालयके रूपमें परिणत हो गई है और थोड़े दिनोंमें उसकी भी वही दशा हो जायगी जो अन्य विश्वविद्यालयोंकी हो गई है

या होती जा रही है, क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्यचक्रके केन्द्रीय शासनमें रहकर यह कितनी सांस्कृतिक रह सकेगी यह अत्यन्त विचारणीय है।

बॉएज ओन होम (छात्राणां स्वगेहम्)

कलकत्तेके पास कासीपुरमें श्री रेवाचन्द अभिमानन्दने सन् १९०४ में प्राचीन भारतीय गुरुकुलकी मर्यादा और रीतिके अनुसार भारतीय बालकोंको आदर्श ढगसे शिक्षा देनेके लिये गिने-चुने थोड़ेसे विद्यार्थियोंको लेकर बॉएज़ ओन होम (छात्राणां स्वगेहम् या बालकोंका अपना घर) नामका विद्यालय स्थापित किया। उनका उद्देश्य था कि—

१ थोड़ेसे बालक ही लिए जायँ जिनका ठीक-ठीक अध्ययन करके उन्हें शिक्षा दी जा सके।

२ प्रवेशके समय उनकी अवस्था पाँचसे ऊपर और दससे नीचे हो अर्थात् वे न बहुत छोटे हों न बहुत बड़े हों जिससे वे घरके वातावरण तथा भावनाको भली भाँति ग्रहण कर सकें।

३ सोलह वर्षकी अवस्थातक वे विद्यालयमें रहें।

४ विद्यालयका छोटेसे छोटा काम करनेमें भी उन्हें संकोच न हो अर्थात् वे प्राचीन शिष्योंके समान झाड़ू-बुहारू करना, लीपना पोतना, मरम्मत करना, हाट करना और भोजन बनाना आदि सब कार्य रुचि-पूर्वक कर सकें।

५. उनका कोई निजी अध्यापक (प्राइवेट ट्यूटर) न हो।

उस विद्यालयमें आचार्य अभिमानन्दको लिए दिए कुल चार अध्यापक थे जिनका सम्बन्ध छात्रोंसे पिता-पुत्रका था। ये अध्यापक भी उसी विद्यालयके प्राचीन छात्र थे, इसलिये उनमें विद्यालयकी भावना पूर्ण रूपसे ओत प्रोत थी। इस विद्यालयमें सब विषयोंका सहज प्रणाली (डाइरेक्ट मैथड)से, अर्थात् विज्ञानका सप्रेक्षण और अनुभवसे, भाषा और साहित्यका वाचन और प्रश्नोत्तरसे, भूगोलका मान-चित्रसे अध्यापन कराया जाता था। इस प्रणालीसे छात्रोंमें ऐसी आत्म-प्रेरणा तथा सक्रियता आती थी, जो साधारण विद्यालयोंमें देखनेको नहीं

मिलती। सर माइकेल सैडलरने इस विद्यालयको अत्यन्त कुतूहलजनक विद्यालयोंमेंसे एक बताते हुए कहा है कि "इस विद्यालयके छात्रोंकी अँगरेज़ी और भाषा-शैली, अँगरेज़ लड़कोंसे कहीं अधिक शुद्ध है।" होम या गृह (विद्यालय) छोड़नेसे पूर्व प्रत्येक छात्रको अध्यापनका भी कार्य करना पड़ता है, जहाँ बड़े छात्र, छोटे छात्रोंको पढ़ाते हैं। इस प्राचीन शिष्याध्यापक-प्रणालीसे बड़े विद्यार्थियोंमें विनयकी भावना तो आती ही है, साथ ही अपने भाव स्पष्टतासे व्यक्त करनेकी शक्ति भी सुव्यवस्थित होती चलती है।

इस विद्यालयमें कक्षाएँ नहीं हैं, केवल विभिन्न विषयोंकी योग्यताके अनुसार छात्रोंकी श्रेणियाँ बनी हैं। एक ही बालक अँगरेज़ीके लिये एक श्रेणीमें, बँगलाके लिये दूसरी श्रेणीमें और भूगोलके लिये तीसरी श्रेणीमें अपनी योग्यता और गतिके अनुसार शिक्षा ग्रहण करता है। इसीलिये न वहाँ वार्षिक परीक्षा है न अग्रारोहण। प्रति शनिवारको सप्ताह भरके पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति हो जाती है और जब कोई पुस्तक या विषय समाप्त हो जाता है तभी उसकी परीक्षा ले ली जाती है। इस प्रकार जब एक बालक किसी एक श्रेणीमें श्रेष्ठ प्रमाणित हो जाता है तो वह तत्काल ऊँची श्रेणीमें भेज दिया जाता है और वह एक वर्षतक एक ही कक्षामें पड़े सड़ते रहनेकी लज्जाजनक और अनैतिक पद्धतिके चक्रमें नहीं डाला जाता।

इस विद्यालयमें प्रातः दस बजेसे सायं साढ़े पाँच बजेतक सब छात्र अपने अध्यापकोंसे शिक्षा पाते, उनकी बातें सुनते, भारतीय खेल खेलते, शारीरिक श्रम करते और एक साथ अपने अध्यापकोंकी पितृच्छायामें तैरते-खेलते हुए व्यस्त रहते हैं। इस प्रकार उनके चरित्रमें विनय, आज्ञाकारिता, कर्तव्यशीलता, नियमितता, स्वच्छता और सद्वृत्तिकी भावना उदय होती है। यद्यपि विशिष्ट रूपसे कोई धर्मकी शिक्षा नहीं दी जाती किन्तु वहाँका सारा वातावरण ही धार्मिक है।

यह यौण्ड्ज़ ओल्ड होम सर्वप्रथम शान्तिनिकेतनमें ही स्वामी

उपाध्याय ब्रह्मबान्धवने प्रारम्भ किया था। विश्व-भारती या शान्ति-निकेतनकी अपेक्षा भारतीय-शिक्षा-समस्याको उचित रूपसे सुलझानेके लिये यह अधिक श्रेष्ठ आदर्श है।

चिपलूणकर-योजना

सन् १८८० ई०में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्री आगरकर और श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकरके प्रयाससे पूनेमें 'न्यू इंग्लिश स्कूल'की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय शिक्षा देना था। सन् १८८५में इन्होंने सोचा कि एक समाज बनाकर पूनेमें सार्वजनिक विद्यालय खोल दिया जाय। यही विद्यालय था फर्गुसन कालेज, जिससे पराँजपे, गोखले, कर्वे, तिलक जैसे बड़े-बड़े नेता सम्बद्ध थे। इस प्रकारकी विद्यालय व्यवस्थाका नाम ही चिपलूणकर योजना पड़ गया।

चिपलूणकर-योजनाकी विशेषता यह है कि इस प्रकारके सब विद्यालय चन्दा देनेवालोंके द्वारा नहीं वरन् उन काम करनेवालोंके द्वारा ही व्यवस्थित होते हैं जो सेवा और आत्म-त्यागका व्रत ले लेते हैं और लगभग २० वर्ष तक नाम मात्रके जीवन यापन योग्य वेतन लेकर सेवा करते हैं। इन संस्थाओंमेंसे महाराष्ट्रके बड़े-बड़े नेता, लेखक, साहित्य-कार और देशसेवक निकले हैं।

भारत-सेवक समिति (सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी)

सन् १९०५ ई०में श्री गोपालकृष्ण गोखलेने भारत सेवक-समिति (सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी) की स्थापना की जहाँ लोग कम वेतन लेकर देश-सेवा करते हैं। यह संस्था लोक-प्रसिद्ध है और इसके प्रमुख सदस्योंमें महामाननीय पं० श्री निवास शास्त्री तथा पं० हृदय नाथ कुँजरू प्रसिद्ध हैं। इस संस्थाका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन करनेके बदले राजनीतिक शिक्षा देना है और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्रके जैसे धुरंधर पण्डित यहाँसे निकले उतने किसी दूसरी संस्थासे नहीं।

रैयत शिक्षण-संस्था

सन् १९१९ ई०में श्री भाऊराव पटेलने निम्नलिखित उद्देश्योंसे सताराके पास रैयत-शिक्षण-संस्था स्थापित की—

१. शुद्ध शिक्षा-सुधारके उद्देश्यसे भारतकी जागरणशील पीढ़ीके लिये सामान्यतः तथा सतारा जनपदके निवासियोंके लिये विशेषतः प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा प्रदान करना।

२. उपर्युक्त उद्देश्योंके लिये उपयुक्त अध्यापक तैयार करना।

३. ग्राम-सुधार तथा ग्रामोद्योगके लिये सेवक तैयार करना।

यह विद्यालय अत्यन्त सुंदर स्थानमें नगरसे दूर बसा हुआ है जहाँ छोटे-छोटे भवन स्वयं छात्रोंने तैयार किए हैं। यहाँ खेती और उद्यान-कलाकी शिक्षा दी जाती है। यहाँ कोई भी वेतन-भोगी कर्मचारी नहीं है। यहाँके सब लोग अनाज, तरकारी आदि स्वयं उत्पादन करते हैं, सब जाति और धर्मके विद्यार्थी एक साथ खाते, पीते, रहते और पढ़ते हैं। पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता और विश्वबंधुत्वकी दृष्टिसे यह विद्यालय आदर्श है। विद्या और शिक्षाके प्रसारके लिये इस संस्थाने बड़ा कार्य किया है किन्तु दुःख यह है कि भारतके प्रांतीय शिक्षा-विभागोंने इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

व्रताचारी समाज

बंगालमें व्रताचारी आन्दोलन भी एक प्रकारका राष्ट्रीय शिक्षान्दोलन है। इसके कुछ विशेष आदर्श हैं और उन आदर्शोंको प्राप्त करनेके लिये एक व्यावहारिक क्रम है। व्रताचारी वह पुरुष है जो व्रत लेकर किसी आदर्शके अनुकूल उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये शिक्षा ग्रहण करे।

उद्देश्य

व्रताचारी प्रणालीका उद्देश्य है पूर्ण मनुष्य बनाना और इसीलिये इसके शिक्षाक्रममें ऐसे विषय हैं जिनसे मनुष्यकी सब शक्तियोंका एक साथ और समवेत विकास हो। इस प्रणालीमें जाति, धर्म, अवस्था

और लिंगका कोई भेद नहीं है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको पाँच व्रत लेने पड़ते हैं—

ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनन्द।

इस पचांगी आदर्शको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक वयस्क ब्रह्मचारीके लिये सोलह सरल और उत्साहवर्धक प्रण करने पड़ते हैं और सत्रह निषेधोंका पालन करना पड़ता है। अल्पवयस्क व्रताचारीको बारह प्रण करने पड़ते हैं।

सिद्धान्त

इस प्रणालीका मूल सिद्धान्त है बन्धुत्व, जो गीतों और शारीरिक व्यायामोंके तालसे उत्पन्न होता है। उस तालसे शरीर और मन दोनोंकी शिक्षा होती है, जड़ता दूर हो जाती है, श्रमके लिये शक्ति और तेज प्राप्त होता है, विचार और क्रियामें सन्ताप और उत्साह मिलता है। अतः इस प्रणालीमें तालका बड़ा महत्व है। स्वस्थताके लिये अन्य व्यायामोंकी अपेक्षा देशी खेल और ग्राम-नृत्योंको अधिक स्थान दिया गया है। इस आन्दोलनका मूल श्री जी० एस० दत्तकी उन विस्तृत खोजोंमें है जो उन्होंने सन् १९२१ ई० और ३२ के बीच ग्राम-गीतोंके सम्बन्धमें की थीं। यह आन्दोलन इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि बंगालके बाहर भी ऐसी संस्थाएँ खोली जाने लगीं।

प्रण

इस प्रणालीके निम्नलिखित सोलह प्रण हैं—

१ ज्ञानकी परिधि बढ़ाना।
२ जंगल और झाड़ दूर करना।
३ श्रमका आदर करना।
४ तरकारी और फल उगाना।
५ प्रकाश और वायुकी स्वतन्त्र गति रखना।
६ पशु पालन।

७. जल-शुद्धि।
८. स्वच्छता।
९ शारीरिक व्यायाम और खेलकी वृद्धि।
१० स्त्रियोंका उद्धार।
११ विवाहके पूर्व कमाना।
१२. हस्तकौशल या उद्योग सीखना।
१३. समयका पालन।
१४. दूसरोंकी सेवा करना।
१५. बन्धुत्व और समान नागरिकताकी भावना बढ़ाना।
१६. आनन्दकी भावना बढ़ाना।

[महिलाओंके लिये ग्यारहवें प्रणके बदले होगा—शीलयुक्त व्यवहार।]

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रण हैं।

१. वस्तुएँ व्यर्थ न फेंकना।
२. परिपाटीका पालन करते हुए आगे बढ़ना।
३. नेताकी आज्ञा मानना।
४. आचार्यकी प्रेरणासे कार्य करना।

निषेध

इस प्रणालीमें निम्नलिखित सत्रह निषेध हैं—

१. धोतीका पल्ला नहीं लटकाऊँगा।
२. खिचड़ी भाषा नहीं बोलूँगा।
३. शरीर मोटा नहीं होने दूँगा।
४. बिना भूखके नहीं खाऊँगा।
५. आयसे अधिक व्यय नहीं करूँगा।
६. कोई भी विघ्न बाधा आजानेपर डरूँगा नहीं।
७. विलासप्रिय नहीं बनूँगा।
८ क्रोध आनेपर भी क्रोध प्रदर्शन नहीं करूँगा।

९. विपत्तिमें भी मुस्कराना नहीं भूलूँगा।
१०. अभिमानसे फूलूँगा नहीं।
११ विचार और भावमें भी असभ्यता नहीं लाऊँगा।
१२. किसीसे दु शील व्यवहार नहीं करूँगा।
१३. कभी भाग्य और दैवपर भरोसा नहीं करूँगा।
१४. बिना परिश्रम किए नहीं बैठूँगा।
१५. असफलतासे पराजित नहीं होऊँगा।
१६ जीविकाके लिये भिक्षा नहीं मागूँगा।
१७ अपने वचन नहीं तोड़ूँगा।

महिलाओंके लिये विशेष निषेध

महिलाओंके लिये इन निषेधोंमेंसे १ और ३ सम्यक निषेध इस प्रकारसे होंगे—

१ किसीकी अत्यन्त चाटुकारी और उपचारसे पिघलूँगी नहीं।
३. गृहस्थीका काम छोड़कर इधर उधरका कोई काम नहीं करूँगी।

प्रवेश संस्कारके समय

इसके अतिरिक्त प्रवेश संस्कारके समय स्वीकार किए जानेवाले और भी नियम हैं। जैसे—

१ एक बारसे अधिक या आवश्यकतासे अधिक ऊँचे स्वरसे न बोलना।
२ किसी प्रकारके शारीरिक कार्यसे घृणा न करना या दूसरेपर अवलम्बित न होना।
३ प्रतिदिन कुछ न कुछ नया सीखना।
४. कोई न कोई दोष नित्य छोड़ देना।

अल्पवयस्क व्रताचारीके नियम

अल्पवयस्क या छोटा व्रताचारीके लिये निम्नलिखित बारह प्रण हैं—

१ मैं दौड़ूँगा, खेलूँगा और हँसूँगा।

२. मैं सबसे प्रेम करूँगा।
३. मैं बड़ोंका कहना मानूँगा।
४. मैं पढ़ूँगा, लिखूँगा और सीखूँगा।
५. मैं जीवोंपर दया करूँगा।
६. मैं सत्य बोलूँगा।
७. मैं सत्यपर चलूँगा।
८. मैं अपने हाथसे सब वस्तुएँ बनाऊँगा।
९. मैं अपना शरीर पुष्ट करूँगा।
१०. मैं सदा अपने दलके लिये लडूँगा।
११. मैं अपने अंगोंसे श्रम करूँगा।
१२. मैं प्रसन्न होकर नाचूँगा।

विश्लेषण

इस प्रणालीकी प्रशंसा रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर राधाकृष्णन्, सर माइकेल सैडलर, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियोंने की है। किन्तु जहाँ इतने अधिक नियम हों, व्रत हों और प्रण हों उनका पालन करना सरल कार्य नहीं है इसीलिये यह प्रयोग सार्वजनिक और व्यापक रूपसे सम्भव नहीं है। किन्तु कुछ आश्रमोंमें विशेष शिक्षा देकर तैयार करनेके लिये इसका प्रयोग निश्चित रूपसे किया जाना चाहिए।

आचार्य कर्वेका महिला विश्वविद्यालय

आचार्य कर्वेने दीन विधवाओंकी करुण कथासे द्रवित होकर उनके लिये पूनेमें एक छोटा-सा विद्यालय, छात्रावास, प्रारम्भिक पाठशाला, माध्यमिक पाठशाला और शिक्षण-कला विद्यालय खोल दिया था। इस संस्थाकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर आचार्य कर्वेने यह निश्चय किया कि एक पाठ्यक्रमके द्वारा कन्याओंको ऐसी उच्च शिक्षा क्यों न दी जाय कि १८ वर्षकी अवस्थासे पहले ही वे गृहिणी और माताकी सब शिक्षा प्राप्त कर चुकें। इसी उद्देश्यसे सन् १९१६ ई०

में पूनेमें 'इण्डियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी' (भारतीय महिला विश्वविद्यालय) की स्थापना हुई और पिछले ३५ वर्षोंमें इस संस्थासे कई सहस्र छात्राओंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। आचार्य कर्वेकी इन संस्थाओंने मौन सामाजिक क्रान्ति भी की। उनकी संस्थाओंके कारण दक्षिणकी महिलाओंमें बड़ी जागर्ति भी हुई। इस विश्वविद्यालयके उद्देश्य ये हैं—

१. वर्तमान भारतीय भाषाओंके माध्यमसे स्त्रियोंको उच्चतर शिक्षा देना।
२. महिलाओंकी आवश्यकताके अनुकूल पाठ्य-क्रम बनाना और पूर्व विश्वविद्यालय-शिक्षाको नियमित करनेके लिये नई संस्थाएँ स्थापित करना, चलाना और उन्हें सम्बद्ध करना।
३. प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयोंके लिये अध्यापिकाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध करना।
४. नियमानुसार उपाधि, प्रमाण-पत्र, पद तथा अन्य प्रकारके सम्मान प्रदान करना।

इस समय संस्थाके अन्तर्गत १९ संस्थाएँ काम कर रही हैं।

वनस्थली विद्यापीठ

जयपुर राज्यमें कन्याओंकी शिक्षाके लिये 'वनस्थली विद्यापीठ' नामसे एक संस्था खुली है जिसमें सात वर्षसे ऊपरकी अविवाहिता कन्याएँ ली जाती हैं, यद्यपि ऊपरकी कक्षाओंमें विवाहिता कन्याएँ भी ली जा सकती हैं।

उद्देश्य तथा शिक्षण-क्रम

विद्यापीठका उद्देश्य स्त्रियोंको ऐसी शिक्षा देना है जिससे वे केवल सफल गृहिणी और माता ही नहीं, वरन् जागरूक और सफल नागरी भी बनें। इसी उद्देश्यसे भारतीय संस्कृति और विशुद्ध राष्ट्रीयताके आधारपर विद्यापीठने पंचमुखी शिक्षा-क्रमका निर्माण किया है जिसके पाँच अंग इस प्रकार हैं—

१. नैतिक शिक्षा

इसके द्वारा छात्राओंके चारित्र्य-निर्माणका प्रयत्न किया जाता है।

२. शारीरिक-शिक्षा

इसमें विभिन्न प्रकारके व्यायाम, तैरना, घुड़सवारी, साइकिल सवारी आदि सम्मिलित हैं। इसका उद्देश्य छात्राओंको साहसिनी, स्फूर्तिमती और स्वस्थ बनाना है।

३. गृहस्थ-शिक्षा

इसमें भोजन बनानेसे लेकर सीने, कसीदा करने और कातनेतक, घरके सब आवश्यक काम-काजका समावेश किया गया है; जिससे छात्राओंको घरके और हाथके कामोंमें रुचि उत्पन्न हो सके।

४. ललितकला-शिक्षा

इसमें चित्रकला और संगीतका समावेश किया गया है, जिससे छात्राओंके जीवनमें सुरुचि, सौंदर्य तथा माधुर्य उत्पन्न हो सके।

५. पुस्तकीय शिक्षा

इसमें उन सब विषयोंकी शिक्षा दी जाती है जो छात्राओंके बौद्धिक विकास और ज्ञान-संपादनमें सहायक सिद्ध हो सकें।

शिक्षा-क्रमका विभाजन

विद्यापीठका समूचा शिक्षाक्रम दो विभागोंमें बाँटा गया है—
१. संस्कृत विभाग तथा २ बाह्य-परीक्षा विभाग।

संस्कृत विभाग

इस विभागमें शिक्षाके पाँचों अंगोंके लिये विद्यापीठका अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम है और वह १ से ८ कक्षाओंमें बाँटा गया है।

बाह्य परीक्षा विभाग

जहाँतक पुस्तकीय शिक्षाका सम्बन्ध है, इस विभागमें वर्तमान हाइ स्कूल, इन्टरमीजिएट तथा बी० ए० की परीक्षाओंके लिये छात्राएँ तैयार की जाती हैं। शिक्षाके दूसरे चार अंगोंकी स्वतंत्र व्यवस्था विद्यापीठकी अपनी है।

उपर्युक्त परीक्षाओंके अतिरिक्त विद्यापीठमें जे० जे० स्कूल ऑफ् आर्ट्स, बम्बईकी ड्राइंग (चित्रकला) परीक्षा, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद सम्मेलन तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलनकी आयुर्वेदकी परीक्षाओंके लिये भी छात्राएँ तैयार की जाती हैं। भातखण्डे यूनिवर्सिटी, लखनऊकी संगीत-परीक्षाओंके लिये भी छात्राओंको तैयार करनेकी व्यवस्था है।

इस पाठ्य-क्रमके दोष

इस पाठ्य क्रममें दो बड़े दोष हैं—एक तो यह कि महिलाओंके शारीरिक व्यायाममें घुड़सवारी आदि ऐसे व्यायाम भी हैं जो पुरुषोंके लिये ही उपयुक्त हैं और जिनसे कन्याओंकी स्वाभाविक कोमलता नष्ट हो जाती है। दूसरा महादोष यह है कि यहाँ भी अन्य विश्वविद्यालयों तथा बोर्डोंकी परीक्षाओंके लिये छात्राओंको शिक्षा दी जाती है। यह एक प्रकारका ऐसा द्वैध है जिसका कोई समाधान और समर्थन नहीं किया जा सकता और जिससे अन्य उद्देश्य स्वत नष्ट हो जाते हैं क्योंकि परीक्षा ही वर्त्तमान प्रणालीका सबसे बड़ा पाप है। वह यदि बनी रहती है तो सुधार क्या हुआ ?

आर्य कन्या-पाठशाला, बड़ोदा (बड़ोदरा)

बड़ोदरेके आर्य-कन्या विद्यालयमें वहाँ की कन्याओंको जो सैनिक-शिक्षा दी जाती है उसका भी किसी प्रकारसे समर्थन नहीं किया जा सकता। महिलाओंकी शिक्षाके सम्बन्धमें शिक्षा-विशारदोंको स्वस्थ चित्तसे नीति निर्धारित करनी चाहिए और तदनुसार देश भरमें उसी उद्देश्यसे शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था करनी चाहिए। एक सनक लेकर विद्यालय खोल देना बड़ा घातक प्रयोग है।

पूना-सेवासदन

पूनेमें न्याय-मूर्ति महादेव गोविन्द रानडेकी धर्मपत्नी श्रीमती रमाबाईने प्रौढ़ महिलाओंको शिक्षित करनेके लिये सेवा सदनकी स्थापना

की थी जिसमें स्त्रियोंको लिखना-पढ़ना और गणित सिखानेके अतिरिक्त सीने-परोने और संगीतकी शिक्षा भी दी जाती थी। पीछे सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटीके सदस्य श्री देवधरके प्रयाससे इसमें एक अध्यापिका-विद्यालय और एक हाइ स्कूल भी खुल गया और अब यह संस्था दक्षिणमें महिला-शिक्षाकी प्रमुख संस्था मानी जाती है।

लेडी इरविन कालेज, दिल्ली

अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन (ऑल इण्डिया वीमेन्स कौन्फ्रेंस) के निर्णयानुसार दिल्लीमें लेडी इरविन कालेजकी स्थापना की गई। वहाँकी नियमावलीकी प्रस्तावनामें लिखा है—"भारतीय युवतियोंके लिये लेडी इरविन कालेज ही ऐसी प्रथम संस्था है जिसने भारतीय परिस्थितिके अनुकूल गार्हस्थ्य-शास्त्रकी वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी है।

उद्देश्य

इस विद्यालयका पाठ्यक्रम इस आधारपर बनाया गया कि वहाँ महिलाओंको ऐसी शिक्षा और सुविधा प्रदान की जाय कि वे—

अ—योग्य पत्नी, योग्य माता और समाजकी उपयोगी सदस्या बन सकें।

आ—कन्या-पाठशालाओंमें जाकर गार्हस्थ्य-शास्त्रकी योग्य अध्यापिका बना सकें।

शिक्षा-क्रम

इस विद्यालयके दो विभाग हैं—गृहविज्ञान और अध्यापन-शिक्षा। गृह-विज्ञानका शिक्षाक्रम दो वर्षका है जिसके आगे एक वर्षतक अध्यापन-कलाकी शिक्षा दी जाती है। किन्तु इस पिछली अध्यापन-कलाका शिक्षाक्रम ऐच्छिक है। इस विद्यालयमें १८०) प्रतिवर्ष तो शुल्क देना पड़ता है और छात्रावासका व्यय भी लगभग ७५) मासिक पड़ता है। हमारे दीन देशकी कन्याएँ अपने घर रहकर अपनी माताओंसे

जितना गृह-विज्ञान सीख लेती हैं उसके आंशिक तथा आडम्बरपूर्ण परिचय मात्रके लिये उसे यहाँ इतना व्यय करके भेजना भयंकर मूर्खता है। आश्चर्य और दुःख तो यह है कि यह विद्यालय चलाया गया है अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनकी प्रेरणासे।

गृह-विज्ञान

इस विद्यालयके गृह-विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा-क्रममें निम्नलिखित विषय सिखाए जाते हैं—

१. रसोईका काम—जिसमें चटनी, आचार, मुरब्बा, पनीर आदि बनाना तथा पश्चिमी और भारतीय सलाद बनाना भी है। इसमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ढंगके भोजनालयोंके कामकी शिक्षा दी जाती है।

२. भोजन-शास्त्रका ज्ञान।

३. गृहस्थीकी सँभाल, जिसमें हिसाब-किताब आदि भी है।

४ साधारण जीवाणु तथा कीटाणु शास्त्र जिसमें अनेक प्रकारके कीड़ों और जीवोंका वैज्ञानिक विवेचन और इतिहास पढ़ाया जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य, कपड़े धोना, रँगना तथा सिलाई-बुनाई-कढ़ाई आदि सब प्रकारका काम सिखाया जाता है और इन सबपर वैज्ञानिक पुट देनेके लिये कुछ भौतिक और रसायनशास्त्र भी सिखाया जाता है।

अध्यापन कला

अध्यापन-कलाके अन्तर्गत तो ये ही सब बातें हैं—

शिक्षाके सिद्धान्त, स्वास्थ्य-विज्ञान, अध्यापन-कला तथा सुईका काम।

विश्लेषण

इस पाठ्यक्रममें कुछ विषय अनावश्यक और अधिक भी रक्खे गए हैं। जब भारतीय परिस्थितिके अनुकूल शिक्षा देना इसका उद्देश्य है तो इसमें विदेशी भोजनालयकी प्रथाका शिक्षण क्यों किया जाता है।

समें ७—८. सौ रुपये के बिजलीके चूल्हे हैं जिनपर ये भारतकी भावी पत्नियाँ और माताएँ रोटी सेकना सीखती हैं । कपड़े धोनेके यन्त्र भी कम मूल्यवान् नहीं हैं । इसके अतिरिक्त कीटाणुओंके इतिहास और भौतिक तथा रसायन शास्त्रके अध्ययनका निरर्थक पचड़ा बढ़ाकर पाठ्य-क्रमको दुरूह करनेका अर्थ क्या है ? बड़े आश्चर्यकी बात है कि भारतकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थितिसे अत्यन्त प्रतिकूल शिक्षा देनेवाली यह संस्था भारतकी राजधानीमें पोषित की जा रही है और वह भी अखिल भारतीय महिला सम्मेलनकी ओरसे ।

ताल युक्त व्यायाम (यूरिदिमिक्स)

यों तो पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके लिये क्रमश ताण्डव और लास्य-की क्रियाएँ शरीरमें स्फूर्ति देने और शरीरको सुन्दर बनानेमें अत्यन्त योग देती हैं किन्तु विद्यालयके वातावरणको अधिक नियमित, संगीतमय और तालमय करनेके लिये एक नई प्रणाली चली है तालयुक्त व्यायाम की, जिसमें छात्रोंका एक दल ढोल और बाजे बजाता है और विद्यालयके सब छात्र सामूहिक रूपसे उसके साथ गाते और व्यायाम करते हैं । कभी-कभी ग्रामोफोन मशीनमें किसी गतका तवा (रेकार्ड) लगा दिया जाता है जिसकी ताल ध्वनिके साथ सब विद्यार्थी या तो पैर मिला-कर चलते हैं या आंगिक व्यायाम करते हैं । इस प्रकारके व्यायामसे संगीतका भी आनन्द चलता रहता है, शरीरकी चेष्टाएँ भी तालसे बँध जाती हैं और इस प्रकारका व्यायाम चलानेसे, सैन्य व्यायाम (ड्रिल)-से ऊबे हुए बालकोंकी अरुचि भी दूर हो सकती है । आजकल बच्चोंके विद्यालयोंमें लेज़िमके साथ इसका सफल प्रयोग हो रहा है । कन्याओंके विद्यालयोंमें अन्य व्यायामोंके बदले इसका प्रयोग निश्चित रूपसे अधिक लाभकर सिद्ध होगा ।

दारुल् उलूम, देवबन्द

आजसे ८९ वर्ष पहले इस्लामी विद्या, कौशल और आचार (इस्लामी उलूम, फ़नून और इस्लामी जिंदगी)के प्रसार, प्रचार, उद्धार

तथा अध्ययनके लिये देवबंद (ज़िला सहारनपुर)में दारुल् उलूम (विद्या-मन्दिर) खोला गया। इसमें अध्ययनकी पद्धति वही रही जो मुसल्मानी संस्थाओं (मदरसों)में पहलेसे चली आती रही। सर्वप्रथम सन् १८६६ में मदरसए अरबी (अरबी भाषाकी पाठशाला)के रूपमें यह प्रारम्भ हुआ जिसका बीजारोपण शेख अलउस्सलम मौलाना मोहम्मद क़ासिम साहबने किया। हज़रत शमशुल् उलूम आरिफ रब्बानी मौलाना मोहम्मद सर सैयद अहमद साहब गंगोहीने इसे पल्लवित किया और हज़रत शेख़उल हिन्द महमूदहसन साहब देवबंदीने इसकी अभ्युन्नति की। इस प्रकार यह सम्पूर्ण एशिया भरके इस्लामी समाजका सांस्कृतिक केन्द्र बन गया जिसमेंसे आजतक दूर-दूरके लगभग बाहर हज़ार मुसलमान छात्र, उच्च इस्लामी दार्शनिक और सांस्कृतिक शिक्षा पाकर निकल चुके हैं और इस्लामी धर्म और संस्कृतिके प्रचारमें योग दे चुके हैं या दे रहे हैं।

पब्लिक स्कूल या लोक विद्यालय

नये शिक्षा प्रयोगोंमें सबसे अधिक आश्चर्यजनक और विडम्बनापूर्ण वे विद्यालय हैं जो कहलाते तो हैं पब्लिक स्कूल, किन्तु जो हैं पूर्णतः अपब्लिक। देहरादूनका दून स्कूल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इसे विश्वभारतीका ठीक उल्टा समझना चाहिए। यह योरोपीय शैलीका विद्यालय भारतीय राजाओं तथा धनिकोंके आग्रहपर भारत सरकारने स्थापित किया था। इसका प्रबन्ध शुद्ध अँगरेज़ी है। इसमें ऑक्सफार्ड तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयकी परीक्षाओंके लिये शिक्षा दी जाती है और शारीरिक शिक्षा खेल-कूद, घुड़सवारी, तैराकी आदिपर अधिक ध्यान दिया जाता है। इन विद्यालयोंमें इतना अधिक व्यय पड़ता है कि केवल अत्यन्त धनी लोग ही अपने बच्चोंको यहाँ भेज सकते हैं। यहाँ सब बालक एक साथ रहते हैं और प्रत्येक गृह (छात्रावास) की देखरेख इंग्लैंडके समान गृहपति (हाउस मास्टर) करता है। इसमें सामिष और निरामिष भोजियोंकी अलग अलग व्यवस्था है। भारत जैसे देशके लिये यह विभेदकारी प्रणाली तत्काल बन्द कर देनी चाहिए।

काशीका ऋषिवैली ट्रस्ट

इधर दो-तीन वर्षोंसे थियोसॉफ़ीके प्रसिद्ध नेता कृष्णमूर्तिने काशीके ऋषि-वैली ट्रस्टकी ओरसे एक नई शिक्षा-योजना चलानेका संकल्प किया है जिसका उद्देश्य होगा—पूर्ण मानव (इण्टिग्रेटेड ह्यूमन वीइंग) बनाना। इस विद्यालयमें पुरुष और स्त्री साथ-साथ रहेंगे और पढ़ेंगे। उन्हें सब प्रकारके आचरणकी पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। वे अपने अनुभव तथा ज्ञानसे स्वयं अपना विकास करते चलेंगे। उनपर किसी प्रकारका अंकुश नहीं होगा, कोई नियम नहीं होगा। अध्यापक भी सब साथ ही रहेंगे और प्रत्येक अध्यापकके परिवार (पत्नी या पति और बच्चों) का भरण-पोषण विद्यालयकी ओरसे होगा। प्रत्येक बालकसे लगभग १००) मासिक लिया जायगा।

यह भयंकर असामाजिक योजना महँगी होनेके साथ-साथ निरंकुश भी है। इसमें पले हुए बालक पूर्ण मानवके बदले अत्यन्त अपूर्ण, असंयत, निरंकुश राक्षस बनकर निकलेंगे जो अपना विकास करनेके बदले अपना और समाज दोनोंका विनाश करेंगे। हमें विश्वास है कि यह योजना स्वयं अपनी समाधि बना लेगी, जनता तथा सरकार दोनों इसका विरोध करेंगे।

प्रौढ़ोंकी शिक्षा

भारतमें आज ७२% पुरुष और ९५% प्रौढ़ स्त्रियाँ अपढ़ हैं। इनकी शिक्षाके लिये भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें कुछ सामूहिक साक्षरता-आन्दोलनके रूपमें, कुछ रात्रि-पाठशालाओंके रूपमें, कुछ जर्मनीके फोर्टबिल्डुंग-शूलेन (कन्टिनुएशन स्कूल या धारागत विद्यालयों) के आधारपर कुछ ऐसी कक्षाएँ खोल दीं, जिनमें सन्ध्याको जाकर वे लोग सीख पढ़ सकें जिनकी पढ़ाई छूट गई है और जो दिनमें कहीं काम करते हैं। किन्तु भारतकी प्रादेशिक सरकारों, केन्द्रीय सरकार तथा शिक्षा-संस्थाओंने इसमें कोई रुचि नहीं दिखाई और इसीलिये यह आधे मनसे किया हुआ प्रौढ़ शिक्षाका कार्य असफल रहा। यह कार्य केन्द्रीय

सरकारको अपने हाथमें ले लेना चाहिए और श्रव्य दृश्य प्रणाली (ऑडियो विजुअल एजुकेशन मेथड) से चित्र, कथा, व्याख्यान, मेल, प्रदर्शनी आदिके द्वारा इसका विधान करना चाहिए। आन्दोलन और रात्रि पाठशालासे यह काम नहीं हो सकता।

विकलांगोंकी शिक्षा

यद्यपि सब प्रकारके विकलांगोंकी शिक्षाकी कोई अखिल भारतीय योजना तो नहीं बनी किन्तु दिल्ली, पटना, प्रयाग, काशी, बम्बई तथा मद्रासमें ब्रेल पद्धतिसे अन्धोंको शिक्षा दी जाती है। गूँगे-बहरोंके लिये भी कुछ विद्यालय खुले किन्तु सरकारने और जनताने उसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। हमारे देशमें छः लाख अन्धे, ढाई लाख गूँगे, तीन लाख बहरे और बारह लाख अन्य प्रकारसे विकलांग हैं। इन्हें शिक्षित करनेकी तत्काल योजना बनाना केन्द्रीय सरकारका अत्यावश्यक कर्तव्य है।

२९

स्वतन्त्र देशकी शिक्षाका स्वरूप क्या हो ?

सन् १८३५ में लार्ड 'मेकॉले'ने भारतीय शिक्षा पद्धतिके लिये जो सिद्धान्त स्थिर किए थे वे सभी, ब्रिटिश राज्यमें भली भाँति फलते फूलते चले आए। उस संकुचित शिक्षा सिद्धान्तके अनुसार भारतीय बालकोंको जो शिक्षा दी गई उसका परिणाम यह हुआ कि स्वल्प संख्यक शिक्षितों और देशकी विशाल अशिक्षित जनताके बीच भेदकी भयंकर खाई खुद गई यहाँतक कि वही व्यक्ति शिक्षित समझा जाने लगा जो योरोपीय आचार और विचारसे मंडित होकर केवल शरीरसे भारतीय हो। यद्यपि सन् १८५४में वुडके नीतिपत्रके अनुसार तीन विश्वविद्यालय, प्रत्येक जिलेमें हाई स्कूल, प्रान्तोंमें शिक्षक-शिक्षालय और जनता द्वारा संचालित विद्यालयोंको सरकार द्वारा सहायता देनेकी व्यवस्था की गई। यद्यपि सन् १८८२ में यह भी निश्चय किया गया कि सरकारको अधिक ध्यान प्रारम्भिक शिक्षापर देना चाहिए किन्तु उसका भी परिणाम कुछ न निकला। सन् १९१९ में कलकत्ता विश्वविद्या-कमीशनमें विश्व-विद्यालय तथा माध्यमिक शिक्षाका पारस्परिक सम्बन्ध दृढ़ बनानेके लिये तथा व्यावसायिक शिक्षाकी व्यवस्थाके लिये बहुत-कुछ कहा-सुना, सार्वजनिक परीक्षाओंकी दूषित पद्धतिकी भी निन्दा की और छात्रावासों तथा छात्रोंका जीवन अधिक व्यवस्थित और सुदृढ़ करनेके लिये भी सुझाव उपस्थित किए किन्तु उसका भी कोई विशेष फल न निकला। इसके पश्चात् साइमन मंडलकी शिक्षा-समितिने भी नागरिकताकी भावनाएँ पोषित करना, उचित प्रतिनिधि चुनना और सामाजिक नेतृत्वके लिये छात्रोंको तैयार करना शिक्षाका उद्देश्य निश्चित किया। उत्तर प्रदेशमें

सन् १९३४ म सर तेज बहादुर सप्रूकी अध्यक्षतामें शिक्षा पद्धतिमें सुधार करनेके लिये और शिक्षाको अधिक उपयोगी बनानके लिये सुझाव भी उपस्थित किए गए। महात्मा गाँधीने भी शिक्षाको स्वावलम्बी बनानेकी योजना उपस्थित की और उसके पश्चात् सार्जेन्ट शिक्षा-योजनामें भी अत्यन्त विशदताके साथ भारतीय शिक्षाके सब अंगोंपर विचार किया गया किन्तु हमने स्वराज्य प्राप्त करके पिछले समस्त सुझावों और विचारोंकी उपेक्षा करके चिरनिन्दित भयंकर परीक्षा पद्धति अब भी प्रचलित कर रक्खी है जिसने केवल शिक्षाका उद्देश्य ही नष्ट नहीं किया अपितु छात्राका जीवन और विद्यालयका ध्येय ही नष्ट कर डाला है। जिस बेकारीको दूर करनेके लिये पिछली अनेक विचारक समितियोंने व्यावहारिक सुझाव दिए वे सब भी खटाइम डाल दिए गए। उत्तर प्रदेशमें ही बेकारीको उदार प्रोत्साहन देनेवाले सहस्रों उच्चतर माध्यमिक विद्यालय खोल दिए गए, जिनसे उत्तीर्ण होनेपर क्लर्कीके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं और उसका भयंकर परीक्षा फल उस प्रान्तके शिक्षा विभागके लिये घोर लज्जा तथा कलङ्ककी बात है उसके अदूरदर्शितापूर्ण शिक्षा-विनियोगके कारण केवल हाइ स्कूलमें ६५००० छात्र अनुत्तीर्ण हुए और उस प्रदेशके ६५००० परिवारोंमें बिना विपत्तिके, शिक्षा विभाग द्वारा बहराई हुई विपत्तिके कारण अनायास शोक व्याप्त हुआ, निरपराध माता पिताओंको एक वर्षके व्ययका आर्थिक दण्ड भुगतना पड़ा और ६५००० बालकोंको मानसिक संघात, अपमान और लज्जाका अनुभव करना पड़ा। कहा तो सदा यह जाता है कि शिक्षासे प्रकाश, उत्साह और उल्लासकी सृष्टि होती है, वहाँ उल्टे शिक्षासे निरुत्साह, विषाद और दुःखकी सृष्टि हो रही है। इसका उत्तरदायित्व उन सब व्यक्तियोंपर है जो आज राज्यकी सत्तापर आरूढ़ होकर शिक्षा विभागकी बागडोर अपने हाथमें लिए हुए आँख मूँदकर गढ़ेकी ओर चले जा रहे हैं।

आजकी स्थिति

आज प्रत्येक व्यक्ति विद्यार्थियोंको उच्छृंखल, उद्दण्ड, अव्यवस्थित

और असंयम कहता है किन्तु ऐसा कहनेवाले व्यक्ति अपने हृदयपर हाथ रखकर कभी यह नहीं सोचते कि इस विपाक्त वातावरणके लिये उनका भी उत्तरदायित्व कम नहीं है। छोटी कक्षाओंसे लेकर बड़ी कक्षाओं-तक अनेक विषय अँधाधुन्ध बढ़ा दिए गए हैं, यहाँतक कि प्रथम और द्वितीय कक्षाओंमें भी कोमल मस्तिष्कवाले बालकोंको विज्ञान पढ़ाया जाता है, पाँचवीं कक्षाके छात्रको रोगीकी सेवा सिखाई जाती है और साधारण ज्ञानकी पुस्तकके द्वारा असाधारण ज्ञान इस प्रकार सिखाया जाता है कि यदि सब विषय समाप्त करके केवल साधारण ज्ञानकी पुस्तक ही पढ़ाई जाय तो वह सबकी कमी पूरी कर दे। शिक्षा विभागोंने अशुद्ध छपी हुई, असंयत लेखकों-द्वारा अत्यन्त दुरूह और अस्पष्ट भाषामें लिखी हुई पुस्तकोंका एक भोंडा अम्बार बालकोंके सिरपर लाद दिया है जिन्हें मोल लेना साधारण गृहस्थके लिये संभव नहीं और जिन्हें न लेनेसे छात्रोंको पीठिकापर खड़े होने, बेंतकी तीक्ष्णताका मर्म समझने और कानोंमें उष्णता-संचारकी पीड़ा सहन करनेको विवश होना पड़ता है। और भी ऐसी अगणित काली-गोरी बातें हैं जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है। आशय यह है कि आज हम ऐसे वृक्षको सजीव करने जा रहे हैं जिसमें आमूल दीमक लगे हुए हैं। अतः हमारे लिये अब यही एक मात्र मार्ग है कि शिक्षाके इस जर्जर वृक्ष और इसके सभी द्रोही मालियोंको क्षेत्रसे बाहर करके नये स्वस्थ वृक्षका रोपण और नये मालियोंकी नियुक्ति करें।

उद्देश्य स्पष्ट करो

अभीतक हमारे सम्मुख यही नहीं स्पष्ट हो पा रहा है कि हमारी शिक्षाका उद्देश्य क्या हो। साइमन कमीशनकी सहायक समितिने जो नागरिक-निर्माणका उद्देश्य प्रस्तुत किया था वह बहुत अस्पष्ट था और आज भी वह उतना ही अस्पष्ट बना हुआ है। जबतक हम लोग चरित्र-निर्माण, शिष्टता, सेवा और ज्ञानको आदर्श बनाकर तदनुरूप शिक्षाकी व्यवस्था नहीं करेंगे तबतक हम शिक्षाके वास्तविक स्वरूपकी प्रतिष्ठा

नहीं कर पायेंगे। अत, शिक्षाका लक्ष्य इस समयतक पूर्णत तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए।

पुस्तकें कम करो

हमारे सभी प्रमुख शिक्षा शास्त्री भली भाँति जानते हैं कि इस समय विश्व भरमें पाठ्य विषयोंके पारस्परिक अन्तर्योगका सिद्धान्त संसार भरमें मान्य हो चुका है। फ्रांस, जर्मनी, रूस और अमरिका आदि देशोंमें भाषाकी ऐसी पुस्तकें पढ़ाई जा रही हैं जिनमें विभिन्न मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाके विद्यार्थियोंकी रुचि, प्रवृत्ति, आकांक्षा और आवश्यकताके अनुकूल विभिन्न ज्ञान विज्ञानके विषयोंपर पाठ समाहित रहते हैं। जान ड्यूइने अमरिकाकी पाठ्य पुस्तकोंपर विशेष रूपसे बल देते हुए बतलाया है कि भाषाके माध्यमसे हम सम्पूर्ण ज्ञान और विज्ञान सीखते हैं, अत भाषाकी पुस्तकें ऐसी सरल और विनोदपूर्ण शैलीमें तथा उस अवस्थाके अनुकूल अन्य ज्ञातव्य तथा शिक्षणादि विषयोंके पाठोंसे पूर्ण लिखी जायँ जिससे छात्रको यह न ज्ञात हो कि हम पुस्तकके पाठमें भूगोल, इतिहास, गणित या विज्ञान पढ़ रहे हैं। इस प्रकारकी विभिन्न विषयोंके पाठोंसे युक्त पाठ्य पुस्तकोंका निर्माण करानेका भार ट्रेनिंग कॉलेजोंको दिया जाय, जो भाषा और विषयकी दृष्टिसे उचित सम्पादन करके ग्रन्थ दें। ये पुस्तकें सरकार स्वयं छापकर पुस्तक विक्रेताओंको कमीशन देकर बेचनेकी व्यवस्था करे और उन्हें तबतक न बदले जबतक कोई विशेष आवश्यकता न पड़ जाय, ऐसे केन्द्र खोले जहाँ प्रयोग की हुई पुरानी पोथियाँ मोल ली जा सकें और आधे मूल्यमें पुन बेची जा सकें। इससे अनधिकारी लेखकों और प्रकाशकोंकी कुटिल प्रतिद्वन्द्विता भी दूर हो जायगी, पाठ्य पुस्तकोंके निर्माणमें जो विशिष्ट लेखकोंकी शक्ति नष्ट हो रही है वह सद्ग्रन्थोंके निर्माणमें लग जायगी तथा ट्रेनिंग कालेजोंमें सिखाई जानेवाली पद्धतियों और व्यवहृत शिक्षण पद्धतियोंका समन्वय भी हो सकेगा। इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र जैसे विषय जो अनावश्यक रूपसे बहुत विस्तारके साथ पढ़ाए जाते हैं उन्हें भी

परस्पराश्रित करके उचित सीमामें बाँधा जा सकेगा। विश्वका इतिहास या गार्हस्थ्य शास्त्रमें विस्तृत शरीर-विज्ञान जैसे अनावश्यक विषय न पढ़ा कर शिक्षाको अधिक उपादेय और व्यावहारिक किया जा सकेगा। इन पाठ्य-पुस्तकोंमें इतने कम पाठ हों कि अध्यापकोंका अधिक समय पाठ्यक्रम पूरा करनेमें न लगकर छात्रोंके नैतिक और सामाजिक अभ्युन्नतिमें तथा क्रियात्मिका वृत्तिके सन्दीपनमें लगे। इससे अध्यापकोंको इतना समय भी मिलेगा कि वे अपना ज्ञान बढ़ा सकें। वास्तवमें पुस्तकें तो अध्यापकके ही पास होनी चाहिएँ। छात्रोंके पास तो गिनी-चुनी एक आध पुस्तक भाषा या गणितकी रहे तो रहे।

परीक्षा नष्ट करो

हम पीछे बता आए हैं कि सार्वजनिक परीक्षा इस युगकी सबसे बड़ी महामारी है। यदि हम इस पिशाचिनीको दूर कर सकें तो हमें सन्तोष होगा कि हम भारतके सबसे बड़े हितैषी हैं। हम जानते हैं कि परीक्षाओंको हटानेसे उन सहस्रों व्यक्तियोंकी आर्थिक हानि होगी जिन्हें परीक्षक बननेके कारण कुछ न कुछ मिलता रहता है किन्तु जो लोग परीक्षक बनाए जा रहे हैं और जैसे परीक्षा ली जाती है उसका ढंग और उसका रहस्य भी आपसे-हमसे छिपा नहीं है।

छात्रोंको सुविधा हो

छात्रोंकी कठिनाइयाँ सबसे अधिक हैं। आज धनहीन छात्रोंके लिये भोजन, वस्त्र, निवास और अध्ययन सबकी अव्यवस्था है जो किसी भी स्वतन्त्र देशके लिये अत्यन्त लज्जाकी बात है। विद्यालयोंकी निरर्थक व्यस्त दिनचर्याने और दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक तथा वार्षिक परीक्षाओंने उन्हें इतना व्यस्त कर रक्खा है कि शरीर, मन और आत्माके संस्कारके लिये उन्हें कोई समय नहीं मिलता। भोजनके पश्चात् एक घण्टा विश्राम करनेसे भोजनका ठीक रस बनता है और वह शरीरको लगता है, किन्तु दिनमें भोजन करके छात्र अपने स्कूलमें दौड़ा आता है और रातको भोजन करके वह स्कूलका काम करने बैठ

जाता है, फिर वह स्वस्थ हो कैसे सकता है ? और फिर भोजन करनेके पश्चात् विद्यालयके समयमें धूपमें ड्रिल करना स्वास्थ्य विज्ञानकी दृष्टिसे कितना उचित है और सप्ताहमें एक दिन तीन घण्टे बैठकर किसी विषयपर शास्त्रार्थ कर लेना कितना नागरिकता वर्द्धक है यह भी हमसे आपसे छिपा नहीं है किन्तु फिर भी हम वहीं लकीर पीटते जा रहे हैं। छात्रोंके स्वस्थ मनोविनोदके साधन विद्यालयमें न होनेसे छात्रोंको विवश होकर सिनेमा जैसे दूषित साधनोंका सहारा लेना पड़ता है जहाँके कुसंस्कारोंने उन्हें नैतिक पंगु बना दिया है। उनके लिये ऐसे अवसर ही नहीं खोजे जाते हैं जिनमें वे नैतिक शक्ति और प्रबन्ध शक्तिका उन्नयन कर सकें।

अध्यापकोंको स्वतन्त्रता दो

अध्यापकोंकी दशा और भी अधिक चिन्तनीय है। वे विद्यार्थियोंसे सदा यही आशा लगाए रहते हैं कि उन्हें ट्यूशन मिले जिससे उनकी जीविका ठीक चल सके। परिणामतः दशा यह हो रही है कि इस लोभके वश अध्यापक गण कक्षाओंमें पढ़ानेसे जी चुराते हैं जिससे ग्रस्त होकर अन्तमें विद्यार्थियों को उनसे ट्यूशन कराना ही पड़ता है। परन्तु जो विद्यार्थी दीन हैं और जिन्हें शुल्क ही देना भार है, उन्हें ज्ञानसे वंचित हो जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अध्यापकोंको प्रश्न पत्र बनाने डायरी लिखने, रजिस्टर भरने, कापियाँ जाँचने आदि बेढंगे कामोंने इतना व्यस्त और त्रस्त कर रक्खा है कि उन्हें छात्रोंके सामूहिक हितके लिये, उनपर अपने चरित्रका संस्कार डालनेके लिये तथा व्यापक ज्ञानका परिचय देनेके लिये समय नहीं मिलता। हमारा शिक्षा-विधान इतना भयावह सिद्ध हो रहा है कि वह अपनी अमयत तथा जटिल नियमावलीसे पग पगपर झूठ बोलने, धोखा देने आदि अपराधोंको प्रोत्साहन देता है और छात्रों तथा अध्यापकोंको मिथ्याचार ग्रहण करनेके लिये बाध्य करता है। अध्यापक या छात्र अपनी अवस्था तथा जन्मतिथि झूठी लिखते या लिखवाते हैं, झूठ बहाने देकर, झूठे डाक्टरी प्रमाणपत्र देकर

छुट्टी लेते हैं और इस प्रकारके न जाने कितने झूठे आचरणके लिये वे विवश हो गए हैं। इतना ही नहीं, अध्यापकोंको पढ़ानेमें भी स्वतन्त्रता नहीं है। यदि अध्यापकोंको पाठ्य विषयके अंशमात्र बता दिए जायँ, पुस्तक समाप्त करनेके बन्धनसे उन्हें मुक्त कर दिया जाय, उन्हें पर्याप्त वेतन दिया जाय तो वे निश्चिन्त होकर निस्सन्देह छात्रोंका कल्याण कर सकते हैं। विद्यालयोंका व्यय बचानेके लिये यहाँ भी शिष्याध्यापक व्यवस्था चलाई जा सकती है जिसमें उच्च कक्षाके मेधावी छात्रोंसे नीचेकी कक्षाओंको पढ़ानेका कार्य लिया जाय। इससे विद्यालयोंके नैतिक विकासमें भी बड़ी सहायता मिलेगी और अनेक आर्थिक तथा नैतिक समस्याएँ स्वयं सुलझ जायँगी। अध्यापकों और आचार्योंकी मानसिक शान्तिके शत्रु सार्वजनिक विद्यालयोंकी वे प्रबन्धकारिणी समितियाँ भी हैं जिनके अधिकांश सदस्य शिक्षा शास्त्रका क ख ग भी नहीं जानते। अतः आचार्य विद्यालय (हेडमास्टर स्कूल) या शिक्षकोंके सहकारी विद्यालय चलानेकी व्यवस्था की जाय जैसे चिपलूणकर योजनासे पूनेमें चलाए जा रहे हैं।

अव्यावहारिक शिक्षा

अभीतक विदेशी राज्यमें जिन उद्देश्योंसे जिस प्रकारकी शिक्षा दी जा रही थी, वे उद्देश्य और वह शिक्षा स्वाभाविक रूपसे समाप्त होनी ही चाहिए। किन्तु उसके स्थानपर जिन नये उद्देश्योंसे शिक्षा-विधान स्थापित किया जाय उनकी प्रकृति, सम्भावना और आवश्यकतापर विचार करना शिक्षा-शास्त्रियोंका प्रथम कर्तव्य है। अभीतक जो शिक्षा दी जा रही थी और कुछ अंशोंमें ज्योंकी त्यों चलाई भी जा रही है वह अव्यावहारिक और सूचनात्मिका है जिसके अनुसार शिक्षा पानेवाले छात्र एक विशेष साँचेमें ढलकर निकलते हैं और सरकारके यन्त्र बनकर कहीं न कहीं बैठा दिए जाते हैं। उन्हें जो ज्ञान दिया जाता है वह कुछ विशेष प्रकारकी सूचनाओंका भाण्डार-भर रहता है जिसे वे अपने मस्तिष्कमें सावधानीसे संग्रह करनेके लिये प्रवृत्त किए

जाते हैं और परीक्षामें जिसकी सफल उतरणी करना ही शिक्षाका चर साध्य मान लिया गया है।

इस शिक्षाका स्वरूप

यह शिक्षा केवल बुद्धि-सम्पन्न है, मन-शुद्धिके लिये, हृदयकी उदात्त सात्विक प्रवृत्तियोंको जगानेके लिये, शरीरके विभिन्न अंगोंको बुद्धिके सयोगसे रचनात्मिका वृत्तिकी ओर अग्रसर करनेके लिये और शरीरके नैसर्गिक स्वस्थ-विकासके लिये इसमें कहीं कोई अवकाश नहीं है; उनकी आवश्यकता भी नहीं समझी जाती और आवश्यकता समझनेपर भी शिक्षाका ढोल सिरपर रक्खे हुए व्यस्त राजनीतिक नेतागण उनकी उपेक्षा ही करना उचित समझते हैं। आज जिस प्रकारकी शिक्षा दी जा रही है वह भारतीय सामाजिक और कौटुम्बिक जीवनसे मेल नहीं खाती। जिस प्रकारके आचार-विचारका हम पोषण, समर्थन और प्रदर्शन कर रहे हैं उसका वास्तविक जीवनमें किसी प्रकारका सामञ्जस्य नहीं है। जिस प्रकारके कृत्रिम जीवनका हम उपदेश दे रहे हैं उसका हमारे संस्कारमें निर्वाह नहीं हो रहा है। मिथ्याडम्बर और बनावटी गौरवका ऐसा विभ्राट् खड़ा हो गया है कि इस शिक्षामें पलनेवाले लोग अपने हाथसे काम करना निन्द्य समझते हैं तथा अपने वर्ग और समाजके अन्य लोगोंको उपेक्षा और अनादरकी दृष्टिसे देखते हैं। इस प्रकारकी कृत्रिम और अव्यावहारिक शिक्षाका विरोध होना स्वतन्त्रताके युगमें आवश्यक प्रतिक्रिया है जिसका सूत्रपात विदेशी राज्यके रहते समयमें ही हो गया था किन्तु जिसे अभाग्यवश स्वतन्त्र भारतमें सींच-सींचकर पुनः पल्लवित किया जा रहा है।

शिक्षाका उद्देश्य

स्वतन्त्र देशमें जो भी नई शिक्षा प्रणाली प्रादुर्भूत हो या होनी चाहिए उसका सर्व-प्रथम उद्देश्य यही हो सकता है कि उसका सीधा सम्बन्ध हमारे जीवनसे हो; वह हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनको हमारी प्रकृति, संस्कार, भावना और आवश्यकताके

अनुरूप ढाल सके; वह हमें अपने समाजके साथ घुल मिलकर रहने और समाजको उन्नत बनानेके योग्य सिद्ध कर सके। इसी दृष्टिसे कुछ भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंने नवीन शिक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करते हुए यह स्थिर किया कि देशका प्रत्येक प्राणी शिक्षा पानेका अधिकारी हो, सम्पूर्ण शिक्षाका माध्यम मातृभाषा हो और शिक्षाके सभी विषय किसी शिल्पके आधारपर पढ़ाए जायँ। जहाँतक शिक्षा अनिवार्य होनेकी और मातृभाषाके द्वारा पढ़ानेकी बात है वहाँतक तो दो मत हो ही नहीं सकते, किन्तु केवल आवेगमें आकर बल पूर्वक किसी एक शिल्पको शिक्षाका आधार बनाना कहाँतक सम्भव, उचित और स्वाभाविक है यह एक अवश्य विचारणीय प्रश्न है। शरीरको आलसी होनेसे रोकना, शरीरके अंगोंको शिक्षाके लिये उन्हें सक्रिय बनाना और किसी भी छोटेसे छोटे कामके प्रति घृणा, निरादर या उपेक्षाकी वृत्तिको रोकना अत्यन्त उचित और साधु कार्य है। किन्तु साथ ही यह भी विचारणीय बात है कि एक ही काम रात दिन करते और देखते रहनेसे बालकका मन उसमें कैसे रम सकता है? उसके अंगोंको सक्रिय बनानेवाली चेष्टाएँ जितने अधिक प्रकारकी होंगी उतने अधिक प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ उसकी इन्द्रियाँ सीख सकेंगी क्योंकि जीवनमें कताई, तुनाई और धुनाईसे अधिक कठोर काम लोहारका या बढ़ईका है और चित्रकार या तारकी बुनाई करनेवालोंका काम अधिक कौशल तथा कलाका है। अतः एक शिल्पके आधारपर सधे अंग और सीखे हुए विषय उन अनेक प्रतिक्रियाओंसे वंचित रह जायँगे जो स्वाभाविक और स्वतन्त्र रूपसे विभिन्न विषयोंकी शिक्षामें सम्भव हो सकती हैं। शारीरिक परिश्रम न करनेके अभ्यासका दोष नगरमें रहनेवाले कुछ विशिष्ट परिवारके बालकोंमें ही आता है जिनके यहाँ नौकरोंकी सेना सदा सवाके लिये प्रस्तुत रहती है। अन्यथा शेष परिवारोंके बालकोंको तो घरका काम करना ही पड़ता है। इसलिये विद्यालयकी शिक्षामें अधिक शारीरिक परिश्रमपर बल न देकर छात्रोंकी रुचि और समर्थताके अनुसार

विभिन्न प्रकारकी शारीरिक, बौद्धिक तथा कलात्मक वृत्तियोंके शिक्षणके लिये स्थानीय परिस्थिति और आवश्यकताके अनुकूल अनेक विद्यालय खोले जायँ।

देशकी आवश्यकता

हमें अपनी सम्पूर्ण शिक्षा देशकी आवश्यकता दृष्टिमें रखकर व्यवस्थित करनी चाहिए। हमारा देश कृषि-प्रधान देश है। जिस क्रमसे आजका अन्न-संकट उपस्थित हो रहा है और भविष्यमें भी अनेक वर्षोंतक होनेकी सम्भावना है उसे देखते हुए भी यह आवश्यक है कि हमारे यहाँ गाँव या छोटे नगरोंके बालकोंको पूरा और समुचित ज्ञान दिया जाय और यह ज्ञान ऐसा हो जिससे उन्हें विश्वास हो जाय कि गाँवोंमें रहकर, खेती करके हम स्वयं भी सुखसे रह सकेंगे। हमारे देशको अभी व्यावसायिक बननेकी भी आवश्यकता है। इसके लिये स्थान-स्थानपर ऐसे शिल्प-विद्यालय खोल देने चाहिएँ जहाँ थोड़े ही समयमें अधिकसे अधिक कुशल शिल्पी तैयार किए जा सकें। स्वतन्त्र देशके लिये यह भी आवश्यक है कि विदेशी आक्रमणकारियोंसे, देशकी रक्षा करनेके लिये वह सैन्य-बल भी बढ़ा सके। इसलिये यह आवश्यक है कि हम ऐसी व्यापक सैनिक शिक्षाका क्रम बाँध सकें जिससे हमारे युवकोंमें उत्साह, स्फूर्ति, तेज और बल आवे, और साथ ही सैनिक नियमोंसे कार्य करनेका अभ्यास हो। हमारे देशमें शासन तथा अनेक प्रकारके कार्यालय चलानेके लिये चतुर, सद्वृत्त और कुशल संचालक भी चाहिएँ। अतः ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि कार्य-कुशल सत्य-निष्ठ कार्य कर्त्ता भी प्राप्त हो सकें। धारासभाओं तथा अन्य स्थानीय संस्थाओंमें भेजे जा सकनेवाले सच्चे, कर्मठ, स्पष्टभाषी, सच्चरित्र नेताओंकी भी हमें आवश्यकता है जो हमारे प्रतिनिधि बन सकें। ऐसे लोगोंके चयन और शिक्षणकी भी व्यवस्था आवश्यक है। इतनी शिक्षा-व्यवस्था हो चुकनेपर ही हम देशकी भूख मिटाकर समृद्धि बढ़ा सकेंगे और उसकी रक्षा कर सकेंगे।

शिक्षाका नैतिक पक्ष

किन्तु शिक्षाका एक नैतिक और सामाजिक पक्ष भी है। प्रत्येक व्यक्ति किसी कुटुम्ब और समाजका भी सदस्य होता है। उसे कुटुंब या समाजका सदस्य होनेके नाते अपने परम्परागत संस्कारोंकी शिक्षा भी प्राप्त करनी पड़ती है। उससे भी बढ़कर वह समाजका एक अंग है जिसमें पूर्ण रूपसे ठीक बैठनेके लिये उसे कुछ नैतिक आदर्शोंका पालन करना पड़ता है; उसे अपना और दूसरोंका ध्यान रखकर चलना पड़ता है; उसे अपना आचरण इस प्रकार बाँधना पड़ता है कि अपनेको असुविधामें डालकर भी वह दूसरोंका ध्यान रख सके। जबतक यह भावना न होगी तबतक कोई भी व्यक्ति समाजके सर्वथा योग्य नहीं समझा जायगा। अतः शिक्षा-योजनाकी इस भावनाके पल्लवनका भी विधान आवश्यक है।

व्यक्तिगत विकास

इस राष्ट्रीयता और सामाजिकताकी भावनाके साथ प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी आकांक्षा, योग्यता और समर्थता होती है। एक व्यक्ति उचित साधन न पानेके कारण, इच्छा रहते हुए भी, केवल साधनके अभावमें ग्रंथकार या वैज्ञानिक नहीं हो पाता। दूसरा व्यक्ति केवल अपने पिताकी प्रेरणापर साहित्य या विज्ञानकी शिक्षा पा लेता है किन्तु उसकी ओर प्रवृत्ति न होनेसे वह शिक्षा निरर्थक हो जाती है। स्वतन्त्र देशमें उच्च आकांक्षा, योग्यता और समर्थताके व्यक्तियोंको प्रोत्साहन देना भी राष्ट्रका धर्म है। किन्तु प्रारम्भमें किसीकी आकांक्षा, योग्यता या समर्थताका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये प्रारम्भिक शिक्षामें ऐसे विषय भी होने चाहिएँ जो व्यक्तिगत आकांक्षाको उद्बुद्ध करें, योग्यता प्रकट करनेका अवसर दें और सामर्थ्य दिखलानेकी प्रेरणा करें।

जीवनका विनोद-पक्ष

मानव-जीवनका एक और भी पक्ष है जो उसके व्यावहारिक जीवनसे सर्वथा भिन्न है। वह है उसका विनोद-पक्ष। कोई भी

मनुष्य सदा अपने व्यवसाय अथवा जीविका-कार्यमें दिन-रात न लगा रह सकता। वह मनोविनोदके लिये कोई दूसरा व्यापार चाह है। उचित निर्देश और संस्कार न होनेके कारण वह दुर्व्यसनोंका में प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि निम्न श्रेणीके लोग प्रायः मद्य जुआरी या मदकची हो जाते हैं। इन्हीं व्यसनोंका सभ्य रूप है तम्बाकू सेवन, चाय पीना, चित्र देखना आदि। मानव-जीवनका यह प जितना अधिक उपेक्षित है उतना ही अधिक महत्त्वका भी। यदि मनोविनोदके उचित साधनोंकी शिक्षा देकर उनकी और उनकी वृत्तिय प्रवृत्त कर दी जायँ तो निःसन्देह हमारे समाजके अनेक दोष दूर हो जायँ। संगीत चित्र-कला, मूर्ति-कला, अलंकरण, सजावटकी सामग्री निर्माण, फुलवारी लगाना, पशु पक्षियोंको शिक्षा देना, पहेली-बुझौवल, सैर-सपाटा आदि अनेक ऐसे विधान हैं जिनसे अपना तथा दूसरोंका भी मनोविनोद हो सकता है। शिक्षा-विधानमें ऐसे साधना तथा अवसरोंके योग्य विषयोंका समावेश आवश्यक है।

पाठ्यक्रममें क्या हो?

इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम अपनी किशोर अवस्थातकके पाठ्यक्रममें निम्नलिखित विषय अवश्य पढ़ाने चाहिएँ—

(१) कृषि—जिसके अन्तर्गत जीव और वनस्पति विज्ञान भी हो।

(२) व्यावसायिक शिल्प—जिनमें उन सभी शिल्पोंका समावेश है जो हमारे व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवनके लिये आवश्यक हैं, जैसे लोहार, बढ़ई, मोची, दर्जी, जुलाहा, धुनियाँ आदि।

(३) इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र।

(४) स्वास्थ्य-विज्ञान, नैतिक-शिक्षा, व्यायाम।

(५) चित्रकला, संगीत तथा अन्य ललित कलाएँ।

भाषा, गणित, गार्हस्थ्य शास्त्र और विज्ञान

किन्तु इन सब विज्ञानों और कलाओंकी शिक्षाका माध्यम तो भाषा ही होगी, अतः भाषाकी शिक्षा सर्वोपरि है। सभी प्रकारके विज्ञानों

तथा शिल्पोंमें, यहाँतक कि कलाओंमें भी लम्बाई, चौड़ाई, गहराई, मोटाई और ऊँचाईकी नाप-तोलका ब्यौरा रखना ही पड़ेगा। वह बिना गणितके नहीं हो सकता। इसलिये साधारण गणित भी आवश्यक ही है। कन्याओंके लिये घरके प्रबंधसे सम्बन्ध रखनेवाला पूरा ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि व्यापक रूपसे नारीका धर्म आदर्श माता और आदर्श पत्नी बनना है। हमारा आजका जीवन कुछ अधिक विज्ञान-भावित हो चला है। हमारे गाँवोंमें भी बिजलीके कुओंसे सिंचाई होने लगी है। चारा काटने, ईख पेरने, तेल निकालने, आटा पीसने आदिका कुल काम मशीनें करती हैं अतः स्वाभाविक रूपसे साधारण विज्ञानका परिचयात्मक ज्ञान भी सबको होना ही चाहिए।

पाठ्य विषयोंका अन्तर्योग

हमारी नवीन शिक्षा-प्रणालीका एक मौलिक सिद्धान्त है अंतर्योग अर्थात् विभिन्न पाठ्य-विषयोंका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध। सम्बन्धका सिद्धान्त कोई नया नहीं। हमारे देशके विभिन्न विषयोंके प्राचीन ग्रंथकर्ताओंने इस अन्तर्योगके सिद्धान्तके अनुसार अपने मूल विवेच्य विषयके साथ अनेक विषयोंके सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्धका पूर्ण समावेश किया था। किन्तु आजकल जिस प्रकारके अन्तर्योगकी धूम मची है वह कृत्रिम, अस्वाभाविक और अविकृत है। नवीन शिक्षा-प्रणालीके प्रवर्त्तकोंका यह कहना है कि सभी पाठ्यविषय किसी एक हस्त-कौशलके आश्रय और माध्यमसे पढ़ाए जायँ। किन्तु जब हम किसी शिल्पको शिक्षाका आधार बना लेते हैं तो उससे तीन प्रत्यक्ष दोष आ जाते हैं,—एक तो यह कि ऐसा आधार बनानेसे केवल वह शिल्प प्रत्यक्ष होता है, उसके साथका सब ज्ञान गौण हो जाता है, दूसरे, बलपूर्वक सब विषयोंका सम्बन्ध उससे जोड़नेसे मिथ्या-हठवादिताको प्रोत्साहन मिलता है; तीसरे, नित्य प्रत्येक विषयके साथ एक ही शिल्पकी बात सुनते-सुनते जी ऊब जाता है और, फिर धीरे धीरे उससे विरक्ति होने लगती है। इस विरक्तिसे उस विषयसे रुचि हट जाती है। रुचि हट जानेसे

उसमें एकाग्रता नहीं होती। एकाग्रता न होनेसे उस ज्ञानका आत्मीकरण नहीं होता और आत्मीकरण न होनेका अर्थ यह है कि उतना सब परिश्रम व्यर्थ जाता है। यह तो सत्य है कि विभिन्न विषयोंका अन्तर्योग होना ही चाहिए किन्तु यह अन्तर्योग यथा-प्रसंग, यथावश्यक और स्वाभाविक होना चाहिए। यदि हम कताई-बुनाईको शिक्षाका एक विषय ग्रहण कर लें तो उसमें स्वाभाविक रूपसे वनस्पति विज्ञान, कृषि और भूगोलका स्वाभाविक और आवश्यक अन्तर्योग किया जा सकता है। किन्तु केवल यह कहकर कि कताई अमुक युगमें हुई और अमुक युगके लोग ऐसा एसा वस्त्र पहनते थे, इतिहास नहीं पढ़ाया जा सकता और न तकलीके साथ 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' गा देनेसे उसका साहित्यके साथ अन्तर्योग हो सकता है। यह शिक्षाके क्षेत्रमें अस्वाभाविक बलात्कार है। इसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

सस्ती शिक्षा

इस प्रकार शिक्षाके विभिन्न क्षेत्रोंका पर्यवेक्षण करके अपनी स्थिति और आवश्यकताका ध्यान रखते हुए शिक्षाको इस ढंगसे व्यवस्थित करना चाहिए कि हम सस्तेमें, स्वाभाविक रूपसे, सबको स्वावलम्बी तथा सद्वृत्त बना सकें। शिक्षाकी महँगाई हमारी सबसे भारी समस्या है। इसे दूर करनेके तीन उपाय हैं—१ सब विद्यालयोंमें सब विषय न पढ़ा-पढ़ाकर एक एक विद्यालयमें एक-एक जीवन-वृत्तिके अनुकूल विषय पढ़ाए जायँ और सर्वसाधारण विषयोंके अध्यापकोंकी आदान प्रदान प्रणाली (एक्सचेंज या पार्ट टाइम प्रणाली)पर रक्खे जायँ जैसे एक इतिहासका शिक्षक बारी-बारीसे कई विद्यालयोंमें पढ़ावे और एक विषय नित्य न पढ़ाए जायँ। २. शिष्याध्यापक प्रणाली (मॉनिटोरियल सिस्टम) आरम्भ की जाय। ३. पुस्तकें कम कर दी जायँ। इतना प्रबन्ध करनेपर ही हम उचित अनिवार्य तथा सस्ती शिक्षाका सरलतासे वितरण कर सकेंगे।